गोभिलाचार्यप्रणीतं

गोभिलगृह्यसूत्रम्

पं. सत्यव्रतसामाश्रमिकृतसंस्कृतव्याख्योपेतम्

ठाकुर उदयनारायण सिंह



॥श्री॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
५७

श्रीगोभिलाचार्यप्रणीतं

गोभिलगृह्यसूत्रम्

(सामवेदस्य कौथुमिशाखाया गृह्यकर्मप्रतिपादकम्)

पं. सत्यव्रतसामाश्रमिकृतसंस्कृतव्याख्योपेतम्
तच्च
ठाकुर-उदयनारायणसिंहकृत-हिन्दीव्याख्यानसहितम्



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली ११०००७

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : ३९५६३९१

द्वितीय संस्करण १९९९

मूल्य- १२५-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA

57



GOBHILA GṚHYASŪTRAM

WITH

SANSKRIT COMMENTARY

OF

Pt. SATYAVRATA SAMASHRAMI

Translated By

Ṭhakur Udaya Narain Singh



CHOUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U.B., Bungalow Road, Jawaharnagar

DELHI - 110007

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007

ISBN 81-7084-081-3

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 333431

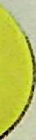
*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

प्रस्तावना ॥



विशेषतः गृह्यसूत्रों में स्मार्त्त धर्म्मों का विधान होने से-इस समय कर्मों में प्रवृत्ति कराने के लिये गृह्यसूत्रों का प्रकाशन करना आवश्यक है। श्रौत तथा गृह्यसूत्रोक्त पशु संज्ञपन विचार ॥ जिसदेश कालमें और जिस रीति से जो काम, जिसके लिये कर्त्तव्य कहा है, वह उसी, देश कालमें, उसी रीति से किया हुआ, उसी मनुष्य के लिये उचित धर्म है । अन्यथा किया हुआ, वही अधर्म हो जाता है । जैसे-रोना सर्वत्र बुरा समझा जाता है परन्तु वेद प्रमाणानुसार पिताके घरसे पति गृहको जाती हुयी कन्याका रोना अच्छा माना जाता है। गाली देना सर्वत्र बुरा काम है, पर विवाहमें स्त्रियां तथा पुरुष गालियों को शुभ मानते हैं। इसी के अनुसार यज्ञादि में पशुओं का आलम्भन भी पूर्वकाल में बुरा नहीं माना जाता था। परन्तु लोक रीतिसे अपना मांस बढ़ाने के लिये शास्त्र विरुद्ध पशु-हिंसा अत्यन्त बुरी मानी जाती थी। जब ऋषि आचार्य्यों ने ऐसा विकराल समय आते देखा तब पहिले से ही (लोकविक्रुष्ट मेवच) लिख गये कि जो धर्म जिस समय लोक में बुरा समझा जावे, उस समय वह कर्त्तव्य नहीं है, इसलिये "पश्वालम्भन" कर्म इस समय कर्त्तव्य नहीं है । इस कारण ऐसे विचार इन ग्रन्थोंमें देखकर किसी को उद्वेग वा संकोच नहीं करना चाहिये.। "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" के अनुसार था कि धर्म के सामने अन्धकार के तुल्य समूल नष्ट हो जाती थी—तब विवाह के समय कन्या के हृदय का स्पर्श करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था—पर अब ऐसा करने में सब ही को संकोच जान पड़ता है सो इसका कारण अन्तः करण का काम लोभादि से दब जाना है। वैसे पश्वालम्भन में अन्तः करणमें सब काम सब देशकालों में सब के लिये, जब कदापि हो ही नहीं सकते तो, इन्हीं ग्रन्थों के सब लेख हमारे अनुकूल कैसे हो जावेंगे ? जैसे, शीतकालमें खसखस की टट्टी व्यर्थ होने पर भी फिर गर्मी आने पर स्वयं सार्थक हो जाती है, वा जैसे गर्मी के दिनों में वा गर्मदेश में शीतके वस्त्र बोझमात्र व्यर्थ प्रतीत होने पर भी फिर शीत का देश वा काल आने पर सार्थक उपकारी हो जाते हैं तथा जैसे पंसारी की दूकान में रक्खाहुआ विष कभी किसी अधिकारी के लिये अमृतवत् उपकारी हो जाता है, इसलिये उससे द्वेष घृणा वा अरुचि करनेवाले की भूल है, वैसे ही इन ग्रन्थोंके पशु संज्ञापनादि विषयों से द्वेष घृणा कुछ नहीं करे । इस समय तो यज्ञमें पशुहिंसा निषिध ही है ।



गोभिलगृह्यसूत्र की विषय सूची।





सामवेदीयम् ।

अथ गोभिल-गृह्यसूत्रम् ।



अथातो गृह्याकर्म्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

'अथ' ग्रन्थारम्भद्योतकोऽयं निपातः । 'अतः' तदानीन्तनाचार्याणां वचोभङ्गीप्रयुक्तमिदम् । गृह्याकर्म्माणि' गृहाय हितो गृह्यः, योगरूढ्या अग्निरिति बुध्यते; वक्ष्यत्यनुपदमेव 'स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति (२१ सू०)' इति तत्र कर्त्तव्यानि 'कर्म्माणि' नित्याग्निहोत्रहोमादीनि, तदङ्गभूतान्यग्न्याधानादीनि च 'उपदेक्ष्यामः' तत्तदितिकर्त्तव्यतां बोधयिष्यामः । गृह्येतिदीर्घश्छान्दसः ॥ १ ॥

अथ तत्र सर्वकर्मसाधारणविधीनाह—

भाषा—इस के अनन्तर "गृह्य" अग्नि में कर्त्तव्य नित्य अग्निहोत्र आदिक और उसके उपयोगी "अग्न्याधान" प्रभृति कर्म्मों का उपदेश करेंगे ॥ १ ॥

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम् ॥ २ ॥

'यज्ञोपवीतिना' किञ्च 'आचान्तोदकेन' उदकाचमनं कृतवतैव पुरुषेण 'कृत्यम्' कार्य्यम्, वक्ष्यमाणकार्य्यजातमिति ॥ २ ॥

भाषा—आगे कहे जाने वाले कर्म्मों को यज्ञोपवीत धारण कर और आचमन करके करना चाहिये ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादह्नः कालं विद्यात् ३

'उदगयने' उत्तरायणे 'पूर्व्वपक्षे' शुक्लपक्षे' पुण्येऽहनि' मेघाच्छन्नादिदोषशून्यदिने 'अह्नः' दिवसस्य 'आवर्त्तनात्' परिवर्त्तनात् 'प्राक्' पूर्वं पूर्वाह्णमेव कालम्' समयं 'विद्यात्' जानीयात्, वक्ष्यमाणकर्म्मणां सर्वेषामेवेति ॥ ३ ॥

भाषा—जहां २ (इस ग्रन्थ में) समय की कोई व्यवस्था नहीं कियी गई हो कि 'अमुक समय अमुक कार्य्य करे ऐसे स्थानों में सब कार्य्य उत्तरायण शुक्लपक्ष, निर्दोष दिन में दोपहर के पहिले करे ॥ ३ ॥

यथादेशञ्च ॥ ४ ॥

यथादेशमपि कालं विद्यात् । यत्र यत्र च विशेषतः कालमादेक्ष्यामस्तत्रतत्र स स एव काल आदरणीयो न तु सामान्यतः उक्त उदगयनादिकइति ॥ ४ ॥

भाषा—जहां २ जिस २ कालादिक की व्यवस्था करेंगे, वहां २ वही २ काल माननीय होगा, सामान्यतः ३रा सूत्रोक्त काल नहीं ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वाहार्य्यवन्ति ॥ ५ ॥

'सर्वाणि' गृह्यकर्माणि आहार्य्यवन्ति एवं' आहरणीयानि कुशाद्युपकरणानि तद्विशिष्टान्येवेति ॥ ५ ॥

भाषा—सब ही गृह्य कर्म्मों में कुशा प्रभृति अनेक "उपकरण" (सामग्री) आवश्यक होते हैं ॥ ५ ॥

अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ॥ ६ ॥

'अपवर्गे' कर्म्मसमाप्तौ 'अभिरूपभोजनम्' अभिरूपः शास्त्रबोधिततया यथोपयुक्तः; तस्य तयोः तेषां वा भोजनं 'यथाशक्ति' स्वकीयाद्यनुगतं कार्य्यमिति ॥ ६ ॥ इति सर्वकर्मसाधारणविषयः ।

भाषा—सब ही कर्म्मों की समाप्ति में यथाशक्ति यथाशास्त्र उपयुक्त एक, दो या अधिक व्यक्ति को भोजन करावे ॥६॥ अथाग्न्याधानविधीनाह—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्याᳪसमिधमभ्याधास्यन् ॥ ७ ॥

उक्तं 'गृह्याकर्माणि' इति, तत्र कोऽसौ गृह्योऽग्निः ? प्रथमन्तावत् सएव उपदिश्यते 'ब्रह्मचारी' इत्यारभ्य 'गृह्योऽग्निर्भवति' इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण । 'ब्रह्मचारी', 'वेदम् अधीत्य' गुरुकुले स्थित्वा वेदाध्ययनं समाप्य 'अन्त्यां' ब्रह्मचर्यसमापिकां 'समिधमाधास्यन्' समिधमाधातुं प्रवृत्तः "अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)" इत्यनेन सम्बन्धः । प्रतिदिनं यथाऽऽचार्य्याग्नावेव समिध-

माधत्ते तदानीं न तथा आदधीत अपितु अपआहरणादिपूर्वकं अग्निप्रणयनं कृत्वैव तत्र स्वकीयेऽग्नौ तामन्त्यां समिधमादधीतेति ॥ ७ ॥

भाषा—ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रह कर) वेदाध्ययन के अन्त में शेष "समित्, (होमीय काष्ट) हवन करने में प्रवृत्त होकर"॥ ७ ॥

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मचर्यसमापिकान्त्यसमिदाधानकालेऽग्निग्रहणं न कृतं भवेत्' तदा पूर्वपूर्वदिनवत् गुरोरग्नावेव ता मन्त्यां समिधमादधीत । पुनः कोऽग्निग्रहणकालः ? इत्याह–'वा' अथवा 'जायायाः' 'पाणिं' जिघृक्षन्' ग्रहीतुमिच्छन, पाणिग्रहणात् पूर्वमेव 'अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)' इति ॥ ८ ॥

भाषा—या विवाह के लिये तय्यार होकर ॥ ८ ॥

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देश ँ समं वा परिसमूह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीश्च संँहतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

तदग्निप्रणयनाय कीदृशः स्थानसंस्कारइष्टः ? इत्युच्यते—'अनुगुप्ताः' विण्मूत्रप्रक्षेपतैलाभ्यङ्गादिवारणेन सुरक्षिताः 'अपः' उदकानि आहृत्य' 'प्रागुदक्प्रवणं' प्राक् उदक् वा क्रमनिम्नं यस्य ईदृशं, 'समं' समतलं 'वा' 'देशं' स्थानं तैरुदकैः 'परिसमूह्य' 'मध्यत' ततस्थानस्यान्तरे 'प्राचीं' प्रागग्रां, 'च' अपिच 'पश्चात्' तस्यैव पाददेशे 'उदीचीं' उदगग्रां 'संलग्नां' प्राचीरेखया संहता मपरां, 'लेखां' रेखां मध्यस्थले 'तिस्रः प्राचीः' एव अपराः रेखाश्च 'उल्लिख्य' तत् स्थानम् 'अभ्युक्षेत्' कुशाद्यग्रजलविन्दुभिः सिञ्चेत् । तदेतत् स्थानं "स्थण्डिल" मुच्यते ॥ ९ ॥

भाषा—जो तालावादिक जल, मैला फेके जाने, या मूत्र त्याग, या तैलाभ्यङ्गन, या सेवार आदि द्वारा दूषित न हो, किन्तु राज आज्ञा आदि शासन में विशेष सावधानी से रक्षित हो, ऐसे जलाशय से दोष शून्य जल लाकर उससे स्थान को लीपे । यह स्थान पूर्व या उतर दिशा में क्रम-निम्न समतल (बराबर) हो । इस लीपे हुए स्थान के वीच में पूर्वाग्र एक

रेखा अङ्कित करे और उसी के नीचे एक रेखा उत्तराग्र करके उसमें मिलावे, मध्य में और भी तीन रेखायें खींचे, पीछे उक्त लाये हुए जलको उस पर छिड़क देवे ऐसी जगह को "स्थण्डिल" कहते हैं ॥ ९ ॥

लक्षणावृदेषा सर्वत्र ॥ १० ॥

'एषा' अपआहरणादिका क्रिया 'लक्षणावृत्' उच्यते; 'सर्वत्र' एव अग्निप्रणयने व्यवहर्त्तव्येति ॥ १० ॥

भाषा—इस क्रिया का नाम "लक्षणावृत्" है। यह अग्निप्रणयन मात्र में सब जगह व्यवहार के योग्य है ॥ १० ॥

भूर्भुवःस्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

'भूर्भुवःस्व' इति मन्त्रेण 'अभिमुखं' यथास्यात् तथा कृत्वा 'अग्निं' प्रणयन्ति'। लिङर्थे लेट् (पाणिनीये ३।४।७)'-इतिलेटि, रूपम्, प्रणयेयुः। सर्वकर्मसु सर्वैः कर्मिभिरेवैव मग्निप्रणयनं कार्यमिति सामान्यविधित्वख्यापनायैव बहुवचनम्, सर्वे प्रणयेयुरिति ॥ ११ ॥

गृहस्वामी पितादिर्जीवितइति ब्रह्मचर्यावसानसमये पाणिग्रहणकालेऽप्यग्निग्रहणं न भवेच्चेत्:—गृहस्वामिनि मृते, यदैव गृहस्वामी म्रियेत तदैव अग्निग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह--

भाषा—उसके बाद उस अभ्युक्षित स्थान में "भूर्भुवः स्वः"—इस मंत्र का पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि स्थापन करे ॥ ११ ॥

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ॥ १२ ॥

'वा' अथवा 'गृहपतौ' पित्रादौ 'प्रेते' मृते तदैव परमेष्ठीकरणम्' कृतच्विप्रत्ययस्यैतद्रूपम्, क्रियाविशेषणम्; परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथा स्यात्तथा 'अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)' इति। परमेष्ठिकरणमिति ह्रस्वेकारयुक्तपाठस्तु क्वापि पुस्तकेऽनुपलब्धत्वान्न युक्तः ॥ १२ ॥

भाषा—यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह समय तक पिता आदि घर के मालिक जीते हों, तो ब्रह्मचारी को अग्नि ग्रहण कब करना चाहिये

इस पर कहते हैं कि घर के मालिक के मरने ही पर वह अग्नि ग्रहण करे ॥ १२ ॥ अग्निग्रहणस्य सामान्यतः कालत्रयमुक्तम्, तत्रैव विशेषमाह--

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ॥ १३ ॥

'तथा' अग्न्याधाने यथा अन्त्यसमिदाधानादिः कालोऽपेक्षितस्तद्वदिति। तिथिनक्षत्रपर्वणां त्रयाणामेवैषां शुभानां समवाये-(उत्तरेण सम्बन्धः) ॥ १३ ॥

तादृशसमवायः शीघ्रो न घटेत चेदाह—

भाषा--अन्त्य समिदाधान के लिये जिस प्रकार काल अपेक्षित होता है उसी प्रकार अग्नि स्थापन में भी तिथि, नक्षत्र, पर्व का एकत्र होना आवश्यक है ॥ १३ ॥

दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीत ॥ १४ ॥

'वा' अथवा 'दर्शे' अमावास्यायां, 'वा' अथवा 'पौर्णमासे' पौर्णमास्याम्, 'अग्निसमाधानम्' अग्नेः सम्यक् आधानं धारणं पोषणञ्च 'कुर्वीत' ॥ १४ ॥

अग्निश्च सः कुतो ग्राह्य ? इति विधत्ते--

भाषा—तिथि, नक्षत्र, पर्व इनके यदि एकत्र मिलने में विलम्ब जान पड़े तो किसी अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को अग्नि ग्रहण करे ॥ १४ ॥

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

'वैश्यकुलाद्वा' वैश्यजातिगृहस्थगृहात्, अथवा 'अम्बरीषाद्वा' भ्राष्ट्राद्वा 'अग्निम्' आहृत्य' 'अभ्यादध्यात्' अभ्याधानं ग्रहणं कुर्वीतेति ॥ १५ ॥

भाषा—वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से, या भ्राष्ट्र (भारभुजा) से अग्नि लाकर स्थापन करे ॥ १५ ॥

अपिवा बहुयाजिनएवागाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

'अपिवा' अथवा ब्राह्मणस्य वा' 'राजन्यस्य वा' 'वैश्यस्य वा' 'बहुयाजिनः एव' 'आगारात् अग्नि माहृत्येत्यादि पूर्वेण सम्बन्धः । बहुयाजिनोऽग्न्याहरणं विधेयम्, स च बहुयाजी, त्रयाणामन्यतमो यः कश्चन भवेन्नामेति । अत्र वैश्यस्यानुल्लेखे ब्राह्मणक्षत्रिययोरन्यतरबहुयाजिनोग्निः ग्रहणीयः स्यात् न तु वैश्यस्य

बहुयाजिनः; पूर्वत्रानुक्ते तु बहुयाजिनं एव वैश्यस्य स्यात्, तदतिरिक्तस्यापि वेश्मनोऽग्निग्रहणमिष्टं तत्र भवेदित्युभयत्रैव वैश्यस्योल्लेखः ॥ १६ ॥

भाषा-या बहुयाजी के घर से अग्नि लाकर स्थापित करे। उक्त बहुयाजी चाहे ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय, या वैश्य, इसमें कोई हानि नहीं ॥ १६ ॥

अपिवाऽन्यम्मथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

'अपिवा' अथवा 'मथित्वा' अरणिद्वयमन्थनं प्रकृत्यैव 'अभ्यादध्यात्' 'अन्यम्' अपरं नूतनम् अग्निमिति ॥ १७ ॥

भाषा-या 'अरणि' मथकर दूसरा नवीन अग्नि ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवा नर्द्धुको भवतीति ॥ १८ ॥ यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ १९ ॥

'अनर्द्धकः' ऋद्धिशून्यः पुण्यः तु एव 'पुण्यमात्रजनकएव भवति, अयमारणेयोऽग्निरितिशेषः। 'इति' अतो हेतोः 'यथा कामयेत तथा कुर्यात्' स यदि आमुष्मिकफल मृद्ध्यादिकं कामयेत वैश्यकुलादेरग्निं गृह्णीयात्' यदि तु तत्र न प्रवृत्तिः परंपुण्यमात्रं कामयेत तर्हि अरणिं निर्मथ्यैव गृह्णीयादिति ॥ १८–१९ ॥

भाषा—इस 'अरणि' से नवोत्पन्न अग्नि में वक्ष्यमाण अनुष्ठानों के करने पर पुण्य तो होता है परन्तु सम्पत्ति नहीं होती इसलिये जैसी कामना हो वैसा करे १५-१७ (सू० पक्षों में से कोई) ॥ १९ ॥

स यदेवान्त्या ँ समिधमभ्यादधाति जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥ २० ॥

'सः' पुरुषः 'यत् एव' यस्मिन्नेवाग्नौ 'अन्त्यां समिधम् आदधाति' 'वा' अथवा 'जायायाः पाणिं जिघृक्षन् जुहोति' लाजादिकान्, 'तम्' अग्निम् 'अभिसंयच्छेत्' यत्नेन रक्षेत् ॥ २० ॥

भाषा—इस प्रकार अग्नि आहरण पूर्वक जिस में शेष "समित्" की आहुति देवे, या विवाह कार्य्य के लाजा, होम आदि जिस में सम्पन्न करे उस अग्नि को बड़े यत्न से रक्खे ॥ २० ॥

स एवास्यगृह्योग्निर्भवति ॥ २१ ॥

'सः एव अग्निः' 'अस्य' ग्रहीतुः 'गृह्यः' गृह्याय हितः गृहकर्मोपयोगी अतएव गृह्यः इत्येतन्नाम्ना प्रसिद्धो भवति ॥ २१ ॥

भाषा—यही उसका 'गृह्य' अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत दिनों तक अपने सब गृह्य कार्य्य सम्पन्न करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

च' अपिच, 'तेन एव' अन्त्यसमिदाधानेन लाजादिहोमेन वा एव 'प्रातराहुतिः' हुता' हुतैवेति सिद्धा 'भवति'; तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्यतइति भावः । 'इति' अग्न्याधानप्रकरणसमाप्तिसूचकोऽयमितिशब्दः ॥ २२ ॥ अथ नित्यहोमकालादिः—

भाषा—औरय ही 'अन्त्याहुति' या 'लाजाहुति, ही उसकी प्रातः कालिक आहुति सिद्ध होगी, उस दिन दूसरी प्रातःकालिक आहुति आवश्यक नहीं ॥२॥

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥ २३ ॥

तद्दिनस्य प्रातराहुतिस्तेनैव सिद्धा परन्तु तद्दिने एव सायमाहुति रुपदेष्टव्यै रिति 'सायमाहुत्युपक्रमे एव' वदामि—'अतऊर्द्ध्वं अग्न्याधानोपदेशात् परं 'गृह्येऽग्नौ' तस्मिन्, 'होमो विधीयते' सायं प्रातश्च होमप्रकार उपदिश्यत इति ॥२३॥

भाषा—उस दिन की प्रातः कालिक आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी उस दिन भी सायं आहुति की विधि उपदेष्टव्य है; इसलिये इसके पश्चात् सामान्यतः सब दिन के लिये हो इस गृह्य अग्नि में सायं और प्रात.काल का होम कहा जाता है ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायंप्रातरनुगुप्ता अपश्चा हरेत् परिचरणीयाः ॥ २४ ॥ अपि वा सायम् ॥ २५ ॥ अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥ पुरास्त-

मयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ॥२७॥ पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयात् ॥ २८ ॥ १ ॥

बोधसौकर्याय प्रथमन्तावत् सप्तविंशाष्टविंशसूत्रयोर्व्याख्यानं प्रकृत्यैव चतुर्विंशादीनि सूत्राणि व्याख्यायन्ते—

'अस्तमयात् पुरा' यावत् सूर्यास्तो न भवति तावदेव 'अग्निं' 'प्रादुष्कृत्य' सन्दीप्य, 'अस्तमिते' सूर्ये 'सायमाहुतिं जुहुयात्'-इत्युक्तः सायमाहुतिकालमात्रः (२७) 'उदयात् पुरा' यावत् सूर्यो नोदेति तावदेव प्रादुष्कृत्य' अग्निम् उदिते, सूर्ये 'अनुदिते' उदयसमये वा 'प्रातराहुतिं जुहुयात्,—इत्युक्तः प्रातराहुतिकालमात्रः (२८)। 'सायं' 'प्रातः' च द्विवारमेव 'प्रादुष्करणवेलायाः पुरा' अग्निसन्दीपनकालात् प्रागेव काले 'अनुगुप्ताः, सुरक्षिता निर्मलाः 'परिचरणीयाः आचमनादिपरिचर्योपयुक्ताः 'अपः' उदकानि 'आहरेत्' (२४)। 'अपिवा' अथवा 'सायम्' प्रतिदिन मेकवारं, सायङ्काले अग्निसन्दीपनकालात् पूर्व मेव अप आहरेत्' तेनैव प्रातश्चाचमनादिकाः क्रियाः कर्त्तव्याः'; न तु पुनःप्रातराहरेदिति (२५) 'अपिवा' अथवा एकदैव सायं प्रातर्वा अग्निसन्दीपनात् प्राक्काले अनुगुप्ता अप आहृत्य कुम्भे मणिके वा स्थापयेत्, प्रतिदिनं ततएव 'कुम्भाद्वा' 'मणिकाद्वा' ताः सायं प्रातश्च 'गृह्णीयात्' ॥ २६ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रीय-प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डस्य व्याख्यानम् ॥१,१॥

भाषा—सायंकाल में-सूर्य्यास्त होने के पहिले ही उसी रक्षित अग्नि को खूब जलाकर सूर्य्यास्त होने पर उसमें आहुति प्रदान करे ॥ २७ ॥ प्रातः काल में-सूर्य्योदय के पहिले उसी रक्षित अग्नि को सन्दीपित कर सूर्य्योदय के पीछे या उदय हो रहा हो ऐसे समय उसमें आहुति प्रदान करे ॥ २८ ॥ सायं और प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित काल के पहिले आचमनादि के उपयुक्त सुरक्षित जल लावे ॥ २४ ॥ या सायंकाल में

एकवार इस जल को लाने ही से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ २५ ॥ या एक दिन सायंकाल में, या प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जलको लाकर कलसे या मणिके (पानी रखने का बड़ा बर्त्तन) में रख देना चाहिये, पीछे प्रतिसायं और प्रातः समय आवश्यकतानुसार उससे जल लिया करे (२६) * २४–२८ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथमखण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥११॥

अथ उपवीतविधिः—

यज्ञोपवीतंकुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

पूर्वमुक्तं 'यज्ञोपवीतिना कृत्यम्' इति, इदानीं तद्यज्ञोपवीतमेवोपदिश्यते—

'सूत्रं' 'वा' अथवा 'वस्त्रं' 'अपिवा' अथवा 'कुशरज्जुमेव' यदा यत्र यत् सुलभं, तदा तत्र तदेव 'यज्ञोपवीतं', 'कुरुते', लेटोरूपमिदम्, कुर्वीतेत्यर्थः ॥ १ ॥

भाषा—सूत, या वस्त्र, या कुशरज्जु, जिस समय जो आसानी से मिल सके, उस समय उसी के यज्ञोपवीत से काम करना चाहिये ॥ १ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥२॥

तत्र 'दक्षिणं बाहुम्' 'उद्धृत्य' उत्क्षिप्य, 'शिरः' 'अवधाय' वेष्टयित्वा 'सव्येंऽसे' वामस्कन्धोपरि 'प्रतिष्ठापयति', तत्र 'दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं', दक्षिणकक्षान्तलम्बमानम् 'भवति' भवेत् । 'एवम्', प्रकारेण सूत्राद्यन्यतमस्य धारणेन 'यज्ञोपवीती', भवति । प्रसङ्गात् प्राचीनावीतिनोऽपि लक्षणमुच्यते—

---

* सुगमता से समझने के लिये पहिले २७ और २८ सूत्र का अनुवाद करके इसके बाद २४, २५, २६, सूत्रों का अनुवाद किया गया है ।

भाषा—उस (जनेऊ) को दाहिने कांधे पर रखकर, शिर में लपेट कर और वामस्कंध से दक्षिण कक्ष (बगल) के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार से जनेऊ पहनने वाले को "यज्ञोपवीती" कहते हैं ॥ २ ॥

सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥३॥

'सव्यं', वामम् । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ३ ॥

भाषा—इसी प्रकार बायें कांधे के ऊपर जनेऊ को रख कर, शिर में लपेट कर पहना और दाहिने कांधे से वामे कक्षके नीचे तक लटकले पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार जनेऊ पहनने वाले को "प्राचीनावीती" कहते हैं ॥ ३ ॥

पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

'पितृयज्ञे' श्राद्धादौ 'तु' 'प्राचीनावीती एव' 'भवति' भवेत् । एवञ्च देवपितृकार्य्याभ्यामन्यत्र निवीत्येव तिष्ठेदिति सुतरां लभ्यते ॥ ४ ॥ अथ आचमनविधिरुपस्पर्शनविधिर्वा—

भाषा—केवल पितृयज्ञ में "प्राचीनावीती" होना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि देवकार्य एवं पितृकार्य को छोड़ कर अन्य समय में "निवीती" होना चाहिये ॥ ४ ॥

उदङ्ङग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेद् द्विः परिमृजीत ॥ ५ ॥ पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ॥ ६ ॥ इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥ अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥ यद्यन्मीमाᳫस्यं स्यात्तत्तदद्भिः सᳫस्पृशेत् ॥ ९ ॥

उक्तञ्च 'आचान्तोदकेनैव कृत्यम्'–इति, इदानीं तदितिकर्त्तव्यतादिकमुपदिश्यते—

'अग्नेः' 'उदङ्' उत्तरतः 'उत्सृप्य' सर्पणेन गत्वा, 'पाणी पादौ 'च प्रक्षाल्य' उपविश्य च,-'त्रिः' त्रिवारम् 'आचामेत्' जलं पिबेत्; 'द्विः' द्विवारं 'परिमृजीत' ओष्ठाधरलग्नमुदकं मार्जयेत्; ततश्च 'पादौ अभ्युक्ष्य' पादयोरभ्युक्षणं प्रकृत्य, 'शिरः' 'अभ्युक्षेत्' । ततश्च 'अक्षिणी' अक्षिणी' अक्षिगोलकद्वयम्, अनन्तरं नासिके नासिकारन्ध्रद्वयं, तदनन्तरञ्च 'कर्णौ' कर्णशष्कुलिद्वयम्;—इति षट् 'इन्द्रियाणि' 'अद्भिः' 'संस्पृशेत्' ततोऽनन्तरमपरमप्यङ्गं यत् यत् मीमांस्यं अव-बोध्यं स्यात् तत्तत् अपि' 'संस्पृशेत्' ॥ ५-९ ॥

भाषा--अग्नि के कुच्छ उत्तर की ओर सरक कर जावे और दोनों हाथ पैर धोकर उचित स्थान में बैठकर तीन वार आचमन करे। उसके बाद दो वार ओठ और अधर में लगा जल साफ करे, उसके पीछे दोनों पैर और माथे पर जल छिड़के, तदनन्तर दोनों आँख, नाक के दोनों छिद्र और दोनों कान, इन छः इन्द्रियों के स्थान में जल स्पर्श करे, तदनन्तर और भी जिस २ अङ्गको अववोधित करने की इच्छा हो उस २ अङ्गको जलसे स्पर्श करे ॥ ५, ६, ७, ८, ९ ॥

तत्रैतदाहुः-॥ १० ॥

'तत्र' आचमनविषये 'एतत्' मद्बुद्धिस्थमोष्ठागतं वक्ष्यमाणम् 'उच्छिष्टो हैवातोऽन्यथा भवति' (सू० ३०)-इत्यन्तग्रन्थम् आहुः केचनेति शेषः ॥१०॥ तद्यथा—

भाषा—इस आचमन के विषय में कोई २ आचार्य्य कहते हैं-कि ॥१०॥

नोपस्पृशेद्व्रजन् ॥ ११ ॥

'व्रजन्' इतश्चेतश्च भ्रमन् 'न' 'उपस्पृशेत्' अपइति शेषः ॥ ११ ॥

भाषा—भ्रमण करते समय आचमन न करना चाहिये ॥ ११ ॥

न तिष्ठन् ॥ १२ ॥

'तिष्ठन्' दण्डायमानः सन्, 'न' उपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते ॥ १२ ॥

भाषा—खड़े होकर 'भी' आचमन न करे ॥ १२ ॥

न हसन् ॥ १३ ॥

'न हसन्' हास्यं कुर्वाणः 'न' उपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

भाषा—हंसते समय 'भी' आचमन न करे ॥ १३ ॥

न विलोकयन् ॥१४॥

'विलोकयन्' अपरं किमपि ईक्षमाणः 'न' उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

भाषा—इधर उधर ताकना हुआ भी आचमन न करे ॥ १४ ॥

नाप्रणतः ॥ १५ ॥

'अप्रणतः' क्रोधदम्भादिभिरुग्रमूर्त्तिः सन् 'न' उपस्पृशेत् ॥१५॥

भाषा—क्रोध, दम्भ आदि के कारण अनम्र होकर आचमन न करे ॥ १५ ॥

नाङ्गुलीभिः ॥ १६ ॥

'अङ्गुलीभिः' अङ्गुल्यग्रेषु जलं गृह्णन्नग्राह्यबुद्ध्या 'न' उपस्पृशेत् ॥१६॥

भाषा—अङ्गुली के अग्र भाग में जल लेकर (अग्राह्य बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

'अतीर्थेन' तीर्थं ब्राह्मादिकं मन्वादिभिरुक्तम्, तदतिरिक्तेन पथा 'न' उपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

भाषा—अतीर्थ द्वारा (धातु पात्रादि में मुंह से जल लेकर या कण्ठ में ढाल कर) आचमन न करे ॥ १७ ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

'सशब्द' क्रीडाभिप्रायेण शब्दं यथा भवेत् तथैव कुर्वाणो 'न' उपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

भाषा—शब्द करके (जलसे खेल करने की बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

'अनवेक्षितम्' हस्तगृहीतमुदकं अनवेक्ष्यैव यथालब्धं दृश्यकीटादिसहितं 'न' उपस्पृशेत् ॥ १९ ॥

भाषा—जलको भली भांति देखे विना आचमन न करे ॥ १९ ॥

नवाह्यांसः ॥ २० ॥

'वाह्यांसः' वाह्यौ वहिर्भूतौ जान्वोः, अंसौ स्कन्धौ यस्य, तादृशः सन् 'न' उपस्पृशेत् ॥ २० ॥

भाषा—दोनों जानुके बाहर स्कन्ध रहने से (वक्र टेढ़ा होकर) आचमन न करे ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

'अन्तरीयैकदेशस्य' परिहितवसनस्यैकांशस्य 'उत्तरीयतां' कल्पयित्वा 'न' उपस्पृशेत् ॥ २१ ॥

भाषा—एक ही वस्त्र को पहन कर उसी के एक अंशको ओढ़ कर आचमन न करे ॥ २२ ॥

नोष्णाभिः ॥ २२ ॥

'उष्णाभिः' वन्ह्यादितप्ताभिः अद्भिः 'न' उपस्पृशेत् ॥ २२ ॥

भाषा—गरम जलसे आचमन न करे ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

'सफेनाभिः' फेनादियुक्तैर्मलिनैरद्भिश्च 'न' उपस्पृशेत् ॥ २३ ॥

भाषा—फेनैले जलसे आचमन न करे ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

'च' अपिच 'क्वचित्' स्थानविशेषे, यत्रानावश्यकं तत्र, 'सोपानत्कः' उपानद्विशिष्टः सन् 'न' उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

भाषा—और अनावश्यक स्थान में जूता पहन कर आचमन न करे ॥ २४ ॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥ गले वद्धः ॥ २६ ॥ चरणौ न प्रसार्य्य च ॥ २७ ॥

के मस्तके आसक्तिर्वन्धनं यस्य स 'कासक्तिकः,' 'गले' गलदेशे 'वद्धः'

गलाधःकरणे व्याघातः स्यादेवं दृढबद्धः, 'च' अपिच 'चरणौ' 'प्रसार्य' 'न' उपस्पृशेत् ॥ २५–२७ ॥

भाषा—मस्तक या गले में दृढ़ बन्धन रहते पगड़ी या दुपट्टा आदि हटा कर या दोनों पैर फैला कर आचमन न करे २५, २६, २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

'अन्ततः' आचम्यारब्धकर्मकेण अनारब्धकर्मकेण वा शयनादीनामन्ते प्रत्युपस्पृश्य' अनुपद-वक्ष्यमाणप्रत्युपस्पर्शनं प्रकृत्यैव 'शुचिर्भवति' ॥ २८ ॥

भाषा—सो कर उठने आदि समय आचमन करने से शुद्धि होगी ॥२८॥

हृदयस्पृशस्त्वेवाप आचामेत् ॥ २९ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—'हृदयस्पृशः, यावन्त्यः पीताः हृदयं स्पृशन्ति, तावन्त्यएवापः हृदयस्पृशः ताः 'आपः, 'आचामेत् ॥ २९ ॥

भाषा—जितना जल पीने से हृदय तक सिक्त हो सके, कम से कम उतने जलसे आचमन करे ॥ २९ ॥

उच्छिष्टोहैवातोऽन्यथा भवतीति ॥ ३० ॥

'अतोऽन्यथा' उक्तादन्यप्रकारकृताचमनः 'उच्छिष्टः एवं' अशुद्धएव 'ह' निश्चयं 'भवति'—'इति' 'आहुः' (सू० १) इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३० ॥

भाषा—ऐसा नहीं करने पर आचमन करने वाले का मुंह जूठा ही रह जाता है ॥ ३० ॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ॥ ३१ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'प्रत्युपस्पर्शनानि' कीदृक्स्थलकृताचमनं प्रत्युपस्पर्शनसंज्ञां लभते ? तत् उपदेक्ष्याम इति ॥ ३१ ॥

भाषा—कैसी २ दशा में दोबारे आचमन करने को प्रत्युप स्पर्शन आचमन कहते हैं—सो कहते हैं।

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च रथ्यामाक्रम्य श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

'सुप्त्वा' स्वापानन्तरम् १, 'भुक्त्वा' भोज्यभोजनानन्तरम् २, 'क्षुत्वा' क्षवनानन्तरम् ३, 'स्नात्वा' स्नानानन्तरम् ४, 'पीत्वा' पेयपानानन्तरम् ५, 'विपरिधाय' वसनादिपरिधानानन्तरम् ६, 'च' अपिच 'श्मशानम्' 'रथ्याम्' ग्राम्यमार्गम् ७, 'आक्रम्य' विचरणानन्तरम् ८, 'आचान्तः च' यागाद्यनुरोधतः प्रथममाचान्तोऽपि पुनराचामेत् द्वितीयमाचमनं कुर्वीत। अत्रेदं तत्त्वम् स्वापाद्यनन्तरमाचामेत्, तत्रैकमेवाचमनं कर्त्तव्यम्; अथ आचम्यारब्धकर्मकेण तु स्वापाद्यनन्तरं पुनश्च द्वितीयमाचमनं कर्त्तव्यम्; तदिदमेवं स्थानिकमाचमनमेव प्रत्युपस्पर्शनमुच्यत इति ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय-गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके द्वितीय खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १, २ ॥

भाषा--सो कर उठने, भोजन करने, हिचकी आने, स्नान करने, रसादि पीने, वसन भूषणादि पहनने के अगके उप गमनार्थ शयनादि के पीछे जो आचमन किया जाता है उसी को "प्रत्युपस्पर्शन कहते हैं। अर्थात् नीन्द टूटने पर आचमन अवश्य करना चाहिये; यदि किसी देवानुष्ठानादि कार्य्य को करते २ आलस्य से तन्द्रा रूप निद्रा, या किसी प्रकार विहार करने या हिचकी हो तो ऐसे स्थान में फिर से आचमन करे किन्तु ऐसा न समझे कि एक वार आचमन कर चुका हूँ फिर क्या आवश्यकता है। एवं गली और मुर्दे जलाने के स्थान में भ्रमण करने पर, या इसके पहिल दूसरे किसी कार्य्य वस आचमन किया गया हो, तो ऐसे स्थानों में भी फिर आचमन करे ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय-गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठ के द्वितीय खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १, २ ॥

(इति सर्वकर्मसाधारण-प्रकरणं समाप्तम्)

अथ ब्रह्मयज्ञ प्रकरणम् ।

अग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

'अग्निम्' पूर्वोक्तप्रकारेण (१, २७-२८) 'उपसमाधाय', 'परिसमूह्य' वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण, 'दक्षिणजान्वक्तः' दक्षिणं जानु अक्तं भूमिगतं यस्य, तादृशः सन्:—'अदितेऽनुमन्यस्व' हे अदिते ! देवि ! एतत्कर्मकरणे अनुमतिं देहि 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्निम् दक्षिणेन' कृत्वा 'उदकाञ्जलिं' प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

भाषा—पूर्वोक्त (१, २७-२८) अग्नि उपसमाधान कर, परिसमूहन करके दक्षिण जानु भूमि पर टेककर, हे अदिते ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति दो' इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में उदकाञ्जलि सींचे ॥ १ ॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥ २ ॥

'अनुमतेऽनुमन्यस्व' हे अनुमते देवि ! अत्रानुमतिं देहि—'इति' मन्त्रेण ,पश्चात्' अग्नेः पश्चिमतः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ २ ॥

भाषा—'हे अनुमते ! मुझको इस कार्य्य के करने में अनुमति दो'—इस मन्त्र से अग्नि के पश्चात् भाग में दूसरी उदकाञ्जलि सींचे ॥ २ ॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥ ३ ॥

'सरस्वत्यनुमन्यस्व' हे सरस्वति ! देवि ! अत्रानुमतिं देहि 'इति' मन्त्रेण 'उत्तरतः' अग्नेः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ ३ ॥

भाषा—और 'हे सरस्वति ! मुझ को इस कार्य्य के करने में अनुमति दो' इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में तीसरी उदकाञ्जलि सेंचन करे ॥ ३ ॥

देवसवितः प्रसुवेतिप्रदक्षिणमग्निं पर्य्युक्षेत् सकृद्वा त्रिर्वा ॥४

'देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्योगन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु' इत्यनेन मन्त्रेण (म० ब्रा० १ क०) 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथाभवेत् 'सकृत् वा' एकवारं वा 'त्रिर्वा' अथवा वारत्रयं 'पर्य्युक्षेत्' उदकधाराभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

भाषा--एकवार या तीनवार 'देव सवितः प्रसुव' इस मन्त्र से अग्नि की प्रदक्षिणानुसार जल धारा गिरावे । इसी को पर्युक्षण कहते हैं ॥ ४ ॥

पर्य्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

'पर्युक्षणान्तान्' अङ्गयागान् 'व्यतिहरन्' व्यवहरन् 'होमीयम्' होमोपयोगितया सङ्गृहीतं वस्तुजातम् 'अभिपर्युक्षन्' उदकविन्दुभिः सिञ्चन् ॥ ५ ॥

भाषा—उक्त प्रकार 'पर्य्युक्षण' तक के कार्यों को शेष कर अनन्तर होम के उपयोगी अन्नादि को जल विन्दु से सींचे । इसी को 'पर्य्युक्षण' कहते हैं ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा ॥ ६ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'अग्नौ' तस्मिन् 'कृतस्य' वा पक्वस्य वा 'अकृतस्य वा' अपक्वस्य वा 'हविष्यस्य' अन्नस्य यवादेः (अंशमितिशेषः) 'जुहुयात्' ॥ ६ ॥

भाषा—अनन्तर उसमें अग्नि में का पका या कच्चा हव्य हवन करे ॥६॥

अकृतश्चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥ ७ ॥

तच्च होमीयं 'अकृतम्' अपक्वं 'चेत्' तत् 'प्रक्षाल्य' उदकैः, 'प्रोदकं' जलार्द्रं च 'कृत्वा' 'जुहुयात्' ॥ ७ ॥

भाषा—यदि अग्नि-पक्व भात आदि होम के योग्य न हो, प्रत्युत तण्डुल या फलादि ही हवनीय हो, तो उन सब को अच्छे प्रकार धोकर जल से भींगे ही दशा में हवन करे ॥ ७ ॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कꣳसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वै वा ॥ ८ ॥

'अथ' तत्रापि यदि दधि पयः यवागूं 'वा' होतव्यं भवेत् तदा 'कंसेन वा' कांस्यपात्रेण वा 'चरुस्थाल्या वा' चरुपाकपात्रेण 'वा' अथवा 'स्रुवेण' 'वै' एव जुहुयात् न तु साक्षात् हस्तेन ॥ ८ ॥

भाषा--यदि दही, दूध या यवागू से होम करना हो, तो उनको धोने की आवश्यकता नहीं, जैसा हो उसी प्रकार बिन धोये ही कांस्यपात्र या

चरुस्थाली में रक्ख कर उस से या स्रुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्व्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशीति सायम् ॥ ९ ॥

'मध्ये' अग्नेर्मध्यस्थले 'पूर्वां' प्रथमामाहुतिम् "अग्नये स्वाहा" 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अपराजितायां' दिशि अग्नेरैशान्यां 'उत्तराम्' द्वितीयामाहुतिम् 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्याम् जुहुयात् । 'इति' एवं 'सायम्' सायङ्कालीनो होमः ॥९॥

भाषा—पहिली आहुति तो "अग्नये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि के बीच में और दूसरी आहुति ईशान कोण में विना मन्त्र ही के करे । यही सायङ्काल के होम का विधि हुआ ॥ ९ ॥

अथ प्रातः,-सूर्य्याय स्वाहेतिपूर्व्वां, तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ॥ १० ॥

"अथ प्रातः"-'पूर्वाम्' प्रथमामाहुतिं "सूर्याय स्वाहा" "इति" अनेन मन्त्रेण: अन्यत् समानं पूर्वेण ॥ १० ॥

भाषा—प्रातःकाल के होम की व्यवस्था भी इसी प्रकार, होगी, केवल "अग्नये स्वाहा" मन्त्र के बदले "सूर्य्याय स्वाहा" मन्त्र से आहुति होगी इतना ही इसमें विशेषता है ॥ १० ॥

समिधमाधानुपर्य्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वमंस्था इति मन्त्रविशेषः ॥ ११ ॥

सायं प्रातश्चोभयत्रैव होमानन्तरम्—'समिधम्' 'अमन्त्रकमेव आधाय' तत्राग्नौ हुत्वा 'अनुपर्युक्ष्य' पुनः पर्युक्षणं कर्त्तुं प्रवृत्तः 'तथैव पूर्ववदेव 'उदकाञ्जलीन्' प्रसिञ्चेत् । तत्र 'अन्वमंस्था'-'इति' अयमेव भूतार्थपदप्रयोग एव 'मन्त्रविशेषः' मन्त्रे विशेषः कर्त्तव्यः ॥ ११ ॥

भाषा—'सायं' या 'प्रातः' दोनों ही काल में होम के पीछे अग्नि में एक समिधा विना मन्त्र के डाल कर पहिले की नाई फिर 'पर्य्युक्षण' करने को प्रवृत्त होकर उदकाञ्जलि सींचे । इसी को 'अनुपर्य्युक्षण' कहते हैं । इसी

'अनुपर्युक्षणा' में पूर्व मन्त्र के बदले 'हे अदिते ! तू ने मुझे इस कार्य्य के करने में अनुमति प्रदान किया थी' (मैंने भी उसके अनुयायी कार्य्य सम्पन्न किया)—इसी मन्त्र का व्यवहार करे यही विशेषता है ॥११॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापाᳪशेषं निनीय पूरयित्वा चमसं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

उक्तानुपर्युक्षणानन्तरम्-'अग्निं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'परिक्रम्य' 'अपाम्' अनुगुप्तानां कुम्भादेर्गृहीतानां वा 'शेषं' 'निनीय' पुनर्गृहीत्वा, तेनैवोदकशेषेण 'चमसं' पानपात्रं 'पूरयित्वा' 'प्रतिष्ठाप्य' संरक्ष्य च 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनम् एतदुत्तरवक्ष्यमाणं सायं सायमाशादिकं प्रातः प्रातराशादिकञ्च कुर्वीतेति ॥ १२ ॥

भाषा-उक्त "अनुपर्युक्षणा" के पीछे प्रदक्षिणा द्वारा अग्नि की परिक्रमा करके, गृहीत जल के अवशिष्ट को 'चमसि' में ढाल कर आवश्यकता के अनुसार कार्य के लिये रक्ख छोड़े ॥ १२ ॥

एव मत ऊर्द्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृथात् ॥ १३ ॥

'अतः ऊर्द्ध्वम्' एतद्दिवसत ऊर्द्ध्वम् 'आ जीवितावभृथात्' जीवितं जीवनम्, अवभृथश्च अश्वमेधादिमहायागक्रियान्त्यकर्म, तयोः समाहारः तस्मात् यावज्जीवनं महाक्रतुसम्पादनान्तं वा प्रतिदिनमेव सायं प्रातश्च 'एवम्' अनेन प्रकारेणैव तत्र 'गृह्ये अग्नौ' 'जुहुयात् वा'. स्वयम्, 'हावयेद्वा' अपरेण प्रतिनिधिना ॥ १३ ॥

भाषा-जब अग्नि ग्रहण पूर्वक प्रथम होम करे, उस दिन से सारे जीवन या अश्वमेधादि महायाग में 'अवभृथ स्नान करने तक प्रति दिन सायं और प्रातः दोनों ही समय उपदिष्ट प्रकार से स्वयं होम करे या प्रतिनिधि से इस होम को करावे ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

'अथ' अत्र विषये 'उदाहरन्ति अपि' अपरेण द्वावने विशेष विधिमप्यनेके वदन्ति ॥ १४ ॥

भाषा—इस प्रतिनिधि के विषय में कोई २ लोग यह कहते हैं कि ॥१४॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी गृह्यएषोऽग्निर्भवतीति ॥ १५ ॥

'एषः अग्निः' 'गृह्यः' गृहाय हितएव 'भवति',–'पत्नी' च 'गृहाः' गृहा, 'इति' अतोहेतोः 'गृह्ये अग्नौ' अत्र 'पत्नी', 'कामं' यथा स्यात्तथा, इच्छेच्चेत् 'सायंप्रातर्होमौ' यथोक्तौ द्वावेव, 'जुहुयात्' ॥ १५ ॥

भाषा— पत्नी को गृहा कहते हैं और इस अग्नि को भी गृह्याग्नि कहते हैं। इसलिये यदि पत्नी इच्छा करे तो दोनों ही होम करे ॥ १५ ॥

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत् ॥१६॥

अनन्तरम्. 'सायमाशप्रातराशे' सायं सायम्भोजने प्रातः प्रातर्भोजने च 'निष्ठिते' अनुष्ठिते, ततः 'भूतम्' इदानीं कर्त्तव्यजातं सम्पन्नम् 'इति मनसि विचार्य अन्तेवासिनो विज्ञाप्य' वा 'प्रवाचयेत्' स्वाध्याय मध्यापयेत्; स्वान्ते वासिन इति शेषः। एष एव ब्रह्मयज्ञः ॥ १६ ॥

भाषा—अनन्तर सायङ्काल में सायङ्काल का भोजन और प्रातःकाल में प्रातःकाल का भोजन प्रस्तुत होने पर छात्रों को अध्ययन करावे (यही 'ब्रह्मयज्ञ' है) ॥ १६ ॥

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा-॥ १७ ॥ प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मैनमस्तन्मात्ता इत्युपांशु ॥ १८ ॥

ब्रह्मयज्ञकाले 'भगया वाचा ऋते' वेदवाक्यं विना अपरं किमपि लौकिकं प्रब्रूय 'अशुचिः भूत्वा, तदशुचित्वं दूरीकर्त्तुम् 'उच्चैः ओम् इति' किञ्च 'उपांशु' नीचैः 'तस्मै नमस्तन्माक्षाः' 'इति मन्त्रद्वयं 'प्रतिजपति' प्रतिवारं यावद्वारं लौकिकं वदेत तावद्वारमेव जपेदिति ॥ १७–१८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १–३ ॥

भाषा-(ब्रह्मयज्ञ काल में) जिस वेद वाक्य से कल्याण हो ऐसे वाक्य को छोड़, अन्य वाक्यों का व्यवहार करने पर अशुचि होगी ॥ १७ ॥ इसलिये अपवित्र—वाक्य के व्यवहार करने पर उनके प्रायश्चितरूप ऊंचे स्वर से "ओम्" और मन ही मन "तस्यैनमः" आदि दो मन्त्रों को प्रति वार (जब २ लौकिक वाक्यों को बोले) पढ़े ॥ १८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके प्रथम प्रपाठकके तृतीय खण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥१-३॥

अथ वाग्यतो बलीन् हरेत् ॥ १ ॥

'अथ' प्रकरणारम्भद्योतकः । 'वाग्यतः' नियतवाक् हास्यकौतुकादिनिमित्त-कमनृतभाषणाद्यनियतवाचं परित्यज्य 'बलीन्' बल्यर्थपाकादीनि प्रथमकर्त्तव्यानि 'हरेत्' आहरेत् सम्पादयेदित्यर्थः ॥ १ ॥ उक्तनियतवाक्यत्वमेव विशदयति—

भाषा०—हंसी ठठोली (हास्य कौतुकादि) के निमित्त भी झूठ बोलना आदि अनियत वाक्यों को न बोल कर काम में मन लगा कर "बलिकर्म" करे एवं विचार पूर्वक पाकादि सम्पादन करे ।

भाषेतान्नसꣳसिद्धिमतिथिभिः कामꣳसम्भाषेत ॥ २ ॥

'अन्नसंसिद्धिं' अन्नसम्बन्धिनीं संसिद्धिं विक्लृत्यादिविषयणीं 'कथां प्रश्नो-त्तरादिकां 'भाषेत' न तत्र निषेधः । किञ्च 'अतिथिभिः' समागतैः सह 'कामं' यथेच्छं विनयादिकं 'सम्भाषेत' तत्रापि न निषेधः ॥ २ ॥ वैश्वदेवविधिरुच्यते-

भा०—हां, अन्नपाक विषयक बातचीत करने का निषेध नहीं और आगत अतिथियों के साथ भी नम्रता से बात करने में कोई बाधा नहीं ॥२॥

अथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहुयात्तूष्णीं पाणिनैव ॥ ३ ॥

'अथ' पाकनिष्पत्त्यनन्तरं, हविष्यस्य अन्नस्य' तस्यैव पक्वस्य हविष्यरूपा-न्नस्य किञ्चिद् 'उद्धृत्य' गृहीत्वा, 'हविष्यै व्यञ्जनैः' सूपादिभिः 'उपसिच्य' गृहीतं तत् सम्मिश्र्य, 'अग्नौ' पूर्वोक्तलक्षणे गृह्ये 'तूष्णीम्' अस्फुटवाक् सन् 'पाणिनैव' जुहुयात्, न तत्र स्रुवादेरपेक्षा ॥ ३ ॥ तत्र मन्त्रदेवते विधीयते—

भा०—पाक प्रस्तुत होने पर उस हविष्यान्न में से कुछ लेकर हविष्य व्यञ्जन के साथ उसी अग्नि में विना मन्त्र पढ़े एक आहुति देवे। इसमें 'स्रुवादि' की अपेक्षा नहीं ॥ ३ ॥

प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

'प्राजापत्या' प्रजापतिदेवताका, तथाच मनसा प्रजापतिं प्रजानामीशानं सृष्टिस्थितिलयकर्त्तारं परमदेवं विचिन्त्य 'प्रजापतये स्वाहा'-इत्यस्फुटमेवोक्त्वा 'पूर्वाहुतिः प्रथमा आहुतिः 'भवति' सम्पद्यते। सौविष्टकृती' स्विष्टकृद्देवताका, स्विष्टं शोभनाभिलाषं करोति पूरयति यः तमेव सर्वान्तर्यामिणं परमेशं मनसा विचिन्त्य 'स्विष्टकृते स्वाहा' इत्यस्फुटएवोक्ते 'उत्तरा' आहुतिः भवति। इत्थमुपदिष्टो देवयज्ञापरनामको नित्यहोमाभिधो वैश्वदेवः ॥ ४ ॥

भा०—प्रजापति देवता अर्थात् जो इस सम्पूर्ण राज्य का प्रकृति राजा होकर प्रजारूप विश्व संसार को पालन कर रहे हैं उन्हीं परमेश्वर का मन ही मन चिन्तन कर प्रथम आहुति और स्विष्टकृत् देवता अर्थात् जो एक मात्र सम्पूर्ण संसार का अन्तर्यामी और सुमनोरथ पूरण करने वाले हैं उनका मन हीं मन चिन्तमन करके दूसरी आहुति देवे इसी को "देवयज्ञ" "नित्यहोम" और "वैश्वदेव" कहते हैं ॥ ४ ॥

अथ बलीन् हरेत्, वाह्यतोवान्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ॥ ५ ॥

'अथ' देवयज्ञापरपर्यायवैश्वदेवहोमानन्तरम्;—

'वाह्यतः वा अन्तर्वा' अभ्यागारस्येति शेषः, 'सुभूमिं' मार्जनादिभिर्भूमिशोधनं 'कृत्वा' बलीन्' भूतयज्ञात्मकान् पशुपक्षिपिपीलिकादीनामाहारदान रूपान् 'हरेत्' सम्पादयेत् ॥ ५ ॥

भाषा—देवयज्ञ नामक उक्त होम के पीछे अग्नि-गृह के बीच में हो या बाहर। अर्थात् यथायोग्य चाहे जिस किसी स्थान में हो, झाड़ू आदि से भूमि को भली भांति साफ कर उस २ स्थान में पशु, पक्षी, पिपीलिका आदि को आहार देकर "बलिकार्य्य" पूरा करे ॥ ५ ॥

सकृदपो निनीय चतुर्धा बलिं निदध्यात्, सकृदन्ततः परिषिञ्चेत् ॥ ६ ॥

'सकृत्' एकवारम् 'अपः' उदकानि 'निनीय' भूमौ सिञ्चनं प्रकृत्य 'बलिं' पार्थिवभूताद्युद्देश्यकं दानं 'चतुर्धा' चतुःप्रकारं यथा स्यात् तथा 'निदध्यात्' तत्र मार्जितजलसिक्ते च स्थाने संक्षेत्; 'अन्ततः' बलिनिधानान्ते पुनरपि पूर्ववत् 'सकृत्' एकवारम् अपः 'परिषिञ्चेत्' ॥ ६ ॥

भाषा—साफ किये हुये भूमि में पहिले एक वार जल छींट कर ४ भाग बलि अलग २ रक्खे और फिर उन पर जल छिड़के ॥ ६ ॥

एकैकं वानुविधानमुभयतः परिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥

'वा' अथवा 'अनुविधानम्' एकस्य पश्चादपरमिति क्रमेण चतुर्णामेव बलीनां स्थापनं कार्यमिति शेषः, किञ्च 'एकैकम्' एव 'उभयतः' स्थापनात् पूर्वस्मिन् पश्चादपि 'परिषिञ्चेत्' ॥ ७ ॥

भाषा—या एक २ भाग करके ही बलि रक्खे और प्रत्येक भाग के रखने के पहिले एक वार और पीछे एक वार जल छिड़के ॥ ७ ॥

स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवत्यथ यद्द्वितीयꣳ स वायव्यो यत् तृतीयꣳ स वैश्वदेवो यच्चतुर्थꣳ स प्राजापत्यः ॥ ८ ॥

'स' बलिप्रदाने प्रवृत्तः पुरुषः 'यत् प्रथमं निदधाति', 'सः' प्रथमो 'बलिः' 'पार्थिवः' पृथिवीदेवताको भवति । 'अथ' अनन्तरं 'यत् द्वितीयं' निदधाति, 'स' बलिः 'वायव्यः' वायुदेवताको भवति । 'यत् तृतीयं' निदधाति, 'सः' बलिः 'वैश्वदेवः' विश्वदेवताको भवति 'यत् चतुर्थं' निदधाति, 'सः' बलिः 'प्राजापत्यः' प्रजापतिदेवताको भवति ॥ ८ ॥

भाषा—बलि के उक्त ४ भागों में से प्रथम बलि पृथिवी देवी की दूसरी वायु देवता की, तीसरी विश्वेदेवा देवता की, चौथी प्रजापति देवता की है ॥८॥

अथापरान् बलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्या-

ब्दैवतः प्रथमोबलिर्भवत्योषधिवनस्पतिभ्योद्वितीय आका-शायतृतीयः ॥ ९ ॥

'अथ' तद्बलिचतुष्टयविधानानन्तरम् 'अस्य' बलिनिधातुः 'उदधानस्य' यस्मिन् गृहे परिचरणीया आपो रक्षिताः तस्य 'द्वारस्य' 'मध्यम्' मध्यतः अपरान्' त्रीन् 'बलीन्' हरेत् सम्पादयेत्। तत्र, 'प्रथमः बलिः' 'अब्दैवतः' 'भवति'; 'द्वितीयः' 'ओषधिवनस्पतिभ्यः' ओपधिवनस्पतिदेवताकः भवति; 'तृतीयः' 'आकाशस्य भवति; तोषायेति सर्वत्र शेषणीयः ॥ ९ ॥

भाषा—इन चार बलियों के रखने के पीछे यह बलि रखने वाले के गृह के जिस घर में "परिचरणीय" जल रक्षित रहता हो, उसी घर के द्वार के बीच में अन्य तीन बलि रक्खे। उनमें से प्रथम बलि जल देवता की, दूसरी औषधि-वनस्पति की और तीसरी आकाश की होती है ॥ ९ ॥

अथापरं बलिँ हरेच्छयनं वाधिवर्च्चं वा स कामाय वा बलिर्भवति मन्यवे वा ॥ १० ॥

'अथ' उक्त बलित्रयहरणानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकं 'बलिम्' 'हरेत्' सम्पादयेत्। तस्य स्थानं निर्दिशति-'शयनं वा अधिवर्च्चं वा' सय्यागृहस्य मध्ये शयनस्थानं वा तद्गृहमध्ये एव अधिवर्च्चं मूत्रत्यागादिस्थानं वा अभि-लक्ष्येति। देवतां विधत्ते-'सः' शयनस्थाने वा स्थापितो बलिः 'कामाय' भवति, अधिवर्च्चस्थाने वा स्थापितो बलिः 'मन्यवे' भवति ॥ १० ॥

भाषा—इन तीन बलियों के रखने के बाद सोनेके घड़में चाहे सोने ही की जगह हो, या मल मूत्र त्याग आदि स्थान ही में हो, एक और बलि रक्खे। उनमें से शयन-स्थान वाली 'बलिकाम देवता' की और मूत्र त्यागादि स्थान-जो सोने के घर में होता है उसकी बलि 'मन्यु देवता' की होती है ॥ १० ॥

अथ सस्तूपँ स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरं 'सस्तूपं' गृहावजंनादिप्रक्षेपस्थान मभिलक्ष्य तत्रापि बलि मेकं प्रक्षिपेत्। 'सः' बलिः 'रक्षोजनेभ्यः' भवति ॥ ११ ॥

भाषा-कूड़ा आदि फेकने के स्थान में एक बलि राक्षसों के लिये देवे ॥११॥

अथैतद्बलिशेषमद्भिरभ्यासिच्यापसलवि दक्षिणानिनयेत् पितृभ्यो भवति ॥ १२ ॥

'अथ' तदनन्तरम्' 'एतद्बलिशेषम्' अद्भिः अभ्यासिच्य जलसेकेन धौतप्रायं प्रकृत्य 'अपसलवि' अपसव्येन पितृतीर्थेन 'दक्षिणां' दक्षिणस्यां दिशि 'निनयेत्' विकरेत् । स एव विकीर्णो बलिः पितृभ्यः' पितृदेवताकः 'भवति' ॥ १२ ॥

भाषा-तब पात्र के बचे हुये अन्न को जलमें धोकर हाथकी पेत्र अंगुली से दक्षिण की ओर फेके, वह बलि पितृगण की होगी ॥ १२ ॥

[इससे गोभिलाचार्य के मत से १० भूतबलि निर्णीत हुये । उनमें से ४ अग्निगृह में, ३ जलगृह के द्वार पर, एक शय्या-स्थान में हो या मूत्र-त्याग स्थान में हो, शयन-के वगल में एक, और कूड़ा रखने की जगह एवं शेष को मकान के दक्षिण भाग में । किन्तु साधारणतः उत्तरोत्तर जल की तीन रेखा करके उसके ऊपर क्रम से ४ करके । १२ बारह सबके उत्तर एक और सबके दक्षिण में एक यों १४ बलि यों * का व्यवहार है]

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥१३॥ आसीनःपितृभ्यो दद्यात् यथोपपादमितरान् ॥ १४ ॥

'आसीनः' उपविष्टः 'एव' 'अग्नौ जुहुयात्' पूर्वोक्तप्रकार मथ हविष्यस्यान्न-

---

* (१)—जैसे— ०—ब्रह्मणेन मः ०—कामाय नमः ८ ०—प्रजापतये नमः ४
०—वासुकये नमः ११ ०—आकाशाय नमः ७ ०—विश्वेभ्योदेवेभ्यो नमः ३
०—पितृभ्यःस्वधा १४
१३ रक्षोजनेभ्यः ०
०—इन्द्राय नमः १० ०—ओषधिवनस्पतिभ्यो नमः ६ ०—वायवे नमः १
०—मन्यवे नमः ६ ०—अद्भ्यो नमः ५ ०—पृथिव्यै नमः २

इस प्रकार १४ बलि की चाल वा प्रणाली यद्यपि अमूलक नहीं, परन्तु जिस कारण गोभिलाचार्य्य ने नहीं कहा है, इस लिये कौथुमी शाखा वाले द्विजों को ये १४ बलि कर्त्तव्य हैं ऐसा नहीं बोध होता है ॥ २२ ॥

स्योद्धृत्येत्यादिकं वैश्वदेवहोमं कर्त्तव्यम्। पितृभ्यः' अपि अथैतद्बलिशेषमित्युक्तं बलिशेषम् 'आसीनः' एव 'दद्यात्'। 'इतरान्' अथापरानित्याद्युक्तान् उदधानादिबलीन् 'यथोपपाद' यथा यथा उपपद्यते तथातथैव तिष्ठन् प्रह्वश्चलन् वा दद्यात् ॥ १३, १४ ॥

भाषा—पूर्वोक्त वैश्वदेव होम बैठकर करे, पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी (सू० १२) बैठ कर प्रदान करे पूर्वोक्त जल गृहादि में देने योग्य बलि आदिक जिस २ प्रकार सम्पन्न हो सके उस २ प्रकार करे अर्थात् खड़े होकर, बैठ कर, निहुर कर, जैसा सुभीता हो वैसा करे ॥ १३-१४ ॥

स्वयन्त्वेवैतान् यावद्वसेद् बलीन् हरेत् ॥१५॥ अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥ दम्पती एव ॥ १७ ॥

'एतान्' 'बलीन्' 'यावद्' 'वसेत्' स्वगृहे, तावत् स्वयमेव' 'हरेत्'। 'अपिवा' पीडादौ 'अन्यः ब्राह्मणः' प्रतिनिधिरपि अत्र अधिकारी। अत्र कार्य्ये 'दम्पती भार्या पतिश्च उभौ 'एव' तुल्याधिकारिणौ ॥ १५-१७ ॥

भाषा—ये बलि जिस समय मकान पर रहे उस समय स्वयं ही सम्पन्न करे या (असमर्थ होने पर) अन्य ब्राह्मण से भी करा सकता है। इस कार्य्य के लिये स्त्री पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

'इति' एतत्खण्डोक्तं वैश्वदेवादिकं 'गृहमेधिव्रतम्' गृहमेधिनः गृहस्थस्य व्रतम् अवश्यं प्रतिपाल्य नियमितकार्य्यम् ॥ १८ ॥

भाषा—इस खण्ड में कहे कर्म गृहस्थों के लिये जानो ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

'सायं स्त्री' 'प्रातः पुमान्' कुर्यादिदं बलिहरणम् 'इति' एवं नियमः कस्यचिदाचार्यस्य अभिमतः। अत्राप्यस्य गोभिलस्य नासम्मतिः ॥ १९ ॥

भाषा—'प्रातः काल में घर का मालिक ही और सायंकाल में उसकी पत्नी ही बलिहरण करे' यह भी किसी २ आचार्य का मत है ॥ १९ ॥

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थार्थस्य वा ॥ २० ॥

'पित्र्यस्य वा' पितृकर्मार्थं श्रुतस्य, 'स्वस्त्ययनस्य वा' स्वस्त्ययनार्थं कल्याणार्थं ब्राह्मणभोजनाय श्रुतस्य वा, 'अर्थार्थस्य वा' अर्थः प्रयोजनं किमपि प्रयोजनं स्वभोजनादिकमुद्दिश्य पक्वस्य वा 'सर्वस्य एव' सर्वप्रकारस्यैवान्नस्य 'एतान् बलीन् हरेत्' बलिहरणे इदमेवान्नं ग्राह्यमिति न नियमः ॥ २० ॥

भाषा–पितृ कार्य के लिये हो, या ब्राह्मण भोजनादि कार्य के लिये हो, या अपने ही खाने के लिये हो, सब ही अन्न से बलि कर्म करे ॥ २० ॥

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

'यज्ञात्' ज्योतिष्टोमादिकं यज्ञमारभ्य (ल्यब्लोपे पञ्चमी) 'एव' 'निवर्त्तते' इतः कर्मणः पुरुष इति यावत्। यज्ञे दीक्षितस्य नास्त्यत्रेतिकर्त्तव्यतेति भावः॥२१॥

भाषा- ज्योतिष्टोमादि जिस किसी यज्ञ का क्यों न हो, अनुष्ठान आरम्भ करने पर फिर यह बलिकार्य करना उचित नहीं ॥ २१ ॥

यद्येकस्मिन् काले व्रीहियवौ प्रक्रियेतान्यतरस्य कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् काले' 'व्रीहियवौ' उभयविधे अन्ने प्रक्रियेताम् प्रस्तुतीकृते स्यातां, तर्हि 'अन्यतरस्य' व्रीहेर्यवस्य वा बलिहरणं 'कृत्वा' 'कृतम्' सम्पन्नं विधिविहितं बलिहरणमिति 'मन्येत' जानीयात् ॥ २२ ॥

भाषा—यदि एक ही समय 'तण्डुल' और "यव" दोनों ही प्रकार की अन्न प्रस्तुत हों, तो दोनों प्रकार के अन्नों से बलि कार्य न करे, चाहे दोनों अन्न में से किसी एक से बलि कार्य हो सकता है ॥ २२ ॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् काले' 'पुनः पुनः' भृशम् 'अन्नं पच्येत,' तर्हि प्रथमपक्वेनान्नेन द्वितीयाद्यैर्वा 'सकृत्' एकवारमेव 'एतद्' 'बलितन्त्रं' 'कुर्वीत' ॥ २३ ॥

भाषा—यदि एक ही समय दो, तीन, या इससे भी अधिक वार, अन्न पके तो प्रतिवार बलिकार्य नहीं करे किन्तु एक ही वार करे ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन् कुले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसा-देवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २४ ॥

'यदि' 'एकस्मिन् कुले' बहुभ्रात्राद्यधिकृते एकवेश्मन्यपि पृथगन्नत्वाद बहुमहानसेषु सत्सु बहुधा अन्नं पच्येत', तर्हि 'गृहपति-महानसात्' तेषां मध्ये यस्य गुरुत्वाद्धेतोः स्वामित्वं तस्यैवैकस्य महानसात् पाकस्थानात् 'एव' एतद् बलितन्त्रं' 'कुर्वीत' न तु प्रतिमहानसात् ॥ २४ ॥

भाषा—यदि एक मकान में एक वंशके अनेक व्यक्ति भिन्न २ पाक करते हों, तो उनमें से जो सब से मालिक बना हो, उसी के पाकशाला से इस वलि कार्य को करेः प्रत्येक रसोई घर से वलि कार्य न करे ॥ २४ ॥

यस्यत्वेषामग्रतः सिध्येन्नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं ब्राह्मणाय दत्त्वा भुञ्जीत ॥२५॥ यस्यो जघन्यं भुञ्जो तैवेति ॥२६॥

'एषाम्' एकगृहस्थितानां पृथगन्नानां भ्रात्रादीनां मध्ये 'यस्य तु' 'अग्रतः सिध्येत्' अन्नमिति यावत्, सः किञ्चिदन्नम् 'अग्नौ' 'नियुक्तं' 'कृत्वा' अनन्तरम् 'अग्रं' पक्वान्नस्याग्रभागं 'ब्राह्मणाय' अतिथये' 'दत्त्वा' ततः स्वयं 'भुञ्जीत' । 'यस्य उ' यस्य तु निष्पन्नाग्रपाकस्य 'जघन्यम्' अरुचिकरं कदर्यमन्नं पाकादिदोषेण स्यात्, स तु 'भुञ्जीत एव' न तेनान्नेनातिथिं सेवयेत् अपितु तदनन्तरकृतपाक-एवातिथिं सत्कुर्य्यात् ॥ २५-२६ ॥

भाषा—यदि एक घर में अनेक पाक वाले रहते हों तो उनमें से जिस का भोजन सब से पहिले प्रस्तुत हो वही थोड़ा अन्न अग्नि में डाल कर पके अन्न में से अतिथि सेवा के पश्चात्, आप भोजन करे, परन्तु यदि वह अन्न पाकादि दोष से अग्राह्य हो जावे तो उससे अतिथि सेवा न करके उसे स्वयं भोजन करेः और फिर से पाक करके अतिथि सेवा करे* ॥ २५, २६ ॥

* इससे नरमेध अर्थात् अतिथि सेवा में जिसका जिस दिन पहिले पाक हो और अच्छा पाक हो उस दिन उसी को अतिथि सेवा करनी आवश्यक है, अन्य लोगों की इच्छा रहो करें या न करें ऐसा सूचित होता है ॥ २५, २६ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ २७ ॥

'अथापि' अपरमपि किञ्चित् 'उदाहरन्ति' वदन्ति पूर्वाचार्याः, अत्रैवेति शेषः ॥ २७ ॥ तथाहि—

भाषा—पूर्वाचार्यगण इस "बलिहरण" विषय में विशेषता कहते हैं ॥ २७ ॥ जैसेः—

एतस्यैवबलिहरणस्यान्तेकामंप्रब्रुवीतभवति हैवास्य॥२८॥

'एतस्यैव बलिहरणस्य' 'अन्ते' अनन्तरं कामं स्वाभिलापं 'प्रब्रुवीत' प्रार्थयीत। 'अस्य' प्रार्थकस्य 'ह' निश्चयं 'भवति' प्रार्थितसिद्धिरिति ॥ २८ ॥

किं कुर्वन् कामं प्रब्रुवीतेत्यत्रोत्तरमाशस्यबलिहरणं कुर्वन्निति, तदेव स्वगतं विशदयितुमासस्यबलिहरणं विधत्ते—

भाषा—इस बलि के कर चुकने पर जैसी इच्छा हो करे; परमात्मा से मन ही मन वरमांगे, निश्चय मनोरथ सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

स्वयन्त्वेवाशस्यं बलिं हरेत् यवेभ्योऽध्याव्रीहिभ्यो व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः सत्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ॥२९॥ दीर्घायुर्हैव भवति ॥ ३० ॥

'आशस्यं बलिं हरेत्' एतेनैव कामप्रार्थनं सम्पन्नं भवेन्नाम। तच्च बलिं 'स्वयम्' एव हरेत्, नात्र प्रतिनिधिः कार्यः। कीदृशश्च स आशस्यबलिरित्याह— 'अध्याव्रीहिभ्यः' व्रीह्यन्नोत्पत्तितः पूर्वं 'यवेभ्यः' यवाधारोपरि, किञ्च 'अध्यायवेभ्यः' यवशस्योत्पत्तितः पूर्वं 'व्रीहिभ्यः' व्रीह्याधारोपरि बलिं हरेत् 'स तु' स एव 'आशस्यो नाम बलिर्भवति'। 'ह' निश्चयम् 'एवं' एतेन बलिप्रदानेन 'दीर्घायुः भवति' पुरुष इति ॥ २९-३० ॥

भाषा— उक्त वर प्रार्थना करनी हो तो एक "आशस्य" नामक 'बलि' स्वयं (प्रतिनिधि द्वारा नहीं) प्रदान करे। जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य शस्य (खेत में लगा हुआ अनाज) तय्यार न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व और उसके बाद जब तक यव शस्य तय्यार न हो

तब तक धान्यकी उत्पत्ति के निकट एक बलि देवे । इसी को आशस्य बलि कहते हैं । इस बलिप्रदान से अवश्य ही दीर्घायु लाभ होगा ॥२६॥३०॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिꣳ हरेत् स रौद्रो भवति स रौद्रो भवति ॥ ३१ ॥ ४ ॥

इदानीं तत्राशस्ये बलौ द्रव्यं विधत्ते-'फलीकरणानां' वितुषीकृतानां धान्याना यवानां वा 'विश्राणिते' पाकसिद्धे सति 'आचामस्य' मण्डस्य 'अपां' मण्डद्रवीभूतानामिति यावत्, अंशं गृहीत्वा तेनैव 'बलिम्' आशस्यं 'हरेत्' । तत्रैव देवतां निर्द्दिशति,-'सः' बलि. 'रौद्रः' रुद्रदेवताको भवति' । एतेन 'रुद्रायनमः'-इत्येव तत्र मन्त्रः इत्यपि सूचितम् । अभ्यासः खण्डसमाप्ति सूचकः ॥ ३१ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १-४ ॥

भाषा-यह बलि, यव या भात के माण्ड से "रुद्राय नमः" मन्त्र से करे ३१॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥ १ ॥

इत्यधिकारसूत्रम् । प्रपाठकान्तमधिकृतं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

भाषा—यहां से दर्श और पौर्णमासयाग के विषय में कहा जायेगा ॥१॥

सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेदुत्तरामित्येके ॥ २, ३ ॥

'सन्ध्यां पौर्णमासीं यस्मिन्नहनि प्रातःसन्ध्याकालतस्तत्पूर्वत एव वा पौर्णमासी आरब्धा, तमेवाहः 'उपवसेत्' । 'एके' आचार्याः 'उत्तराम्' अस्तमितोदयामुच्चैरुदयां वा पौर्णमासीमुपवसेत् 'इति' आहु; तत्रापि न दोष इत्याशयः २-३

भाषा—दर्श पौर्णमासयाग करना हो तो, उस २ दिन के पूर्व उपवास रहे । सन्ध्या पौर्णमासी * लक्ष्य करके यह उपवास करे; उत्तरा पौर्णमासी में (अस्तमितोदया) * या उच्चैरुदया * में ही करे । कोई २ आचार्य कहते हैं । अर्थात् गोभिलाचार्य के मत से जिस दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो,

---

* १० म और ११ एकादश सूत्र देखने से ये तीन भेद समझ पड़ेंगे ।

पश्चात् अपरान्ह में या रात्रि में परिवा हो, या अरुणोदय तक ही पूर्णिमा हो, उसी दिन उपवास करे। किसी २ के मत से उत्तरा पौर्णमासी उपवास के योग्य है। अर्थात् जिस दिन चतर्दशी होकर सूर्यास्त समय या उसके पीछे पूर्णिमा हो॥ २॥ ३॥

अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येत तामभावास्याम् ॥ ४ ॥

उपवसेते यनुवर्त्तते। एतेन गताध्वाऽमावास्या नोपास्यंति फलिता ॥ ४ ॥

भाषा-जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो, सूर्योदय ही से सम्पूर्ण अमावस्या वा पीछे प्रतिपत् हो, उसी दिन अमावास्या का उपवास होगा। इससे जिस दिन चतुर्दशी के पीछे अमावास्या हो जिसको गताध्वा' कहते हैं, उसमें उपवास सुतरां निषिद्ध हुआ। फल तो पूर्णिमा और अमावास्या के उपवास में है, और दोनों ही में उदयातिथि ग्राह्य है, सुतरां पूर्वपक्ष याग की परिवा और अपर पक्षयाग के प्रतिपत् सूर्योदय में जिस दिन जो तिथि हो, उसे लेना ॥ ४ ॥

पक्षान्ताउपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ॥ ५ ॥

यावज्जीवं सर्वेषामेव मासानां 'पक्षान्ताः' अमावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्य्यः। किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वेषामेव पक्षाणामादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः' तासु वक्ष्यमाणलक्षणोयागः कार्य्यः॥५॥

भाषा-जब तक जीवे, प्रति मास के पक्षान्त में अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा में उपवास करे एवं प्रतिमास के पक्षादि में अर्थात् शुक्ल और कृष्ण दोनों परिवा तिथियों में याग करे ॥ ५ ॥

आमावास्येनहविषापूर्वपक्षमभियजतेपौर्णमास्येनापर पक्षम् ॥ ६ ॥

अमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपदि यद्धविर्हूयते तेनैव 'आमावास्येन' हविषा' 'पूर्वपक्षम्' शुक्लपक्षं पञ्चदशाहं समग्रमेव 'अभि' व्याप्य 'यजते' यागं कृतमिति स्वीकृतं स्यात्। एवं 'पौर्णमास्ये' हविषापि 'अपरपक्षं' सर्वमिति ॥६॥

अत्र प्रसङ्गात्, उपवास्य—पौर्णमास्यामावास्यानिर्णयाय च पौर्णमास्यादि लक्षणं तत्तद्भेदनिर्णयञ्चाह—

भाषा-अमावास्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की परिवार को जो "याग" किया जावेगा. वही याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्तयाग किया हुआ मानना और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की परिवा में जो याग किया जायेगा, उसी में समस्त कृष्णपक्ष व्यापी याग सम्पन्न जानो॥६॥

यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः सङ्कर्षः सामावास्या ॥ ७ ॥

'सूर्याचन्द्रमसोः' ग्रहयोः मिथः 'यः' यस्यां तिथौ 'परमः' अतिशयितः 'विकर्षः' विप्रकर्षः दूरतोऽवस्थानम् (उभयोर्मिथः सप्तमराशिस्थत्वात्). 'सा' तिथिः 'पौर्णमासी'; 'यः' यस्यां तु 'परमः' अतिशयितः 'सङ्कर्षः' सन्निकर्षः सान्निध्यम् (उभयोरेकराशिस्थत्वात्), सा' तिथिः 'अमावास्या' ॥ ७ ॥

भाषा-सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों के जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थिति होने से अति दूर में अवस्थिति होती है, उसी तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं। एवं जिस तिथि में इन दोनों ग्रहों के परम संकर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अमावास्या कहते हैं॥ ७॥

यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येत तामभावास्याङ्कुर्वीत दृश्यमानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति ॥ ८, ९ ॥

'यदहः' यस्मिन् दिने 'तु' 'चन्द्रमा न दृश्येत एव', 'ताम् तिथिम् 'आमावास्यां' 'कुर्वीत' स्वीकुर्वीत। 'एकदा' एकस्मिन् काले अहोरात्रयोः दृश्यमानेऽपि' चन्द्रमसि, सा 'गताध्वा' प्राप्तपथा अमावास्येति लब्धनामा 'भवति' इति' गत-मिदं पौर्णमास्यलक्षणम् ॥ ८,९ ॥ पौर्णमासी त्रिविधेत्याह—

भाषा—जिस रात्रि में चन्द्रमा न दीखे उस को आमावास्या कहते हैं। एकबार केवल कुछ समय के लिये चन्द्रदर्शन की सम्भावना के स्थानमें

भी अमावास्या स्वीकार की जाय उसको 'गताध्वा' कहते हैं । अर्थात् आरब्धगति आमावास्या कहने से इससे जिस सूर्योदय कालमें या उसके पीछे सन्ध्या के पीछे तक भी चतुर्दशी हो किन्तु रात्रिमें आमावास्या हो उसी को "गताध्वा" कहते हैं. एवं जिस दिन सूर्योदय से 'आमावास्या सम्पूर्ण रात्रि भी' आमावास्या वा कुछ रात्रि बीते पर भी प्रतिपदा आरम्भ हो; उसको भी आमावास्या ही कहते हैं । यों दो प्रकार की अमावास्या हुई ॥ ८-६ ॥

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वास्तमितोदिता वोच्चैर्वाऽथ यदहः पूर्णो भवति ॥ १०-११ ॥

'अथ' 'यदहः' यस्मिन् दिने 'पूर्णः भवति' चन्द्रमा, सैव पौर्णमासीति शेषः । 'पौर्णमासीकालाः' 'त्रयः भवन्ति' । तथाहि—सन्ध्येत्यादि । सूर्योदयात् तत्पूर्वतो वा पूर्णिमा यत्र सा सन्ध्या-पौर्णमासी, सूर्यास्तमितेन साकमेव पूर्णोदयो दृश्येत चेत् सा अस्तमितोदिता-पौर्णमासी, सूर्यास्तात् उच्चैः ऊर्ध्वं रात्रौ पूर्णश्चेत् चन्द्रः, सैव उच्चैः-पौर्णमासीत्युक्तास्त्रयः कालाः ॥ १०, ११ ॥

भाषा—जिस रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की सम्भावना हो तब ही पूर्णिमा होती है । पूर्णिमा तीन प्रकार की है । सन्ध्या पूर्णिमा, (प्रातः सन्ध्या के पहिले आरम्भ, रात्रि में पूर्णिमा वा प्रतिपदा होती है ।) दूसरी, अस्तमितोदया पूर्णिमा (सूर्यास्तकाल में प्रारब्ध सुतरां दिन में चतुर्दशी एवं रात्रि में और उस के पीछे दिन बहुतरा-पूर्णिमा होती है) तीसरी, उच्चैः पूर्णिमा, (सूर्यास्त के पीछे चतुर्दशी छोड़ कर पूर्णिमा जो पर दिन बहुत रात्रि तक रहेगी) ॥ १०-११ ॥

पृथगेवैतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीयीत वा तद्विद्भ्यो वा पर्वावगमयेत् ॥ १२ ॥

एतस्य ज्ञानस्य ग्रहनक्षत्रकालादिबोधस्य 'पृथगेव' 'अध्यायः' पाठ्योग्रन्थः 'भवति' ज्योतिःशास्त्रमिति । 'अधीयीत वा' तं ग्रन्थं समग्रं 'तद्विद्भ्यः' ज्योतिर्वेत्तृभ्यः; सम्पूर्णशास्त्राध्ययनेऽप्रवृत्तश्चेत् 'पर्व' पक्षान्तकालः तन्मात्रमेव 'अवगमयेत' अवगतं स्यात् । अतोऽप्रकृतवर्णनाविस्तारोऽत्रास्माभिर्न क्रियतइतिभावः ॥ १२ ॥

भाषा—ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति गत्यादि विषय विशेष जानने से, ये सब बातें भली भली भांत जानी जासकती हैं। इस के लिये ज्योतिषशास्त्र को पढ़े या सामान्यतः इस को कुछ २ जान लेने से भी होसकता है ॥१२॥

अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तम्पर्युपलिम्पत्यथेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा खादिरपालाशालाभे विभीतकतिल्वकबाधकनीवनिम्बराजवृक्षशाल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जꣳसर्ववनस्पतीनामिध्मोयथाꣳ स्याद्विशाखानि प्रति लूनाः कुशाबर्हिरुपमूललूनाः पितृभ्यस्तेषामलाभेशूकतृणशरशीर्य्यबल्वजमुतवनलशुण्ठवर्जꣳ सर्वतृणान्याज्यꣳ स्थालीपाकीयान् व्रीहीन् वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणꣳ स्रुवमनुगुप्ता अप इति यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामो न तदहः प्रसृज्येत दूरादपि गृहानभ्येयादन्यतस्तुधनं क्रीणीयान्न विक्रीणीताबहुवादी स्यात् सत्यं विवदिषेदथापराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यꣳ स्यात् सर्पिर्मिश्रꣳ स्यात् कुशलेन ॥ १३-२६ ॥ ५ ॥

'अथ' कालनिर्णयानन्तरमुपवासदिनकर्त्तव्यतां वदामइति । 'यदहः' यस्मिन् दिने 'उपवसथः' उपवासः कर्त्तव्यः 'भवति', 'तदहः' तस्मिन् दिने, अर्थतः पूर्वपक्षयागाय अमावास्यायामपरपक्षयागाय सन्ध्यानामपौर्णमास्यां च 'पूर्वाह्णे एव' 'प्रातराहुतिं हुत्वा' अग्निहोत्रीयप्रातर्होमं समाप्य इमानि कर्त्तव्यानि । तानि च यथा—'एतदग्नेः' प्रातराहुत्यादिसाधनाग्नेः 'स्थण्डिलं' 'गोमयेन' 'समन्तं पर्युपलिम्पति' समन्तात् सर्वत उपलिम्पेत् इत्येकम् । 'अथ' तदनन्तरम् । 'खादिरान् वा पालाशान वा' 'इध्मान्' इन्धनकाष्ठान् 'उपकल्पयते' उपकल्पयेत

उपस्थितान् कुर्वीतेति द्वितीयम् । तत्र 'खादिरपालाशलाभे' एतत्सूत्रपरिगणित-बिभीतकादिकतिपयवृक्षेध्मवर्जं 'सर्ववनस्पतीनाम्' एव 'इध्मः' 'यथार्थं' अर्थः प्रयोजनं सिद्धं यथा स्यात् तथा कृत्वा ग्रहणीयः 'स्यात्' । 'विशाखानि' येभ्यः स्थानेभ्यः शाखा विश्लिष्टा भवन्ति, तानि सन्धिस्थानानि 'प्रति' लक्षीकृत्य 'लूनाः' 'छिन्नाः' 'कुशाः' कुशतृणानि 'बर्हिम्' बर्हिषे बर्हिरास्तरणादिदेवकार्य्यार्थं मुप-कल्पयेतेति तृतीयम् । 'उपलूनमूलाः' मूलसमीपतश्छिन्नाः कुशाः कुशतृणानि 'पितृभ्यः' पितृकार्य्यार्थमुपकल्पयेतेति चतुर्थम् । तत्र 'तेषां' कुशानाम् 'अलाभे शूकादिकवर्जम् 'सर्वतृणानि' एव ग्राह्याणि । 'आज्यं' घृतं सम्पाद्यमिति पञ्चमम् । 'स्थालीपाकीयान्' स्थालीपाके पक्तव्यान् 'व्रीहीन् वा यवान् वा' सम्पादयेदिति षष्टम् । 'चरुस्थालीं' पाकपात्रं सम्पादनीय मिति सप्तमम् । 'मेक्षणं' दर्वीविशेष-मासाद्यमित्यष्टमम् । 'स्रुवम्' आहुतिसाधनमासाद्यमिति नवमम् । 'अनगुप्ता अपः' पूर्वोक्त लक्षणाः आसादनीयाइति दशमम् । अन्यानि 'यानि च' 'अनुकल्पम्' पश्चादिहैव दर्शपौर्णमासयागकर्त्तव्यानि 'उदाहरिष्यामः' वक्ष्यामः, तान्यपि सर्वाणि सम्पाद्य स्थण्डिले उपस्थाप्यानि । अथ तद्दिनप्रतिपाद्यनियमानाह— 'तदहः' तस्मिन्नहनि 'न प्रसृज्येत' गृहत्यागं न कुर्वीतेति प्रथमनियमः । यदि पूर्वं दूरगत स्तिष्ठेत् तर्हि तद्दिने तस्मात् 'दूरादपि' 'गृहान्' स्वकीयान् 'अभ्येयात्' आगच्छेदिति द्वितीयनियमः । 'अन्यतस्तु' वणिजादेः सकाशात् 'धनं' कश्चद्द्रव्यं 'क्रीणीयात्' 'न विक्रीणीयात्' इति तृतीयनियमः । 'अबहुवादी' मितभाषी 'स्यात्' इति चतुर्थनियमः । 'सत्यं' 'विवदिषेत' वक्तुमिच्छेत् "सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः" (ऐ० ब्रा० ३, १, ३,)-इति श्रुतिपरिचयान्नि-श्चयमेव सर्वतः सत्यपालने न विद्यते शक्तिर्मनुष्याणामिति यावच्छक्यं सत्यमेव वदेदिति पञ्चमनियमः । 'अथ' इध्मादिसम्पादनानन्तरम् 'अपराह्ण एव' 'दम्पती' यजमानस्तस्य पत्नी च उभावेव स्नानं प्रकृत्य 'औपवसथिकं' उपवासदिननियम-सेव्य मन्त्रादिकं तथा च 'लवणं' मधु मांसं च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत, नोरुरात्रौ च किञ्चन'—इति गृह्यान्तरवचनानुगतमिति यावत् (उरु-रात्री समधिकारात्री; अधिकारात्रिभोजनेन पीडासम्भवस्तथा च सत्यां परदिन-

कार्यव्याघातः स्यादित्यभिप्रायः) 'एतयोः' दम्पत्योः 'यत' किञ्चन 'काम्यम्' ईप्सितं 'स्यात्' तदेव 'सर्पिर्मिश्रं' घृतसहितं 'कुशलेन' सन्तुष्टमनसा 'भुञ्जीयाताम्' ॥ १३–२६ ॥

भाषा—अब उपवास दिन के कर्त्तव्य आदि का उपदेश करते हैं। जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन जब कि सूर्योदय में पूर्णिमा हो और जिस दिन सूर्योदय में अमावास्या हो उस दिन पूर्वाह्न में अग्निहोत्र की प्रातराहुति समाप्त कर ये सब कार्य करे। अर्थात् पहिले गोबर से अग्निगृह को अच्छी प्रकार लीपे। दूसरे, खैर, या पलाश के इन्धन इकट्ठा करे। यदि खैर या पलाश के संग्रह करने में कठिनता हो तो बहेड़ा लोध, बाधक (?) कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, सेमर, अरलु, दधित्थ, इन ग्यारह को छोड़ कर अन्य जो कोई काठ हो उनका यज्ञीय इन्धन हो सकता है। तीसरे देव कार्य के लिये स्कन्ध से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे। चौथे पितृ कार्य के लिये मूल से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे। यदि कुशा संग्रह करने में कठिनता हो तो, शुक्तृण, शर, शीर्य, बल्वज, सुतव, (?) इन सात तृणों को छोड़ कर अन्य जो कोई तृण हो यज्ञार्थ व्यवहृत हो सकता है। ५ म घृत, ६ ठे, स्थाली पाक में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या यव, सप्तम, चरुस्थाली (पाकपात्र), ८ म, मेक्षण; ९ म, स्रुव; १० म, रक्षित जल इन उक्त १० को एवं आगे जो दो कहे जायेंगे इन सब को लाकर अग्निगृह में उपस्थित करे। उस दिन कहे जाने वाले नियमों को भी प्रतिपालन करे। पहिले, गृहत्याग नहीं करे, दूसरे, दूरस्थ होने पर भी ऐसे अवसर में अपने घर को लौट आवे; तीसरे, अन्य व्यक्ति से वस्तु मोल तो ले, पर अपनी वस्तु बेचे नहीं; चौथे, प्रयोजन से अधिक न बोले, पाचवें, सम्पूर्ण रूप से सत्य ही बोले अनन्तर स्त्री, पुरुष, दोनों ही अपराह्न में स्नान कर उपवास दिन के नियमानुसार जो इच्छा हो वही घी मिला कर तृप्ति के साथ भोजन करे ॥ १३–२६ ॥

गो० गृ० सू० के प्रथमाध्याय के पञ्चमखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१–५॥

मानतन्तव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुति-र्भवति य औपवसथिकं नाश्नात्यनीश्वरो ह क्षोधुको भव-त्यकाम्यो जनानाम्पापवसीयसी ह्यस्य प्रजा भवति य औपवसथिकं भुङ्क्त ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां वसीयसी ह्यस्य प्रजा भवति तस्माद्यत् कामये-तौपवसथिकं भुञ्जीयातामध एवैताꣳ रात्रिꣳ शयीयाता-न्तौ खलु जाग्रन्मिश्रवेवैताꣳ रात्रिं विहरेयातामितिहा-समिश्रेण वा केनचिद्वा जुगुप्सेयातान्त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्म्म-भ्यो न प्रवसन्नुपवसेदित्याहुः पत्न्या व्रतं भवतीति १—६

'मानतन्तव्यो' नामाचार्यः 'उवाच ह' निश्चयत्वेन कथितवान् । तथाहि आहुतेत्यादि पत्न्या व्रतं भवतीत्यन्तम् । 'यः' यजमानः 'औपवसथिकम्' उवाच स-दिन-भोज्यं भोजनं 'न अश्नाति' निराहारएव तिष्ठति, 'एतस्य' 'मानुष्या-हुतिः' मनुष्योपकारार्था आहुतिः यागक्रिया 'वै' निश्चयम् 'आहुता' निष्फला 'भवति' एवञ्च 'क्षोधुकः पुरुषः 'ह' निश्चयमेव अनीश्वरः' व्रतकर्मकरणे दौर्बल्या-दसमर्थः 'भवति' किञ्च 'जनानाम्' लोकसाधारणानामपि 'अकाम्यः अप्रियः भव-ति । अपिच 'ह' निश्चयमेव 'अस्य' क्षुद्युक्तस्य 'प्रजा' सन्ततिः 'पापवसीयसी' पापबुद्धिवशीभूता 'भवति' । पक्षान्तरे—'यः औपवसथिकं भुङ्क्ते' सः सुतराम् 'अक्षोधुकः' क्षुच्छून्यः 'ईश्वरः' व्रतकर्मकरणे सबलत्वात् 'भवति' । किञ्च 'जना-नां' लोकसाधारणानामपि' 'काम्यः' प्रियः भवति । अपिच 'ह' निश्चयमेव 'अस्य' क्षुच्छून्यस्य 'प्रजा' सन्ततिः 'वसीयसी' स्ववशभूता 'भवति' । 'तस्मात् क्षुद्युक्तस्य यजमानस्य एवं निन्दाश्रवणात् 'औपवसथिकम्' उपवसथ-दिन-भोज्यं 'यत् कामयेत्' 'भुञ्जीयाताम्' दम्पतीति । 'एताम्' उपवासदिवसीयां 'रात्रिम्' 'अधः' नीचैः 'शयीयाताम्' । किञ्च 'तौ' दम्पती 'खलु' निश्चयम् । 'एतां रात्रिं' 'जा-ग्रन्मिश्रौ' अंशशो निद्रितौ अंशशो जागरितौ 'एव' 'विहरेयातां' यापयेताम् ।

तत्र जागरणोपायमभिगमयितुमाह—इतिहासमिश्रेण वा' इतिहासो वैदिकेतिवृत्तः "ब्रह्मह व इदमेक मग्रआसीदित्यादि" यदालोचनामिश्रितेन स्वापेन रात्रिं यापयेताम् ; 'वा' अथवा 'केनचित्' येनकेनाप्यभियुक्ततरजनेन साकं धर्मालोचनया जागरितौ रात्र्यंशं यापयेताम्, न तु सर्वां रात्रिम् अस्ताद्यदयान्तां जडाविव सुप्तौ भवेतामिति भावः । 'तु' परन्तु जाग्रदवस्थायाम् 'अव्रत्तेभ्यः कर्मभ्यः' स्त्रीसंसर्गादिभ्यः 'जुगुप्सेयातामेव' आत्मनो रक्षणं कुर्वीयातमेवेति । 'प्रवसन्' प्रवासं कुर्वन् 'नवपवसेत्' 'इति आहुः' केचनेति । परं तत्रापि गृहे पत्नीस्याच्चेत् तया 'पत्न्या' व्रतं भवति' न तु व्रतभङ्गाशङ्केति भावः । 'इति' खण्डारम्भादि एतत्पर्यन्तं समस्तमेव मानतन्तव्याचार्याभिमतमिति यावत्, समाप्यभिमतमेवेति प्रदर्शितम् ॥ १—९ ॥

भाषा—'मानतन्तव्य' नामक आचार्य कहते हैं कि "जो कोई यजमान उपवास दिन में उस दिनके नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उसके मनुष्योपकारार्थ किये हुये सम्पूर्ण यागक्रियायें निष्फल होती हैं। पूर्व दिन निराहार रहने से परदिन में क्षुधा से व्याकुल होकर चञ्चलता के कारण यागक्रिया करने में अवश्य असमर्थ होगा। * और साधारण लोगों को भी अप्रिय होगा। एवं उसके पुत्र, पौत्रादि प्रजा भी पापबुद्धि (१) के वशी भूत होंगी (२)। तात्पर्य यह है कि भोजन करके कार्य करने से मन स्थिर रहने से यागक्रिया सब सम्पन्न होगी और साधारण लोगों को भी प्रिय होगा, एवं उसके पुत्र, पुत्रादि, प्रजा भी वश में रहेंगी इसलिये भूखे रह कर कोई कार्य न करे स्त्री पुरुष दोनों ही यथेच्छ भोजन करे। उपवास के दिन रात्रि में खाट के ऊपर शयन न करे एवं वैदिक इतिहास की आलोचना में या अन्य लोगों के साथ जिस किसी प्रकार हो

* क्षुधातुर चञ्चल चित्त व्यक्ति किसी काम के योग्य नहीं। (१)—अपने शरीर में कष्ट देख कर क्या कोई भाई प्रसन्न होंगे। (२) पितृ गण के दृष्टान्तानुसार निराहार रह कर कार्य करना चाहिये, ऐसा जान कर सन्तति गण उत्कट क्षुत्कष्ट सहने के कारण दोनों ही नित्य कर्म के करने से अलग रहेंगे अर्थात् छोड़ देंगे, सुतरां वे लोग पितृ गण के अवश एवं पाप वश हैं यह कौन नहीं कहेगा।

धर्म के विचार में रात्रि का आद्यन्त काल जाग कर व्यतीत करे अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि गाढ़ निद्रा में विभून न रह कर, थोड़ा सोवे, परन्तु स्त्री संसर्गादि व्रतनाशक कार्य से अपने को बचावे। प्रवास में रहने से उपवास न रहे या घर में स्थित पत्नी द्वारा भी यह व्रत हो सकता है ॥ १-६ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्य्यात् ॥ १० ॥

उपवासदिने भोजनफलमभोजनफलञ्च द्वे एवोक्ते, तदत्र यथा कामयेत तथा कुर्यात्' अनीश्वरत्वादिकमिच्छेच्चेत् अभोजनएव स्यात्, अपीश्वरत्वादि कमिच्छेच्चेद् भोजनं कुर्वीतैव ॥ १० ॥

भाषा—भोजन करके याग क्रिया करने में क्या फल है एवं भूखे रह कर करने में क्या विशेषता है सो कहा गया-दोनों में से चाहे सो करे ॥१०॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति यच्चाम्नायो विदध्यात् । ११, १२॥

'एवं' कथितप्रकारः 'एव' आहिताग्नेः' अपि नित्याग्निहोत्रिणोऽपि उपवसथः' उपवासनियमः 'भवति', 'यच्च' उपवसथकार्यं स्थण्डिललिम्पनादिकम् 'आम्नायः' वेदः विदध्यात्' विधातुं युज्यते, तदेवास्माभिः संस्मृत्य विहितमिति श्रद्धोत्पादनम् ॥ ११, १२ ॥

भाषा—उक्त उपवास के नियमादि सब "आहिताग्नि" के लिये भी हुए, इसी प्रकार वेदका विधि है जानो ॥११, १२॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वाऽग्रेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य्य तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्माऽऽसनात् तृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति ॥ १३-१४ ॥

'अथ' अनन्तरं तत्परदिने प्रतिपदि पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिं हुत्वा' 'अग्निम्' 'अग्रेण' सम्मुखीकृत्येति यावत् 'परिक्रम्य' प्रदक्षिणीकृत्य 'अग्नेः' 'दक्षिणतः'

दक्षिणस्यां दिशि 'प्रागग्रान्' पूर्वस्यां दिशि कृताग्रभागान् 'दर्भान्' 'आस्तीर्य' पातयित्वा 'तेषां' पातितदर्भाणां 'पुरस्तात्' सम्मुखे 'प्रत्यङ्मुखः' पश्चिमाभिमुखः 'तिष्ठन्' स्थितिं कुर्वाणः 'सव्यस्य पाणे' वामहस्तस्य 'अङ्गुष्ठेन' 'उपकनिष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या च' ब्रह्मासनात्' ब्रह्मानामर्त्विज उपवेशनाय पातिताद् दर्भपुञ्जात् 'तृणम्' एकम् 'उपसंगृह्य' गृहीत्वा 'दक्षिणापरं' दक्षिणस्याः अपरस्याः पश्चिमायाश्च दिशोन्तरालं नैर्ऋतं कोणम् 'अष्टमं देशं' प्रति 'निरस्तः परावसुः'—इति मन्त्रेण निरस्यति' प्रक्षिपेत् ॥ इति तृणनिरसनम् ॥ १३, १४ ॥

भाषा—इसके पर दिन में पूर्वाह्न में यथानियम प्रातराहुति होम समाप्त कर अग्नि को अपने सम्मुख रक्ख, प्रदक्षिणा करके अग्निके दक्षिण में कई एक कुशा गिरावे, उन कुशाओं के अग्रभाग पूर्व दिशामें रहेंगे। उस डाले हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर वाम हाथ की अङ्गुष्ठ और अनामिका अङ्गुली से ब्रह्मा के लिये डाले हुए कुशासन से एक तृण लेकर 'निरस्त परावसु' मन्त्र से नैऋत कोण में फेके। इसी को 'तृणनिरसन' कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

अप उपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसन उपविशत्यावसोः सदने सीदामीत्यग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्त आकर्म्मणः पर्यवसानाद्भाषेत यज्ञसंसिद्धिन्नायज्ञीयां वाचं वदेद्य- यज्ञीयां वाचं वदेद्वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेदपि वा नमोवि- ष्णव इत्येवं ब्रूयात् ॥ १५-२० ॥

'अथ' अनन्तरम् 'ब्रह्मा' नाम सर्वकार्यपर्यवेक्षक ऋत्विक् 'अपः' उदकानि 'उपस्पृश्य' स्पृष्ट्वा 'आसने' तत्र, 'आवसोः सदने सीदामि' इति मन्त्रमुच्चरन् 'उपविशति' उपविशेत्। 'आ कर्मणः पर्यवसानात्' कर्म्मान्तं यावत्' अग्निम् अभिमुखः' सुतरामुत्तरास्यः, 'वाग्यतः' नियमितवाक् यज्ञीयवचनातिरिक्तवाक् शून्यः, प्राञ्जलिः' कृताञ्जलिपुटः सन् 'आस्ते' आसीत। यदुक्तं वाग्यतइति तदेव स्फुटयति,—'यज्ञसंसिद्धिं' यज्ञानुकूलां वाणीं 'भाषेत' वदेत्' 'अयज्ञीयां वाचं न

वदेत्', 'यदि' प्रमादपि 'अयज्ञीयां वाचं वदेत्', 'वैष्णवीम्' विष्णुदेवताकां यां कामपि 'ऋचं' 'यजुर्वा' 'जपेत्' पठेत्, 'अपिवा' अथवा नमोविष्णवे 'इति' एवदेव 'ब्रूयात्' ॥ १५-२० ॥

भाषा—अनन्तर ब्रह्मा नामक सब कार्य के निरीक्षक एक प्रधान पुरुष जल से हाथ पांव धोकर उस डाले हुऐ कुशासन पर अग्नि की ओर सम्मुख करके सुतरां उत्तर मुख हो दोनों हाथ जोड़ "आवसोः सदने सीदामि" मंत्र पढ़ कर नियमित वाक्य मात्र बोलने को मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कार्य समाप्ति तक बैठे। यज्ञ-सम्बन्ध की बातें होंगी उसे ही कहे, अन्यान्य कोई वाक्य न बोले, यदि भ्रम से कोई दूसरी बात बोले तो विष्णु देवता की स्मारिका किसी ऋचा वा यजुर्वेद का मन्त्र पढ़े या 'नमो विष्णवे' कहने से भी निर्वाह होगा ॥ १५—२० ॥

यद्यु वा उभयं चिकीर्षेद्धौत्रञ्चैवैतेनैव कल्पेन छत्रं वोत्तरासङ्गं वोदकमण्डलुं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय तेनैव प्रत्याव्रज्याथान्यच्चेष्टेत् ॥ २१ ॥ ६ ॥

'यदि उ वै' यदि 'हौत्रं च ब्रह्मत्वञ्च' उभयमेव एकः 'चिकीर्षेत्' कर्तुमिच्छेत्, तर्हि 'एतेनेव कल्पेन' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण 'छत्रं', 'वा' अथवा 'उत्तरासङ्गं' उत्तरीयकम्, 'वा' अथवा 'उदकमण्डलुं' उदकपूर्णं कमण्डलुं 'वा' अथवा 'दर्भवटुं' कुशानिर्मितं ब्राह्मणं ब्रह्मासने' तत्रैव 'निधाय' संस्थाप्य 'तेनैव' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रदक्षिणादिना 'प्रत्यावर्ज्य' प्रत्यावृत्य 'अथ' तदनन्तरम् 'अन्यत्' इह दर्शपौर्णमासे चरुप्रकरणादिकं यत् किमपि विशेषकार्यजातमग्रे वक्ष्यति, तदतिरिक्तम्, अग्निहोत्रप्रकरणे कथितं भूमिजपादिकं सर्वमविशेषेण 'चेष्टेत्' कुर्वीत ॥२१॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१-६॥

भाषा—यदि होतृ-कार्य और ब्रह्मत्व दोनों क्रियाओं को एक ही व्यक्ति करने की इच्छा करे तो ब्रह्माके लिये उसी डाले हुए आसन पर उसी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जल पूर्ण कमण्डलु या कुशा निर्मित ब्राह्मण स्थापन करके उसी प्रकार प्रदक्षिणा आदि पूर्वक स्वीय होतृ-के आसन पर वापस

आवे। अनन्तर इसके अग्नि कार्य मात्र ही साधारण कार्य सब (अग्निहोत्र प्रकरणोक्त भूमि जपादि सब ही करे) चरु-पाकादि जो कुछ इसमें विशेष कर्त्तव्य है, उस विषय में विशेष विधि पीछे कहा जावेगा ॥ २१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ १।६

अथोलूखलमुसले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्योपसादयति ॥ १ ॥

'अथ' तदनन्तरम् 'उलूखलमुसले' 'शूर्पञ्च' 'प्रक्षाल्य' 'अग्नेः पश्चात्' 'प्रागग्रान् दर्भान्' आस्तीर्य तदुपरि प्रक्षालितानि तानि 'उपसादयति' उपस्थापयति॥१॥

भाषा—पश्चात् उलूखल, मूसल, और शूर्प अच्छे प्रकार जल से धोकर अग्नि के पीछे भाग में कई एक प्रागग्र कुशा डाल कर उस पर रक्खे ॥ १ ॥

अथ हविर्निर्वपति व्रीहीन् वा यवान् वा कꣳसेन वा चरुस्थाल्या वामुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादेशꣳसकृद् द्विस्तूष्णीम् ॥ २–३ ॥

'अथ' तदनन्तरमुपसादिते तत्रोलूखले 'हवि' हविषे हविर्योग्यान् 'व्रीहीन् वा यवान् वा' 'निर्वपति' निर्वपेत् प्रक्षिपेत्। 'कंसेन वा चरुस्थाल्या वा' तत्र प्रक्षेपः कर्त्तव्यः। 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामि' अत्रामुष्मै-पद-श्रुतेः यत्र यद्देवताकं हविः कार्यं तत्र तथैवोल्लेखः, अग्न्यर्थहविर्निर्वापे 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि यथा, 'इति' अनेन मन्त्रेण 'देवतानामादेशं' देवतानामोल्लेखं 'सकृत्' एकवारं, 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्यं देवतानामोच्चारण रहितमपि निर्वपतीत्यनेन सम्बन्धः। इति निर्वापः ॥ २ ॥ ३ ॥

भाषा—तदनन्तर हविः पाकके उपयोगी करने के लिये चाहे धान्य हो या यव, कांसे के वर्त्तन से या चरुस्थाली से फेंके जितना धान्य या हवि के योग्य करना हो वह तीन ही वार में डाल देवे उनमें से एकवार "अमुष्मै"० इत्यादि मंत्र पढ़कर अन्य दोवार विना मन्त्र के डाले ॥ २–३ ॥

अथ पश्चात् प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्यान्त्रिः फलीकृतांस्तण्डुलांस्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्यइति ॥ ४ ॥ ५ ॥

'अथ' निर्वापानन्तरं 'पश्चात्' उलूखलस्य 'प्राङ्मुखः' तिष्ठन् 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्याम्, 'अवहन्तुम् उपक्रमते' । तत्र 'त्रिः' त्रिवारं 'फलीकृतान्' कण्डितान् 'तण्डुलान्' धान्यानां वा गृहीत्वा, देवेभ्यः देवकार्यार्थं 'त्रिः' त्रिवारम्, 'मनुष्येभ्यः' ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं द्विः द्विवारम्, 'पितृकार्यार्थं 'सकृत्' एकवारमेव 'प्रक्षालयेत्', 'इति' एवम् 'आहुः' पूर्वतनाः । इति अवहननम् ॥४-५॥

भाषा—तत्र उलूखल के पीछे पूर्वमुह खड़े होकर दोनों हाथ में मूसल पकड़ कूटे । कूटने से-तुष-विमुक्त धान्य या यव के तण्डुल * आदि तीनवार साफ कूट कर देवकार्य के लिये, ब्राह्मण भोजनादि मनुष्यकार्य के लिये दोवार, पितृकार्य के लिये एक ही वार जल में धोवे । यही प्राचीन प्रथा है ॥४-५॥

पवित्रान्तर्हितांस्तण्डुलानावपेत्कुशलश्रृतमिव स्थालीपाकं श्रपयेत्प्रदक्षिणमुदायुवञ्छृतमभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ६—८ ॥

'तण्डुलान्' तान् पवित्रान्तर्हितान् प्रक्षालनार्थं पवित्रस्य कुशानिर्मितबहुच्छिद्रपात्रविशेषस्य मध्ये स्थापितान् तत एव, 'आ वपेत्' स्थाल्यामिति शेषः । 'प्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा उदायुवन्' मेक्षणेन मिश्री कुर्वन् 'कुशलश्रृतम् इव' पाकपटुना पक्वमिव 'स्थालीपाकं' तं 'श्रपयेत्' । श्रपणानन्तरं तत्र पक्वेऽन्ने 'घृतमभिघार्य' घृताभि-घारणं प्रकृत्य अग्नेः 'उदक्' उत्तरस्याम् 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनरपि तत्र घृतपात्रं कुर्यात् । इति निष्पन्नः स्थालीपाकः ॥ ६-८ ॥

भाषा—कुशके बने "पवित्र" में साफ करने के लिये लिया हुए तण्डुल को, उसमें से लेकर स्थाली में डाले । पाक समय में "मेक्षण" से मिलाकर

* तुष आदि (भूसा वा छिलका) आवरण रहित शस्य (धान्य) मात्र को तण्डुल कहते हैं।

ऊपर नीचे इस प्रकार पाक करे। यह पाक एक प्रवीण पाक कर्त्ता के हाथ के बने हुए की नाई होना आवश्यक है। पाक होने पर घी का ढार दे अग्नि के उत्तर में उतार कर फिर उसमें भागानुसार घी मिलावे ॥६-७-८॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात् पुरस्ताद्दक्षिणउत्तरतः पश्चादिति सर्वतस्त्रिवृतरूपञ्चवृतं वा बहुलमयुग्मसꣳहतस्प्रागग्रैर्मूलानिच्छादयन्पश्चाद्दास्तीर्य्य दक्षिणतः प्राञ्चम्प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि कुर्य्यादेष परिस्तरणन्यायः सर्वेस्वाहुतिमत्सु ॥ ९–१५ ॥

वक्ष्यत्यनुपदं बर्हिषि स्थालीपाकेत्यादि (१९ सू०), ततश्च स्थालीपाकोत्तरणात् प्रागेव परिस्तरणं कर्त्तव्यमिति तत्प्रकार उच्यते;-'अग्निम्' 'उपसमाधाय' समिद्भिः प्रज्वाल्य, तस्य प्रज्वलितस्याग्नेः 'समन्तं' समन्तात् सर्वत सर्वासु दिक्षु 'कुशैः' कुशासङ्घैः 'परिस्तृणुयात्' परिस्तरणमाच्छादनं कुर्वीत तत्र क्रममाह—'पुरस्तात्' पूर्वस्यां, ततः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां, ततः 'उत्तरतः उत्तरस्यां ततः 'पश्चात्' पश्चिमस्याम् 'इति' 'एवम्'। तत्राप्यन्यदप्याह 'सर्वतः' सर्वास्वेव दिक्षु 'त्रिवृतं पञ्चवृतं वा' परिस्तरणं कार्यम्। तत्रापि 'बहुलं' बहुतृणं, परं तृणानां परस्परयोगेन युग्मत्वं संहतत्वं वा यथा न स्यात्। द्वयोर्योगे युग्मत्वं त्र्यादियोगे तु संहतत्व मिति विवेकः। किञ्च 'प्रागग्रैः' पूर्वदिङ्मुखैर्दर्भैः 'अग्रैः' अग्रभागैः प्रथमस्तृतानां कुशानां 'मूलानि छादयन्' एवमुत्तरत्रापि। 'वा' अथवा अग्रैर्मूलाच्छादनं न कुर्याच्चेत् 'पश्चात्' पश्चिमस्यां प्रथमतः 'आस्तीर्य' 'दक्षिणतः' 'तथा उत्तरेण' प्राञ्चं' पूर्वदिग्भागं 'प्रकर्षति' प्रकृष्टं कर्षेत् आकर्षणपूर्वकं मिश्रयेत्। तत्र तथा कर्षणाय 'दक्षिणोत्तराणि' दक्षिणाभिमुखानि च 'अग्राणि' कुशानां 'कुर्यात्' 'एषः' उभय विधएव परिस्तरणन्यायः' सर्वेषु आहुतिमत्सु अनुष्ठानेषु ज्ञेयः ॥ ९–१५ ॥

भाषा—उन्नीसवें सूत्र में स्थालीपाक को उतारने के बाद। आज्यसंस्कार कहा जावेगा। इसलिये स्थालीपाक उतारने के पूर्व ही "परिस्तरण" करे

जैसे-समित् प्रक्षेप आदि द्वारा अग्नि जलाकर उक्त अग्नि के चारो ओर कुशों से ढाक देवे। क्रम से पूर्व दिशा में, दक्षिण दिशा में, तब उत्तर दिशा में अन्त में पश्चिम दिशा में, सब ही ओर तीन या पांच बार कुशा से ढाक देवे; किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादन करे कि जिसमें दो, तीन, या उससे अधिक कुशा एक स्थान में मिल न जावें और सबही कुशाओं का अग्रभाग पूर्व की ओर रहे और उन्हीं कुशाओं के अग्रभाग के द्वारा उनका मूल आच्छादित रहे या (यदि कुश थोड़े हों) पश्चिम दिशाको छोड़ कर दक्षिणाग्र कुशाके द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराग्र कुशाके द्वारा उत्तर से पूर्व की ओर आकर्षित होगा। अर्थात् वृत्त या चतुष्कोण रूप नहीं आच्छादित कर त्रिकोण रूप आच्छादित करे। इसी को "परिस्तरण" कहते हैं यह सब प्रकार के आहुति विशिष्ट अनुष्ठानों में व्यवहृत होगा ॥ ९-१५ ॥

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पार्णान् वा । १६ ।

'एके' आचार्याः 'शामीलान्' शमीकाष्ठीयान् 'वा' पार्णान्' पलाशकाष्ठीयान् 'परिधीन्' कर्मप्रदीपोक्तलक्षणान् सीमरूपान् कुर्वन्ति ॥ १६ ॥

भाषा—कोई २ आचार्य शमी या पलाश की परिधि (सोमास्थापन) भी करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपाम्पूर्णः स्रुवः प्रणीता भावेन वास्यादित्येके १७-१८

'उत्तरतः' अग्नेरिति यावत्' 'अपां पूर्णः स्रुवः' 'प्रणीता' एतत् संज्ञको भवेत्। 'भावे' पूर्वोक्तचमसपात्रस्य 'न वा स्यात्' स्रुवः प्रणीता 'इति' एवम् 'एके' आचार्या वदन्ति तदपि न विरुद्धम् ॥ १७-१८ ॥

भाषा—अग्नि के उत्तर में जल-पूर्ण स्रुव की रक्षा करे उसको प्रणीता कहते हैं। कोई २ आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त चमस पात्र में जल रक्षित रहने से, स्रुवा में जल नहीं रखने से भी हानि नहीं ॥ १७-१८ ॥

बर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायाज्यार्ध्वंसध्ं स्कुरुते सर्पिस्तैलन्दधि पयो यवागूं वा ॥ १९, २० ॥

'बर्हिषि' आस्तृते तत्र कुशासमूहे 'स्थालीपाकम्' स्थाल्यां पक्वं चरुं तत्सहितस्थालीपात्रमिह ग्राह्यम् 'आसाद्य' संस्थाप्य, अथाज्यसंस्कारः;—'इध्मम्' इन्धनकाष्ठं पूर्वोक्तं पालाशाद्यन्यतमम् 'अभ्याधाय' अग्नौ अभितः प्रदाय पुनरपि सुप्रज्वाल्याग्नि-मिति यावत् । ततस्तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ 'आज्यम्' अनुपदवक्ष्यमाणां सर्पिरादीनामन्यतमं 'संस्कुरुते' संस्कुर्वीत । तथा च 'सर्पिः' घृतं 'तैलं' तिलस्नेहं 'दधि' 'पयः दुग्धं 'यवागू' वा ॥ १९ ॥ २० ॥

भाषा—उस डाले हुए कुशाओं पर स्थालीपाक स्थापन करके पुनः इन्धन डालकर अग्नि जला कर उसमें आज्यसंस्कार करे। आज्य से इस स्थल में घृत तैल, दधि, दुग्ध, या-यवागू जानो। इन पांच वस्तुओं में से जो कोई वस्तु मिले उसी से हो सकता है ॥ १६-२० ॥

ततएव बर्हिषः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ओषधिमन्तर्धाय छिनत्ति न नखेन पवित्रेस्थोवैष्णव्यावित्यनेन अद्भिरनुमार्ष्टि विष्णोर्मनसा पूते स्थ इति ॥ २१-२३ ॥

'ततः' पूर्वासादितात् 'बर्हिषः एव' 'प्रादेशमात्रे' प्रादेशप्रमाणे 'पवित्रे' 'कुरुते' कुर्वीत । कथमित्याकाङ्क्षायां वदति,-'ओषधिम्' व्रीह्यादिकम् 'अन्तर्धाय' मध्ये स्थाप्य "पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ"-'इति' अनेन मन्त्रेण 'छिनत्ति' छिन्द्यात् 'न नखेन'। अथ तदनन्तरम् 'पूते' पवित्रे 'अद्भिः' "विष्णोर्मनसा पूतेस्थः"-'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमार्ष्टि' अनुमृज्यात् ॥ २१-२३ ॥ निर्मिताभ्याञ्च ताभ्यां पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं विधत्ते;-

भाषा—अनन्तर उसी पूर्व संगृहीत कुशाओं के बीच से प्रादेश प्रमाण (बालिश्तभर) दो कुश ले कर 'तुम विष्णु देवता के हो सुतरां पवित्र हो' इस मन्त्र का पाठ करते ओषधि के बीचो बीच छेदन करे। उसके अनन्तर, 'विष्णु देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो' इस मन्त्र का पाठ करके उसको जल में धोवे ॥ २१-२३ ॥

सम्पूयोत् पुनात्युदगग्राभ्यास्पवित्राभ्यामङ्गुष्ठाभ्याञ्चोपकनिष्ठिकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिरु-

तूपुनाति देवस्त्वासवितोत्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभिरिति सकृद्यजुषां द्विस्तूष्णीम् ॥२४,२५॥

'सम्पूय' ते पवित्रे पूर्वोक्तप्रकारेण शोधयित्वा शोधिताभ्यां ताभ्यामेव 'पवित्राभ्याम्' कीदृशाभ्याम् उदगग्राभ्याम् 'उत्पुनाति' आज्यमित्याशयः । आज्ये पतितं तृणादिकं ततउद्धृत्य अग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः । कथङ्कृत्वा ? कतिवारम् ? केन मन्त्रेणेत्याकाङ्क्षात्रयं पूरयति;—'अंगुष्ठाभ्याम्' 'उपकनिष्ठिकाभ्याम्' अनामिकाभ्यां 'च' 'अङ्गुलिभ्याम्' 'अभित' 'संगृह्य' 'प्राक्शः' प्राग्गतं यथा स्यात्तथा, 'त्रिः' त्रिवारम् 'उत्पुनाति' । तत्र त्रिषु वारेषु 'सकृत्' एकवारं 'देवस्त्वेत्यादिना' 'यजुषा' यजूरूपमन्त्रेण 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' अमन्त्रक मेवेत्याज्योत्पवनम् ॥२४-२५॥

भाषा—उक्त प्रकार से दोनों "पवित्र" को शोध कर उत्तराग्र करके उसके द्वारा आज्योत्पवन करे अर्थात् आज्य में पतित तृण आदि बाहर कर पूर्व की ओर फेंक देवे । "आज्योत्पवन" काल में दोनों "पवित्र" को अङ्गुष्ठ और अनामिका अंगुलि से पकड़े एवं एकवार 'देवस्त्वा' इत्यादि 'यजू' रूप मन्त्र पाठ करे, पुनः दोवार विना मन्त्र उत्पवन करे ॥ २४-२५ ॥

अथैनेअद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेदथैतदाज्यमधिश्रित्योदगुद्वासयेदेवमाज्यस्यसंस्करणकल्पोभवतीति २६-२८

'अथ' तदाज्योत्पवनानन्तरम् 'एने' पवित्रे 'अद्भिः अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'अग्नौअपि' 'उत्सृजेत्' क्षिपेत् । अपि शब्दबलादन्यत्र क्षेपणेऽपि दोषाभावः । 'अथ' अनन्तरम् 'आज्यं' तदेव 'अधिश्रित्य' ज्वलदङ्गारेषु कृत्वैव 'उदक्' अग्नेरुत्तरस्यां-दिशि 'उद्वासयेत्' स्थापयेत् । आजस्य संस्करणकल्पः' 'एवम्' एव 'भवति' २६-२८

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १-७ ॥

भाषा—आज्योत्पवन के पीछे इन दो "पवित्रों" को जलमें धो कर अग्नि में फेंक दे । अनन्तर अग्नि के उत्तर में जलते हुए कई एक अंगारें पर, "पूतआज्यपात्र" रक्खे । यह आज्यसंस्कार का कल्प होता है ॥ २६-२८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १-७ ॥

पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

अग्नेरुत्तरस्मिन्नेव 'पूर्वं' पुरस्तात्स्थानम् 'आज्यम्' आज्यसहितमाज्यपात्रं भवेत्, किञ्च तत्रैव 'अपरः' तत्पश्चात्स्थानः 'स्थालीपाकः' पक्वचरुसहितस्थाल्याधारः भवेत् ॥ १ ॥

भाषा—चरुस्थाली और आज्यपात्र के अग्नि के उत्तर में रखने की व्यवस्था हुई है। (१।४।५, १।७।२६–२८) उनमें पहिले आज्यपात्र उसके पीछे चरुस्थाली रक्खे ॥ १५ ॥

पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातं होतुमेवोपक्रमते ॥ २ ॥

'पर्युक्ष्य' अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिना पर्युक्षणान्तं प्रकृत्य, 'स्थालीपाके' चरौ 'आज्यं' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'आनीय' क्षिप्त्वा 'मेक्षणेन' दर्वीविशेषेण 'उपघातम्' उपस्तरणाभिघारणरहितं होमं 'होतुम्' 'उपक्रमते' प्रवर्त्तेत। स्रुचि स्रुवेण प्रथममाज्यग्रहणं, ततश्चरुग्रहणं, ततः पुनराज्यग्रहणम् चेत् उपस्तीर्णाभिघारितं तदुच्यते होमीयम्; तत्र चरुग्रहणात् पूर्वमाज्यग्रहणमुपस्तरणमुच्यते, परस्ताच्चाभिघारणमिति। यत्र तु उपस्तरणमभिघारणञ्च न भवतः, स एव होम उपघात इति विवेकः ॥ २ ॥

भाषा—अग्नि कार्यमात्र में अनुष्ठेय पूर्वोक्त 'अदितेऽनुमन्यस्व' प्रभृति 'पर्युक्षण' के अन्तमें कार्य सब (१।३।१–५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक में आज्य प्रक्षेप कर 'उपघात' होम * करने के लिये उपक्रम करे ॥ २ ॥

यद्युवा उपस्तीर्णाभिघारितं जुहुयादाज्यभागावेव प्रथमौ जुहुयाच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पश्चावत्तन्तु भृगु-

* स्रुच् के मध्य में चरुग्रहण के पहिले स्रुवा के द्वारा आज्य ग्रहण को उपस्तरण (आस्तरण) एवं चरुग्रहण के पीछे आज्य ग्रहण को अभिघारण (आच्छादन) कहते हैं। तदनुयायी प्रथम आज्य पीछे चरु पुनः आज्य लेकर जो होम किया जावे उस को उपस्तीर्णाभिघारित कहते हैं। जिस होम में उपस्तरण या अभिघारण की आवश्यकता न हो उसे 'उपघात होम' कहते (यज्ञारम्भ द्योतक होम)।

णामग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शोजुहुयात् ॥ ३, ४ ॥

'यदि उ वा' यदैव 'उपस्तीर्णाभिघारितं' 'जुहुषेत्' होतुमिच्छेत्' तदैव 'प्रथमौ उपघातनामोपक्रमरूपहोमसम्पादनोपयोगिनौ 'आज्यभागौ' उपर्युपरि होमद्वयनिष्पादकौ 'जुहुयात्' अग्नाविति। एतावेव होमौ उपघातसञ्ज्ञौ प्रकृतहोमस्योपस्तीर्णाभिघारितस्योपोद्घातरूपत्वात्। अथेतिकर्त्तव्यतादिकं ब्रूतः-'चतुर्गृहीतम्' चतुःकृत्वः गृहीतं स्रुवेण स्रुचीति यावत्, 'आज्यं' सर्पिरादीनामन्यतमम् 'गृहीत्वा' अग्निमध्ये एव, उत्तरतः, उत्तरस्याम् 'अग्नये स्वाहा' 'इति' 'दक्षिणत' दक्षिणस्यां 'सोमाय स्वाहा' 'इति', 'प्राक्शः' प्राग्गतं यथा स्यात्तथा जुहुयात्। एतावेव होमौ उपघाताख्यौ। अत्र विशेषः-'भृगूनां' भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'तु पञ्चावत्तं, पञ्चकृत्वः आज्यग्रहणमिति ॥ ३ ॥ ४ ॥ इदानीमुपस्तीर्णाभिघारितहोमप्रकारं कथयति—

भाषा—जिस समय "उपस्तीर्णाभिघारित" नामक होम करने की इच्छा हो, उसी समय उसके पूर्व दो "उपघातहोम" करे। इस 'उपघातहोम, के करने में स्रुच् के मध्य में प्रतिवार स्रुवा की धारा ऊपर चार वार आज्य ग्रहण करना होगा, एवं इस चारवार ग्रहण किया हुआ आज्य पहिले 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के बीच में, उत्तर में और तत्पश्चात् 'सोमाय' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में, पूर्वदिग्गत करके होम करे। विशेषता यह है कि भृगुगोत्रोत्पन्न गणके प्रति होम में पांचवार आज्य ग्रहण करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

अथ हविषउपस्तीर्य्यावद्यतिमध्यात्पूर्वार्द्धाच्चतुरवत्ती चेद्भवति मध्यात्पूर्वार्द्धात्पश्चार्द्धादितिपञ्चावत्तीचेद्भवत्यभिघारयत्यवदानानिप्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायाअग्नयेस्वाहेतिमध्येजुहुयात्सकृद्वात्रिर्वैतेनकल्पेन ५-१०

'अथ' उपघातहोमानन्तरम् 'उपस्तीर्य' आज्येन स्रुचं सस्नेहां प्रकृत्य तदुपरि 'हविषः' चरून् 'अवद्यति' अवदाय गृह्णाति। अवदानप्रकारमाह-'चतुरवत्ती'

भृगुवंशीयादन्यः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्षीकृत्य पूर्वार्द्धात् अवद्यदीत्यनुवर्त्तते; किञ्च 'पञ्चावत्ती' भृगुवंशीयः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्षीकृत्य 'पश्चार्द्धात्' अवद्यति 'इति' एवमेव नियमः। 'अवदानानि' चतुर्गृहीतानि पञ्चगृहीतानि वा तानि 'अभिघारयति' अभिघारयेत् तदुपरि पुनः स्रुवाज्यधारापातं कुर्वीतेति यावत्। किञ्च 'अवदानस्थानानि' चरुस्थालीमध्यतो यतोयतः चरून् चतुः पञ्च वा कृत्वा अवदाय गृहीतानि तानि, 'अयातयामताये' यातयामता यागायोग्यता तदभावाय यागयोग्यतामेव रक्षयितुमिति यावत्, 'प्रत्यनक्ति' यत्र यत्र मेक्षणप्रवेशचिन्हं तानि सर्वाण्येव प्रति लक्ष्याज्यसिञ्चनं कुरुते कुर्वीतेत्यर्थः। ततः तदेव उपस्तीर्णाभिघारितं हविः प्रगृह्य "अग्नये स्वाहा"—'इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'मध्ये' अग्नेः, जुहुयात्, अयमेव होमोऽत्रोपस्तीर्णाभिघारित उच्यते। एतेन 'कल्पेन' कथितप्रकारेण 'सकृत् वा' एकवारं वा 'त्रिर्वा' त्रिवारं वा जुहुयात् ५।१०

भाषा—उपघात होम के पीछे उसी स्रुच के स्रुव से एकवार आज्य ग्रहण करके उसके ऊपर 'मेक्षण' से चरु ग्रहण करे। उसमें विशेषता यह है कि भृगु गोत्र का हो तो चरुस्थाली के मध्य में पश्चार्द्ध से एवं पांचवार चरु ग्रहण करे और अन्य गोत्र का हो तो चरुस्थाली के बीच में पूर्वार्द्ध से एवं चारवार मात्र चरुग्रहण करे पीछे जिस २ स्थान से 'मेक्षण' से चरु निकाल ले; आज्य से, उसी २ स्थान को सिञ्चित करे, जिस से चरु सूख न जावे-याग के योग्य रहे। अनन्तर उसी गृहीत चरु के ऊपर फिर 'आज्य' ढार कर उसी ऊपर नीचे आज्यविशिष्ट चरु से "अग्नये स्वाहा" मन्त्र पढ़ कर मध्य में हवन करे। यही उपस्तीर्णाभिघारित होम है। यों एक या तीनवार करे ॥ ५-१० ॥

अथस्विष्टकृतउपस्तीर्य्यावद्यत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात्सकृदेव भूयिष्ठं द्विरभिघारयेद्यद्युतश्चावत्तो स्याद्द्विरुपस्तीर्यावदाय द्विरभिघारयेत् न प्रत्यनक्त्यवदानस्थानंयातया मतायाअग्नयेस्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे जुहुयात् ॥११-१४॥

'अथ' अत्राथशब्देन प्रकरणान्तरत्वमात्रं लक्षयति, नत्वानन्तर्यम्; स्विष्टकृ-

-द्धोमात् पुरस्तादेव प्रकृतयागस्य वक्ष्यमाणत्वात् (१६ सू०)। 'स्विष्टकृते' स्विष्टकृद्धोमसिध्यर्थम्, पूर्ववत् 'उपस्तीर्य स्रुवाज्यं स्रुचि आस्तीर्य, तत्रैव चरुस्थालीमध्यतएव 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात् उत्तरार्द्धस्य प्रथमार्द्धात् 'भूयिष्ठं' बहुतरं 'सकृत' एकवारम् 'एव' अवद्यति अवदाय गृह्णाति; तदनन्तरं गृहीतं तं चरुं 'द्विः' द्विवारम् 'अभिघारयेत्' स्रुवाज्यधारया सिञ्चेत् । अत्र विशेषः कथ्यते,—यदि उ' 'पञ्चावत्ती' भृगुगोत्रः 'स्यात्' यजमानः, तर्हि 'द्विः' द्विवारम् 'अवदाय' 'उपस्तीर्य' द्विरभिघारयेत्' द्विवारमेवाभिघारणं कुर्यात् । किञ्च स्विष्टकृद्यागे 'यातयामतायै' यागायोग्यताभिया 'अवदानस्थानं' 'न प्रत्यनक्ति' अस्यैव होमस्यान्त्यच रुहोमत्वात्तष्टेऽपि तस्मिन् क्षत्यभावादिति भावः । स्विष्टकृद्धोमस्य मन्त्रं स्थानं 'च' बोधयति;–'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा'–इति अनेन मन्त्रेण 'उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे अग्नेरुत्तरार्द्धस्य पूर्वार्द्धे जुहुयात्' ॥ गतोऽयं स्विष्टकृद्धोमः ॥११–१४॥ अथापरोऽप्यस्ति होमः सर्वकर्मसाधरणस्तं विधत्ते —

भाषा– (उक्त "उपस्तीर्णाभिघारितहोम" के पीछे प्रकृत होम शेष होने पर *) 'स्विष्टकृत् होम' करने के लिये भी पूर्ववत् स्रुवा से आज्य ले कर स्रुच् में लेने पर उस चरुस्थाली में चरु के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से एकवार मात्र, किन्तु कुछ अधिक परिमाण से चरु ग्रहण करे एवं उसके ऊपर पुनः आज्य किञ्चन करे । विशेषता यही है कि भृगुगोत्रोत्पन्न हो तो उसे दो वार 'उपस्तरण' करे। अनन्तर इस प्रकार चरु ग्रहण और इस प्रकार दो वार अभिघारण करे । (और भी जो, स्विष्टकृत् भाग ही शेष इस के पीछे और होम के लिये चरु की आवश्यकता नहीं होती अतएव) 'स्विष्टकृत् होम के लिये चरु ग्रहण करके, उस चरु को ठीक २ रखने के लिये उस में आज्य सिञ्चन करना आवश्यक नहीं। इस गृहीत

* दर्शपौर्णमास का प्रकृत होम पीछे कहा जावेगा (स० २२, २५) । विवाहादि समस्त कार्यों का ही प्रकृत होम होता है । प्रकृत होम को ही 'आवाप' कहते हैं । सब टो 'आवाप' के पहिले उपघात होम और उपस्तरणाभिघारित—होम हुआ करते हैं और अन्त में स्विष्टकृत् होम करना होता है । ये चार प्रकार के होम चरु द्वारा निष्पन्न होते हैं ॥ ११—१२ ॥

होमीय को 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' मन्त्र से अग्नि के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध में हवन करे यही। 'स्विष्टकृत होम है' ॥ १२—१४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरितिमन्त्रेण 'आज्येन' 'अभिजुहुयात्' इति सर्वसाधारणहोमप्रकारः ॥ १५ ॥ इदानीं प्रकृतहोमकालं व्यवस्थापयति—

भाषा—'भूर्भुवः स्वाहा' मन्त्र से आज्य द्वारा होम करना चाहिये। इसीको 'महाव्याहृति-होम, कहा है ॥ १५ ॥

प्राक् स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्धोमात् 'प्राक्' पुरस्तादेव 'आवापः' प्रकृतहोमः दर्शपौर्णमासीयो वैवाहिकादिश्च कार्यः ॥ १६ ॥

भाषा—स्विष्टकृत् होम के पूर्व ही 'आवाप' अर्थात् दर्शपौर्णमास का, या विवाहादि का प्रकृत होम करे ॥ १६ ॥

गणेष्वेकरूपरिसमूहनमिध्मोबर्हिः पर्युक्षणमाज्यमाज्यभागौ चसर्वेभ्यःसमवदायसकृदेवसौविष्टकृतंजुहोति ॥१७, १८॥

'गणेषु' बहुष्वावापेषु कर्त्तव्येषु आवापबहुत्वानुरोधतस्तत् पूर्वापरकार्याणामपि बहुत्वं न भवेदित्याह—'परिसमूहनमित्यादिकम् पूर्वोक्तं समस्तमेव एकं सकृदेव भवेत्, किञ्च 'सर्वेभ्यः 'समवदाय' अवदानपूर्वकहोमानन्तरं 'सौविष्टकृतं' 'सकृत्' एकवारमेव 'जुहोति' न तु आवापसंख्यानुगुणमिति यावत् ॥ १७ ॥ १८ ॥

भाषा—जिस स्थान में बहुत आवाप कर्तव्य हों, वहां आवाप के बहुत होने से इध्म ग्रहण आदि कार्य अनेक वार नहीं किये जावगे, और सब ही आवाप के लिये पहिले की नाईं चरु ग्रहण पूर्वक होम आदि शेष पीछे सब के अन्त में एक ही वार 'स्विष्टकृत्' होम करे ॥ १७–१८ ॥

हुत्वैतन्मेक्षणमनुप्रहरेत्प्रक्षाल्य वैतेनोद्धृत्य भुञ्जीत १६, २०

'एतत्' स्विष्टकृत् होमं 'हुत्वा' 'अनु' पश्चात् अनावश्यकमिति मत्वा तद्धोममात्रहोमसाधनं 'मेक्षणं' 'प्रहरेत्' प्रक्षिपेत् अग्नाविति शेषः। 'वा' अथवा

'प्रक्षाल्य तन्मेक्षणं रक्षेत् यथाकालम् 'एतेन' मेक्षणेनैव 'उद्धृत्य' अन्नं 'भुञ्जीत' यजमानः । एवञ्च मेक्षणेन भोजनं यस्य सुखकरं स न प्रक्षिपेदिति भावः १९-२०

भाषा—इस 'स्विष्टकृत्' होम के पीछे मेक्षण, अनावश्यक हो तो, उसे अग्नि में फेंक देवे या भोजनार्थ आवश्यक निश्चित होने पर उसे धो कर रक्खे एवं यथा समय उस के द्वारा भोजन करे ॥ १९-२० ॥

न स्रुवमनुप्रहरेदित्येकआहुः ॥ २१ ॥

'एके' आचार्याः स्रुवं न अनु प्रहरेत्'—'इति आहुः' तदपि सम्मतम् ॥२१॥

अथेदानीमाहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्दर्शपौर्णमासावापमन्त्रभेदमाह—

भाषा—कोई २ आचार्य कहते हैं कि 'कार्य के अन्त में स्रुवा भी धोकर रक्खे; उसे अग्नि में न डारे, तो भी कोई हानि नहीं ॥ २१ ॥

आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपौर्णमाशयोः स्थालीपाकस्यादाग्नेयो वाग्नीषोमीयो वाऽऽहिताग्नेः पौर्णमास्यायामैन्द्रो वैन्द्राग्नो वा माहेन्द्रो वा अमावास्यामपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपौर्णमासयोराग्नेयएवस्यात् २२-२५

'अनाहिताग्नेः' अनग्निहोत्रिणः 'उभयोः,' कयोरित्याह 'दर्शपौर्णमासयोः' 'स्थालीपाकः' स्थाल्यां पक्वचरुः 'आग्नेयः' अग्निदेवताकः 'स्यात्' उपस्तीर्णाभिघारितं चरुं गृहीत्वा 'अग्नये स्वाहा' इति मन्त्रेणैवापरोहोम आवापो दर्शपौर्णमासयोरनाहिताग्नेरित्येव पर्यवसितार्थः । 'आहिताग्नेः' नित्याग्निहोत्रिणस्तु 'पौर्णमास्यायाम्' आग्नेयः' एव 'वा' अथवा अग्निषोमीयः' किञ्च 'अमावास्यायाम्' ऐन्द्रः वा ऐन्द्राग्नः वा माहेन्द्रः वा' स्थालीपाकः स्यादिति । 'अपिवा' 'आहिताग्नेरपि' 'उभयोः दर्शपौर्णमासयोः' 'आग्नेयः एव' 'स्यात्'; अस्मिन् पक्षे आहिताग्न्यनाहिताग्न्योर्न कोऽपि भेदइति फलितम् ॥ २२-२५ ॥

यज्ञवास्तुनामकमपरमपि किञ्चिदुपदिशति—

भाषा—इस के पीछे दर्शपौर्णमास के 'आवाप-मन्त्र' कहते हैं-यदि यजमान 'अग्निहोत्री' हो तो, 'दर्श' और 'पौर्णमास' दोनों याग में 'अग्नये

स्वाहा' इस मन्त्र से 'उपस्तीर्णाभिघारित चरु होम करे; और यदि अग्नि-होत्री हो तो 'पौर्णमासयाग' के आवाप 'होम' में 'अग्नये स्वाहा' या 'अग्नी-षोमाभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार करे। और 'अमावास्यायाग' में 'इन्द्राय स्वाहा' या 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार करे। या अग्निहोत्रा भी 'दर्श' 'पौर्णमास' दोनों ही याग में, अग्निहोत्री की नांई 'अग्नये स्वाहा' मन्त्र से आहुति देवे॥ २२-२५॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु करोति तत एव बर्हिषः कुशमुष्टिमादायाऽऽज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि मूलानीत्यक्त ँ रिहाणा व्यन्तु वय इत्यथैनमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्यर्जयेद्यः पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा पशूनस्माकं माहि ँ सीरेतदस्तु हुतन्तव स्वाहेत्येतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते॥ २६-२९॥ ८॥

'समिधम् आधाय अनु पर्युक्ष्य' पूर्वोक्तप्रकारेण समिदाधानं प्रकृत्य पर्युक्षणञ्च समाप्य तस्मिन्नेव काले 'यज्ञवास्तु' नाम किञ्चित् कार्यं 'करोति' कुर्यात् दर्शपौर्णमासादौ। कथमित्याह—'तत एव बर्हिषः' आस्तृतकुशसमूहादेव 'कुशमुष्टिम्' मुष्टिमितानि कुशतृणानि 'आदाय' संगृह्य 'आज्ये वा' पूर्वोक्तान्यतमे वा, 'हविषि वा' पक्वचरौ वा 'अग्राणि, मध्यानि, मूलानि' 'इति' एवं 'त्रिः' त्रिवारम् 'अवदध्यात्' अञ्जयेत् 'अक्तं रिहाणा व्यन्तु वयः'—'इति' अनेन मन्त्रेणेति। 'अथ' अनन्तरम्, तानि 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' सिक्त्वा यः पशूनामित्यादि स्वाहान्तेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'अर्जयेत अपि' क्षिपेच्च। 'एतत्' कर्म्म 'यज्ञवास्तु'—'इति आचक्षते'॥ २६-२९॥ ८॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्॥ १-८॥

भाषा—'दर्शपौर्णमासादि' याग में एक कार्य करना होता है, उसे 'यज्ञवास्तु' कहते हैं। वह पूर्वोक्त प्रकार से 'समिधादान' प्रभृति पर्युक्षण तक कर्म के पीछे होगा। जैसे—आस्तृत कुशसमूह से एक मुट्ठी कुश लेकर आज्यं

या चरु में अग्र, मध्य, मूल, इस क्रम से 'अक्तरिहाणा' मन्त्र को पढ़ कर तीन वार जल सींचे। तत्पश्चात् उसे जल से साफ करके 'यः पशूनामधिपतिः' मन्त्र पढ़ कर उसे अग्नि में छोड़ देवे, यही 'यज्ञवास्तु' है।२६-२७।१८ गोभिलगृह्यसूत्रके प्रथम अध्यायके अष्टम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१,८॥

अथैतद्धविरुच्छिष्टमुदगुद्वास्योद्धृत्य ब्रह्मणे यच्छेत् तं तितर्पयिषेद् ब्राह्मणस्य तृप्तिमनु तृप्यामीति ह यज्ञस्य वेदयन्तेऽथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धꣳस्यात् ॥ १-४ ॥

'अथ' महाव्याहृतिहोमानन्तरम्। 'एतत्' 'उच्छिष्टम्' अवशिष्टं 'हवि' चर्वन्नं 'उदक्' अग्नेरुत्तरस्मिन् 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'उद्धृत्य' पात्रान्तरे गृहीत्वा 'ब्रह्मणे' ब्रह्मनामर्त्विजे 'प्रयच्छेत्'। 'तं' ब्रह्माणं 'तितर्पयिषेत्' अतिशयेन तर्पयितुं तृप्तं कर्त्तुमिच्छेत्। 'ह' यतः 'ब्राह्मणस्य तृप्तिम् अनु तृप्यामि'—'इति' 'यज्ञस्य' यज्ञपुरुषस्य अभिमतं 'वेदयन्ते' ऋषयः; ब्राह्मणतृप्त्यर्थमेव यज्ञानुष्ठानमिति भावः। 'अथ' किञ्च 'अन्यत्' अपरमपि भक्तादिकं 'यत् अन्नम्' 'अस्य' यजमानस्य 'उप' समीपे 'सिद्ध' स्यात्' तदपि तस्मै देयमिति ॥ १-४ ॥

भाषा—यज्ञ का शेष का कहा जाता है। प्रथम, इस महाव्याहृत्ति होम के पीछे अवशिष्ट चरु को अग्नि के उत्तर दिशा में रक्ख कर उसी चरुस्थाली से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा, उसे ऋत्विक् को देवे, उस समय यजमान के निकट में यदि और भी दूसरा, अन्न, भात प्रभृति हो, तो उसेभी उन को देवे। जैसे हो उन्हे तृप्त करने की इच्छा रक्खे, क्योंकि ऋषिगण कहते हैं कि ब्राह्मण की तृप्ति अनुसार ही हम तृप्त होते हैं--यही यज्ञपुरुष का अभिप्राय है ॥ १-४ ॥

अथब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत ॥ ५ ॥

'अथ' अनन्तरं 'भक्तेन' अन्नेन 'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'उपेप्सेत' सम्यग्द्रष्टुमिच्छेत् भोजयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

भाषा—अनन्तर—निमन्त्रित ब्राह्मण आदिक को भात आदि से परितृप्त करे ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् कꣳसं चमसंवाऽन्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाकृत्यस्य वापि वा फलानामेवैतं पूर्णं पात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैक ऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयꣳ होता भवति पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणाऽपरिमितं पराध्यंमपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतꣳसहस्राणिददौ ॥ ६-१२ ॥

'पूर्णपात्रः' पूर्णपात्रम् 'दक्षिणा' भवति दर्शपौर्णमासादियागस्येति । 'तं' दक्षिणारूपं पूर्णपात्रं ब्रह्मणे' ब्रह्मनामर्त्विजे 'दद्यात्' । किंतत् पूर्णपात्रमिति ! वदति—'कंसं' कांस्यपात्रम्, 'चमसं' पानपात्रं 'वा' 'कृतस्य' पक्वस्य 'अकृतस्य' अपक्वस्य 'वा' अन्नस्य' समूहैः, 'अपि वा' 'फलानां समूहैः 'पूरयित्वा'; 'एतम् एव' पूर्णपात्रम् इति आचक्षते' । दर्शपौर्णमासादौ कर्मणि 'ब्रह्मा एव एकः ऋत्विक्' वरणीय' बहुतराणामृत्विजां नापेक्षा । होतृकार्यं कथ भवेदित्याह—'पाकयज्ञेषु' दर्शपौर्णमासादिप्रभृतिषु 'स्वयं यजमान एव 'होता' 'भवति' भवेन्नाम । ननु दर्शपौर्णमासादिपाकयज्ञस्य पूर्णपात्रं दक्षिणा विहिता, ततोऽधिकदाने दोप सञ्जायते किम् ? नेत्याह;—'पाकयज्ञानां' पाकैः चर्वन्नैर्यजनीयानां दर्शपौर्णमासादीनां कर्मणां पूर्णपात्रः' पूर्णपात्रम् 'दक्षिणा' 'अवमः' अवमम् अधमं न्यूनकल्पत इति यावत् । 'अपरिमितम्' बहुसङ्ख्यकस्वर्णादिकमेव दक्षिणा 'पराध्यंम्' उत्तमं प्रशस्तमित्यर्थः । अत्र बहुतरदानव्यवहारोऽपि निदर्श्यते;— ह' निश्चयम्;'पैजवनः' पिजवनस्य पुत्रः 'सुदाः' ऋषिः 'ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेन इष्ट्वा' 'शतं' शतगुणितं 'सहस्राणि' तथा च लक्षं सम्पन्नम् लक्षम् 'अपि' दक्षिणाः 'ददौ' ६-१२

भाषा—इस दर्शपौर्णमास याग की 'दक्षिणा' पूर्णपात्र होगा । वह 'पूर्णपात्र' ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को देवे कच्चा या पका अन्न, या कतिपय फलों से 'कांस्यपात्र' या 'चमस' को भर देने का नाम, पूर्णपात्र' है।

दर्शपौर्णमास प्रभृति कार्य में एक मात्र ब्रह्मा ही 'ऋत्विक्' होना चाहिये। पाक यज्ञ में (चरुपाक मात्र करके जो यज्ञ किया जाता है), इन सब यज्ञों में यजमान ही "होता" होवे। इस स्थानमें और भी जानने की बात है-जो, पाक यज्ञ को, उक्त पूर्णपात्र दक्षिणा न्यून कल्प समझना चाहिये। यदि सामर्थ्य होतो अपरिमित दक्षिणा देना उचित है। पिजवन नामक ऋषि के वंशधर सुदा ऋषि ने, इन्द्राग्नी देवता के उद्देश्य से स्थाली पाक से याग करके (अमावास्या याग के अनन्तर) लाख (सुवर्ण, या मुद्रा-या गौ) दक्षिणा दियी थी ॥ ६—१२ ॥

अथ यदि गृह्येऽग्नौ सायं प्रातर्होमयोर्व्वा दर्शपूर्ण-मासयोर्व्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादित्या सायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः सायमाहुतिरा मावास्यायाः पौर्णमासं नात्येत्यापौर्णमास्या आमावास्या-मेतेनैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेतापि वा यज्ञि-यानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा अपयित्वा जुहुयादप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ ऐडो हुतं ह्येव ॥ १३-१७ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरम्। 'यदि' 'गृह्येऽग्नौ' 'सायम्प्रातर्होमयोर्वा' 'दर्शपूर्ण-मासयोर्वा' 'कर्मणोः' 'हव्यं' हवनीयमाज्यादिकं 'वा' अपि 'होतारं' स्वयमशक्तौ प्रतिनिधिं 'न अधिगच्छेत' नाप्नुयात् तर्हि 'कथं' केन प्रकारेण' कुर्य्यात् सायम्प्रातर्होमौ दर्शपूर्णमासौवे त्याशङ्का। इमामाशङ्कामपनुदति,-'आ सायमाहुतेः' सायमा-हुतिकालं यावत् 'प्रातराहुतिः' प्रातर्हवनकालो 'न अत्येति' नातिक्रमते, एवम् 'आ प्रातराहुतेः सायमाहुतिः', किञ्च 'आ अमावास्यायाः' अमावास्यामारभ्य पौर्णमासं' यावत् अमावास्याहवनकालो 'न अत्येति'; एवमेव 'आ पौर्णमास्याः' पौर्णमास्यामारभ्य 'आमावास्या' यावत् पौर्णमास्याहवनकालो नात्येत्येव। तदित्थं हव्यहोत्रोरन्वेषणाय सायम्प्रातराहुत्योश्चत्वारि यामा अवकाशः, दर्शपूर्ण-

मासयोस्तु पञ्चदशाहानि 'एतेन' चतुर्यामरूपेण पञ्चदशाहात्मकेन वा 'अवकाशेन एव' 'हव्यं' होतारं वा 'लिप्सेत'लब्धुमिच्छेत् । 'अपिवा' होतृलाभे 'यज्ञियानाम् ओषधिवनस्पतीनां फलानि पलाशानि वा एव अर्पयित्वा जुहुयात्' । 'अपि' तदलाभे च 'अन्ततः' अपएव उदकान्येव 'जुहुयात्', 'ह' निश्चयम्, 'पाकयज्ञः' पाकयज्ञनियमः 'इति' एवं ऐडः' नामर्षिः 'आहस्म', तथा च फलाद्याहुतौ अपि 'हि' निश्चयं 'हुतम् एव' स्वीकार्यमस्माकम् ॥ १३—१७ ॥

भाषा—यदि किसी दैवी दुर्घटना से गृहाग्नि में सायं और प्रातः होम और दर्श पौर्णमास याग करने के लिये 'सामग्री' इकट्ठी न हो, या किसी कारण वश स्वयं और पत्नी दोनों ही असमर्थ हों और उस समय शीघ्र कोई बदले में दूसरा व्यक्ति भी न मिल सके तो साय होम करने तक भी प्रातराहुति का समय अतीत न समझा जायगा और प्रातराहुति के समय तक भी सायं होम का समय अतीत न समझा जायंगा(ऐसी दशा में) अमावास्या सेपूर्णिमा के पूर्व दिन तक १५ दिन में चाहे जिस दिन हो, 'अमावास्या याग' हो सकेगा । और पूर्णिमा से अमावास्या के पूर्व दिवस तक १५ दिन में से चाहे जिस किसी दिन हो 'पौर्णमासयाग' हो सकेगा इतने समय में जो कुछ सामग्री न हो, उसे इकट्ठी करे और होता भी कहीं से ढूंढ कर लावे । यदि हवनीय अन्नादि इकट्ठा न हो, तो उससे भी हानि नहीं, फल से भी हवन हो सकता है, यदि यह भी न हो तो धान्य, शस्य, वृक्ष का, या आम्र आदि वनस्पति के पत्र से भी होम का काम पूरा करे, एड ऋषि कहते हैं कि कुछ न मिले तो केवल जल से ही याग करे (पर नियम न तोड़े) १३-१७

अहुतस्याप्रायश्चित्तं भवतीति नाव्रतोब्राह्मणः स्यादिति ॥ १८।१९ ॥ अथाप्युदाहरन्ति यावन्न हूयेता भोजनेनैव तावत् सन्तनुयादथ यदाधिगच्छेत् प्रति जुहुयादेमप्यस्य व्रतꣳसन्ततं भवतीति ॥ २०-२३ ॥

'अहुतस्य' गृह्येऽग्नौ सायम्प्रातराहुती येन न हुते, नापि दर्शपौर्णमासयौहुते

येन, तस्य 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यं 'भवति'-'इति' हेतोः ब्राह्मणः' 'अव्रतः' नियमाहुतिदानशून्यः 'न स्यात्' 'इति' आदेशः ॥ १८-१९ ॥

'अथ अपि' अपरमपि पक्षम् 'उदाहरन्ति' वदन्ति आचार्याः । तथाच—'यावत्' कालं 'न हूयेत' सायम्प्रातर्होमौ दर्शपौर्णमासहोमौ वा 'तावत्' 'अभोजनेन' भोजनमकृत्वैव 'सन्तनुयात्' कालहरणं कुर्यात् । 'अथ' अनन्तरं कालातीतेऽपि 'यदा' यस्मिन्नेव समये 'अधिगच्छेत्' हव्यं होतारं वा, तदैव 'प्रति जुहुयात्' सायमादिकालं प्रतीक्ष्य जुहुयात् । 'एवमपि' अभोजनेन दिनकर्त्तनेनापि व्रतं नित्यानुष्ठेयं 'सन्ततम्' अविच्छिन्नं 'भवति'; 'इति' गतमिदं प्रकरणं नित्यानुष्ठानस्य ॥ २०-२३ ॥

भाषा—घोर आपत्ति के कारण जल मिलना भी कठिन हो या न मिले, तो जब तक होम का उपाय न हो, भूखे रहे, और हवनीय पदार्थ मिले या 'होता' मिले, उसी समय ठीक समय पर सायं या प्रातराहुति प्रदान करे और दर्श या 'पौर्णमास याग' करे । यों भी उक्त कार्यों की नियमित-कर्तव्यता रक्षा करे किन्तु ब्राह्मण विना 'व्रत' न रहे, क्योंकि प्रायश्चित करना पड़ेगा ॥ १८-२३ ॥

एषोऽत ऊर्द्ध्वं हविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

'अतऊर्द्ध्वं' इतःपरं 'हविराहुतिषु' हविर्भिः चरुभिर्निष्पाद्येषु नैमित्तिकेषु काम्येषु च सर्वेष्वेव होमेषु 'एषः' एव 'न्यायः' प्रकारः, अर्थतः पूर्वमुपघातहोमद्वयं ततश्च उपस्तीर्णाभिघारितं प्रकृत्यैव हवनं कार्यमिति ॥ २४ ॥

भाषा—अनन्तर चरु से होने योग्य जो याग कहे जावेंगे, उन स्थानों में भी ठीक २ उसी प्रकार उलूखल, मूसल, स्थापनादि कार्य करे ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

'मन्त्रान्ते' हविःप्रदानमननसाधनवाक्यान्ते पूर्वत्र परत्र च सर्वत्रैव होमे 'स्वाहाकारः' स्वाहापदं प्रयोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

भाषा-आहुति के सब मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' जोड़ कर बोले ॥२५॥

आज्याहुतिष्वाज्यमेव सꣳस्कृत्योपघातं जुहुयान्नाज्यभागौ न स्विष्टकृदाज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च-महाव्याहृतिभिर्होमो यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्म्म-ण्युपनयने गोदाने च ॥ २६–२८ ॥

'आज्याहुतिषु' यत्र हविर्भिन हवनं विधेयमपि तु आज्यैरेवाहुतयो विधास्यन्ते, तत्र 'आज्यमेव संस्कृतस्य' चरुपाकाद्यायोजनमनर्थकमित्युलूखलाद्युपसादनादि-कमकृत्वैव 'उपघातं' प्रकृतयागस्योपोद्घातरूपमेकमेवहोमं 'जुहुयात्', 'न आज्य-भागौ' चतुर्गृहीताद्याज्यभागद्वयात्मकमुपघातसवनं न कार्यम्; 'न स्विष्टकृद्' स्विष्टकृद्यागोऽपि तत्रानावश्यकः। अपिच 'आज्याहुतिषु' सर्वत्रैव 'अनादेशे' वि-शेषविध्यभावे सुतरां गर्भाधानादौ 'पुरस्तात्' प्रधानकर्मणः 'उपरिष्टाच्च' तस्य 'महाव्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति समस्ताभिः 'होमः' एकएव कार्यः। ननु चूडा-करणादावपि नास्ति कश्चिद् विशेषादेंशइति तत्रापि किमेकएव होमो महाव्याहृति-भिरिति व्युदस्यत्यनेनातिदेशसूत्रेण, —'पाणिग्रहणे' पाणिग्रहणनिमित्ते सति 'यथा' वक्ष्यामो होम—चतुष्टयम् 'महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम्' इति 'चूडाकर्मणि, उपनयने, गोदाने च' 'तथा' एव कार्यं होमचतुष्टयमित्यतिदे-शसूत्रम् ॥ २६–२८ ॥

भाषा—जो २ होम केवल आज्य ही से होने योग्य हैं, उन में आज्य-संस्कार मात्र करे उलूखल स्थापनादि की उन में आवश्यकता नहीं। और ऐसे स्थान में चरु से होम की नाईं चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत आज्य से दो 'उपघात' होम न करे। एक ही वार करे और 'उपस्तीर्णाभिघारित' होम भी न करे। और 'स्विष्टकृत' होम भी न करे। आज्याहुति के बदले और भी विशेषता है जो जिस किसी स्थान में विशेष विधि न हो * वहां मुख्य याग के पहिले और पीछे "भूः, भुवः, और स्वः" इन तीन महाव्याहृतियों का पाठ कर एक २ आहुति देवे परन्तु विवाह की जिस प्रकार व्यवस्था कियी

* अर्थात् गर्भाधानादि में।

जावेगी ** चूड़ा करण, उपनयन, और गो दान में भी उसी प्रकार होगी ॥

अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानꣳशान्त्यर्थꣳशान्त्यर्थम् २६.९

'कर्मणि' नित्ये, नैमित्तिके, काम्ये वा सर्वत्रैव 'अपवृत्ते' समाप्ते सर्वान्तेऽइति यावत् 'वामदेव्यगानम्' वामदेव्यनामकस्य साम्नोगानम् (ऊ० गा० १,१.५) कर्त्तव्यम्, तच्च 'शान्त्यर्थं' भवतीति शेषः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतिका ।२९।९

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

इति गोभिल-गृह्यसूत्रे प्रथमः प्रपाठकः ॥ १-९ ॥

भाषा-क्या नित्य क्या नैमित्तिक, क्या काम्य सब ही होम के अन्त में 'वामदेव्य'*गान करे; उस से सब प्रकार की आपत्तियों की शान्ति होती है ॥

गोभिलगृहसूत्र के प्रथम अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ १,९

प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ १ ॥



* विवाह में विशेष विधि यह होगा कि 'भूः, भुवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों के द्वारा भिन्न २ तीन और फिर इन को एकत्र करके पढ़े और एक, सुतरा ४ होम करे। उक्त महाव्याहृति आदि भिन्न २ कर होम करने का ही नाम वास्तु होम है और एकत्रित पाठ पूर्वक होम करने को 'समस्त होम, कहते हैं। विवाहादि में व्यस्त-समस्त (अलग और एकत्र) दोनों प्रकार होम होते हैं ।

* छन्द आर्च्चिक के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीयार्द्ध में तृतीय दशति के प्रथम "कयानश्चित्र आ, ऋक् अवलम्बन करके तीन साम मन्त्र गाये गये हैं. वह 'गेय गान, के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध मे २३, २४, २५, हैं उन में तृतीय आर्षेय ब्राह्मणोक्त (१. १६) श्रुति अनुसार 'वाम देव्य, । उत्तरार्च्चिक के प्रथम प्रपाठकके प्रथमार्द्धमें का द्वादश सूक्तके प्रथम भी 'कयानश्चित्र आ, ऋक् एवं इस सूक्त के इस छन्द के और भी दो 'ऋक्' है, "यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति" ताण्ड्य ब्राह्मणोक्त इस श्रुति के अनुसार इन दो में भी "वामदेव्या,, गान होता है। इन वामदेव्य का एकत्र गान होने से महावामदेव्यगान कहाता है। यह महावाम देव्य ऊहगान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में पञ्चम साम है ।

* महावाम देव्यसाम *

३ र ४ २ ४र ५
महावामदेव्यम् ॥ काऽ५या । नआ३ इत्रा३ आभुवात् ।
१ र २ १र २ १ २ र २ १ २
ऊ । तीसदा वृधःस । खा । औ३ हो हाइ । कया२३ शचाइ ।
३ र २ १ — २ १ र
छ्यौहो३ हुम्मा २ । वार्त्तो३ऽ५ हाइ (१) ॥ काऽ५स्त्वा ।
४ २ ४ ५ १ ४र १ २
सत्योऽ३ मा३ दानाम् । मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा ।
२ र २ १ २ ३ र २ १ — १
औ३ होहाइ । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३ । हुम्मा२ । वाऽ३
२ ३ र ४ र ४ ५
सो३ऽ५ हायि ॥ (२) ॥ आऽभी । युणा३ः सा३ रवीनाम् ।
१ २र १ २र १ र २ १
आ । विता जरायितॄ । णाम् । औ२३ होहायि । शता२३
२ ३ र २ १ — १ २
म्भवा । सियौ हो३ । हुम्मा२ । ताऽ२ यो३ऽ५ हायि ॥
(३) सामवेद० उ० अ० १ खं० ३ । म० १ । २ । ३ ॥

* अथ द्वितीयप्रपाठकः *



॥ ओं ॥ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १

'पुण्ये नक्षत्रे' ज्योतिःशास्त्रोक्ते 'दारान्' पत्नीं 'कुर्वीत' स्वीकुर्वीत ॥ १ ॥

भाषा—ज्योतिष शास्त्रोक्त वैवाहिक नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा का योग जब हो तब विवाह करे ॥ १ ॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥ २ ॥

कीदृशान् दारानित्याह—'लक्षणप्रशस्तान्' प्रशस्तलक्षणोपेतान् 'कुशलेन' लक्षणाभिज्ञजनेन परीक्ष्येति ॥ २ ॥

भाषा—शुभाशुभ लक्षणों को जानने वाले व्यक्ति से परीक्षा करा कर अच्छे लक्षण वाली कन्या से विवाह करे ॥ २ ॥

तदलाभे पिण्डान् ॥ ३ ॥

'तदलाभे' लक्षणपरीक्षकालाभे लक्षणविचारेण सुलक्षणाया अभावे च 'पिण्डान्' मृत्पिण्डग्राहणपरीक्षान् कुर्वीतेति ॥ ३ ॥

भाषा - परीक्षक व्यक्ति न मिले तो या सब लक्षणों से युक्त कन्या न मिले तो कन्या को ढेला छुला कर परीक्षा करे ॥ ३ ॥

वेद्याःसीतायाह्रदाद्गोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहनादीरिणात्सर्वेभ्यःसम्भार्यनवमंसमान्कृतलक्षणान् ॥४—६॥

'वेद्याः' 'यज्ञीयवेदीतः' 'सीतायाः' लाङ्गलकृष्टस्थानात्, 'ह्रदात्' अगाधजलस्थानात्, 'गोष्ठात्' गोस्थानात्, 'चतुष्पथात्' 'आदेवनात्' देवनं द्यूतस्थानं तस्मात्, आदहनात्' श्मशानात्, 'ईरिणात्' उषरप्रदेशात् मृदो गृहीत्वा 'समान्' तुल्यप्रमाणादिकान् किञ्च 'कृतलक्षणान्' यतश्च यो मृत्पिण्डोगृहीतः तद्द्योतकचिन्हीकृतान् पिण्डान् कुर्वीतेति अष्टौ पिण्डाः सम्पन्नाः । 'सर्वेभ्यः' पिण्डेभ्यएव सम्भार्य' किञ्चित् किञ्चिदाहृतमपि पिण्डमेकं कुर्वीत, तदेव 'नवमं' पिण्डानां भवेत् ॥४–६॥

भाषा—यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाध जलाशय से, गोशाला से, चतुष्पथ से, द्यूतस्थान से, श्मशान से, उषर भूमि से कुछ २ मिट्टी लेकर आठ भिन्न २ स्थानों में मिट्टी को पिण्ड बनाकर रक्खे, पिण्डों में से कुछ२ मिट्टी निकाल कर एक पिण्ड रक्खे इस प्रकार ६ पिण्ड रक्खे ॥ ४–६ ॥

पाणावाधाय कुमार्या उपनामयेदृतमेव प्रथमं ऋतं नात्येति कश्चनर्त्तइयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयादिति तस्या नाम गृहीत्वैषामेकं गृहाणेति ब्रूयात्पूर्वेषां चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् सम्भार्यमपीत्येके ॥ ७–६ ॥

उक्तान् पिण्डान् 'पाणौ' 'आधाय' 'कुमार्याः' विवाहार्थपरीक्षणीयायाः 'उप

समीपे 'नामयेत्' स्थापयेत् । तत्र मन्त्रः-ऋतमेवेत्यादिर्भूयादित्यन्तः । ततश्च 'तस्याः' कुमार्याः 'नाम' गृहीत्वा तां सम्बोधयित्वेति यावत्, 'एषां' पिण्डानां नवानाम् 'एकं' यं कमपि 'गृहाण'—'इति' ब्रूयात् । तथाचोक्ते—'पूर्वेषां चतुर्णां' वेदी-सीता-ह्रद-गोष्ठीयमृन्निर्मितानां यं कमपि 'गृह्णन्तीम्' ताम् 'उपयच्छेत्' उद्वहेत । 'एके' आचार्याः 'सम्भार्य नवमं पिण्डं गृह्णन्तीमपि उपयच्छेत् इत्याहुः । चतुष्पथ देवन श्मशानोषरस्थानीयमृन्निर्मितपिण्डानामेकतमं गृह्णन्ती दुर्लक्षणेति नोद्वाह्येति सुतरां फलितम् । इति कन्यापरीक्षणम् ॥ ७—९ ॥

भाषा—उक्त नव पिण्डों को हाथ में लेकर जो कन्या विवाह के लिये हो इस के निकट लावे, और 'ऋत' प्रभृति मन्त्रों का पाठ कर बोले कि 'हे अमुकि ! इन पिण्डों में से जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे उठा लो । यों यदि उक्त चार में से एक अर्थात् वेदी जोती हुई भूमि, तालाब, ह्रद या गोशाला कापिण्ड लेवे तो उसको सुलक्षणा समझ कर विवाह करे । कोई २ कहते हैं कि, यदि नवम पिण्ड ग्रहण करे, तो उस कन्या के साथ विवाह करे किन्तु चतुष्पद, द्यूत स्थान, श्मशान, या ऊषर मृत्तिका के ग्रहण करने से कदापि विवाहने योग्य नहीं ॥ कन्यापरीक्षा पूरी हुई ॥ ७-९ ॥

क्लीतकैर्यवैर्म्माषैर्वाऽऽप्लुताᳬ सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्ध न्यभिषिञ्चेत् कामवेद ते नाम मदोनामोसीति समानयामुमिति पतिनाम गृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ज्ञातिकर्मैतत् १०,११

'क्लीतकैः' चूर्णीकृतैः 'यवैः मासैः वा' 'आप्लुताम्' मर्दिताङ्गां कन्यां 'सुहृत्' कन्यायाएव काचित् सखी 'सुरोत्तमेन' उत्कृष्ट जलेन 'सशरीरां' शरीरसहितां तां 'मूर्द्धनि' मस्तके 'त्रिः' त्रिवारम् 'अभिषिञ्चेत्' । तत्र "काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुᳬसुरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोसि स्वाहा ॥ २ ॥ इमन्त उपस्थं मधुना सᳬसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद्द्वितीयम् । तेन पुᳬसोऽभिभवासि सर्व्वानवशान्वशिन्वसि राज्ञी स्वाहा ॥ ३ ॥ अग्निं क्रव्यादकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः ।

तेनाज्यमक्षणꣳ सौभङ्गत्वाष्ट्रं त्वयि तद्धातु स्वाहा" ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० १,१,) ऋग्भिरभिषिञ्चनम् तत्र च समानयामुमिति मन्त्रे अमुमित्यस्य स्थाने 'पतिनाम' भाविभर्तृनाम 'गृह्णीयात्' । किञ्चोक्ताभिषिञ्चनमन्त्राणाम् 'उत्तराभ्यां' द्वाभ्याम् 'उपस्थं कन्याया विशेषेण 'प्लावयेत्' धावयेत् । 'एतत्' अभ्यङ्ग–मर्द्दन पूर्वकमुपस्थधावनान्तं स्नानं 'ज्ञातिकर्म' इत्युच्यत इति गतं ज्ञातिकर्म ॥ १०–११ ॥

भाषा—यव चूर्ण, या उड़द के चूर्ण से कन्या का सब अङ्ग मल कर कन्या की किसी सखी से उसी "कामवेद०" प्रभृति स्वाहा कारान्त तीन मंत्रोंको पढ़ कर कन्या के माथे पर तीन वार उत्तम जल इस प्रकार ढाल दे जिस से कन्या का शरीर अच्छे प्रकार धो जावे, विशेषतः इन तीन के शेष (३ य और ४ र्थ) दो का पाठ कर इस कन्या के उपस्थ इन्द्रिय को अच्छे प्रकार धो दे यह 'ज्ञातिकर्म' है ॥ १०, ११ ॥

पाणिग्रहणेपुरस्ताच्छालायाउपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितोभवति

'पाणिग्रहणे' करणीये 'शालायाः' मध्ये 'पुरस्तात्' 'पूर्वस्यां दिशि' 'अग्निः' 'उपसमाहितः' संस्थापितः 'भवति' भवेत् ॥ १२ ॥

भाषा–विवाह कालमें अग्नि शाला या घरके बीच पूर्व दिशामें अग्नि रक्खे ॥१२॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपाङ्कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतोवाग्यतोऽग्रेणाग्निम्परिक्रम्यदक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठतेप्राजनेनान्यःशमीपलाशमिश्राꣳश्च लाजाꣳश्चतुरञ्जलिमात्राञ्छूर्पेणोपसादयन्तिपश्चादग्नेर्दृशत्पुत्रश्च ॥१३–१६॥

'अथ' अनन्तरं 'जन्यानां कन्याज्ञातिजनानां मध्ये 'एकः' अन्यतम 'ध्रुवाणां' अतिप्रखरतापेऽप्यशुष्कजलाशयोस्थितानाम् 'अपां' 'कलशं पूरयित्वा' 'प्रावृतः' वस्त्राच्छादितः, 'वाग्यतः' अनियमितवाक् शून्यः, 'अग्निम्' तम् 'अग्रेण' कृत्वा 'परिक्रम्य', 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यामग्नेः 'उदङ्मुखः' उत्तराभिमुखश्च सन् 'अवतिष्ठते' अवतिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात् । 'अन्यः' तथैवैकः पुरुषः 'प्राजनेन' गवादिचालनदण्डेन साकं प्राजनहस्त इति यावत् अवतिष्ठेतेत्येव । 'शमीपलाशमिश्रान्' 'चतुरञ्जलि-

मात्रान्" लाजान् च शूर्पेण,कृत्वा तत्रैव 'अग्नेः पश्चात् प्रदेशे 'उपसादयन्ति' स्थापयन्ति स्थापयेयुः ये के चात्मीयजना इति । 'दृशत्पुत्रं' दृशदः पेषणाधारस्यशिलाखण्डस्य क्रोडे पुत्रवत् शेते य उपलः पेषणकरः तम् 'च' अपि उपसादयन्तीत्येव ॥१३-१६॥

भाषा- अनन्तर कन्या का सम्बन्धी जलाशय (जिसमें सदा जल रहे) से कलश भर जल लेकर कपड़ेसेढाक एकाग्र हो,अग्निके सम्मुख रक्ख प्रदक्षिणा क्रमसे अग्निके दक्षिण में उत्तर मुख होकर बैठे। और भी एक व्यक्ति डंडा हाथमें लेकर रहे। अग्निकेपश्चात् भागमें शमीपत्र मिला चार अञ्जलि परिमित लाजा और एक लोढ़ा रक्खे ॥ १३-१६ ॥

अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्काप्लुताभवति

'अथ' अनन्तरं 'यस्याः' कन्यायाः 'पाणिं' 'ग्रहीष्यन् भवति' वरः,सा कन्या 'सशिरस्का' शिरः सहिता आप्लुतां स्नाता 'भवति' भवेत् । इति विवाहदिवसीयकन्यास्नानम् ॥ १७ ॥

भाषा—और वर जिस कन्या का पाणिग्रहण करे; उस को मस्तक तक स्नान करा देवे । यह विवाह के दिन कन्या का स्नान होता है ॥ १७ ॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् या अकृन्तन्नित्येतयर्चा परिधत्त धत्त वाससेति च ॥ १८ ॥

एतत्स्नानानन्तरं 'पतिः' भावी "या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितो ततन्थ । तास्त्वा देव्यो जरसा संव्ययन्त्वायुष्मतीदं, परिधत्स्ववासः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १,५,५)'–'इत्येतया ऋचा' "परिधत्त धत्त वाससैनां शतायुषीं कृणुत दीर्घमायुः । शतं च जीव शरदः सुवर्चा, वसूनि चार्ये विभजासि जीवन्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, १, ६)'–'इति' अनया ऋचा 'च' 'अहतेन' अखण्डेन 'वसनेन परिदध्यात्' अहतं वसनं तां परिधापयेदित्यर्थः। इति कन्यावासःपरिधापनम् ॥ १८ ॥

भाषा०—फिर–पति "या अकृन्तन्०" एवं 'परि धत्त धत्त वासस।" मन्त्र पढ़ कन्या को अखण्ड वस्त्र पहनावे । यही "कन्यावास परिधापन" है ॥१८॥

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददद्गन्धर्वायेति पश्चादग्नेः संवेष्टितङ्कटमेवञ्जातीयं वाऽन्यत् पदा प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति स्वयञ्जपेदजपन्त्यामप्रास्याइतिबर्हिषोऽन्तङ्कटान्तम्प्रापयेत् १६-२२

ततश्च 'प्रावृतां' आच्छादितां किञ्च 'यज्ञोपवीतिनीं' यज्ञोपवीतयुतां तां कन्याम् 'अभि' अभिमुखम् 'उत्' उत्कृष्टरूपेण 'आनयन्' समीपमानीय भावी पतिः सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददद्ग्नयेरयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्य मथोइमाम" ॥७॥ (म० ब्रा० १, १, ७)'–'इति' मन्त्रं 'जपेद्' पठेत् । अपिच 'अग्नेः पश्चात्' 'संवेष्टितं कटम्' एवञ्जातीयं कटतुल्यम्' 'अन्यत्' आस्तरणं वा 'प्रवर्त्तयन्तीं' पदा चालयन्तीं "प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताᳪ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, १, ८) 'इति' वधूं 'वाचयेत्' । 'अजपन्त्यां' तस्यां "प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पताᳪ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, १, ९ वा)'–इति' इमं मन्त्रं 'स्वयम्' एव जपेत् । एवमेव चालयन्तीं कटान्तं 'बर्हिषः' आस्तृतस्य 'अन्त' समीपं 'प्रापयेत् ॥ १९–२२ ॥

भाषा—तब कन्या को कपड़ा से ढांक कर, जनेउ पहना कर पति अपने सामने निकट लाकर 'सोमाददद्' मन्त्र पढे, एवं अग्नि के पीछे स्थापित 'कट' या इसी प्रकार का अन्य आसन, कन्या के पैर से चलाकर अग्नि के समीप बिछाया हुआ 'बर्हि' तक ले आवे। उस समय वधू को "प्र मे०" मन्त्र पाठ करावे, वह न कर सके तो पति 'प्रास्या' मन्त्र स्वयं पढ़े॥१९–२२॥

पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमᳪसमन्वारब्धायाः षडाज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिर्महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २३–२६ ॥

'पूर्वे कटान्ते' कटस्य पूर्वप्रान्ते 'पाणिग्राहस्य' पाणिग्रहणे प्रवृत्तस्य भाविपत्युः दक्षिणतः 'दक्षिणस्याम्' 'उपविशति' वधूरितिशेषः (२३)। दक्षिणेन पाणिना'

वरस्य 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्वारब्धायाः' अन्वारम्भणं पृष्ठतः स्पर्शनं तत् कुर्वाणायाः वध्वाः ग्रहणद्योतकसङ्कल्पकामनया "अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः, सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्, तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां । यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ १० ॥ इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः, प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोतु । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता, पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥ ११ ॥ द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च स्तनन्धयन्ते पुत्राꣳसविताभिरक्षत्वावास- ꣳपरिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षतु पश्चात् स्वाहा ॥ १२ ॥ मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वꣳरुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज, पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ १३ ॥ अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् । शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ १४ ॥ परैतु मृत्युरमृतं म आगाद् वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्यं इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ब्रवीमि मानः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान् स्वाहा" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, १, १०–१५)—इत्येतत् प्रभृतिभिः षड्भिर्मन्त्रैः 'षट् आज्याहुतीः 'जुहोति' जुहुयात् पाणिग्राह इति शेषः (२४) । 'महाव्याहृतिभिः' तिसृभिः 'पृथक्' विभिन्नाः तिस्र आहुतीर्जुहुयात् (२५) । समस्ताभिः ताभिः 'चतुर्थीम् आहुतिं 'च' जुहुयात् (२६) ॥ २२–२६ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् २-१

भाषा—पैर से चलाई हुई चटाई के पूर्व प्रान्त में विवाह के लिये प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर वधू बैठे ॥ २३ ॥ कन्या अपने दहिने हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध छू लेवे, एवं वर कन्या के ग्रहण द्योतक कल्याण प्रार्थना करने में प्रवृत्त होकर 'अग्निरेतु प्रथमः" प्रभृति छः मन्त्रों से छः आहुति प्रदान करे ॥ २४ ॥ पीछे 'भूः' भुवः और स्वः' महाव्याहृतियों का पाठ कर, भिन्न २ तीन होम करे ॥ २५ ॥ एवं तीन को एकत्र 'भूर्भुवः स्वः' पढ़ कर चौथा होम करे ॥ २६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ २।१

हुत्वोपोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

'हुत्वा' महाव्याहृत्यन्तम् 'उपोत्तिष्ठतः' उपोत्थानं मिथः पृष्ठतः स्कन्धार्पितहस्तौ सन्तौ उत्थानं कुर्वतः दम्पतीति ॥ १ ॥

भाषा—महाव्याहृति होम के बाद दोनों एकत्र 'उपोत्थान' करें। उत्थान काल में वर के दहिने हाथ में, कन्या के पीठ पर होकरवायेंकन्धेपर रहे ॥१॥

अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते वध्वञ्जलिं गृहीत्वा ॥ २ ॥

'पतिः' अनुपृष्ठं परिक्रम्य' पृष्ठपरिक्रमणेन 'दक्षिणतः' पत्न्या दक्षिणस्यां गतः पतिः "वध्वञ्जलिं गृहीत्वा" उदङ्मुखः' सन् 'अवतिष्ठते' ॥ २ ॥

भाषा—पति, वधू के पीठ की ओर हो कर दहिने ओर चल कर, उस की अञ्जलि पकड़ कर उत्तर मुंह हो वैठे ॥ २ ॥

पूर्वां माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेदश्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

'माता भ्राता वा' 'लाजान्' 'आदाय' गृहीत्वा स्वान्तिके 'वधूं' 'दक्षिणेन प्रपदेन' 'अश्मानं' सोपलशिलापट्टकम् 'आक्रामयेत्' आरोहयेत् ॥ ३ ॥

भाषा—माता, या भ्राता लाजा लेकर वधूको दहिने पैरके अग्रभाग से लोढ़ा सहित शिला पर चलावे ॥ ३ ॥

पाणिग्रहो जपतीममश्मानमारोहेति ॥ ४

तस्मिन्नेवाक्रमणकाले "इममश्मान मारोहाश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव। द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्वं द्विषतामध" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, २, १) 'इति' इमं मन्त्रं 'पाणिग्राहः' पाणिग्रहणकारी पतिः 'जपति' जपेत् पठेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषा—'अश्मारोहण' समय पति 'इममश्मानमारोह' मन्त्रको पढे ॥४॥

सकृत् संगृहीतं लाजानामञ्जलिंभ्राताबध्वञ्जलावावपति तꣳसोपस्तीर्णाभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्जलि-

मियं नार्य्युपब्रूतेऽर्यमणं नु देवंपूषणमित्युत्तरयो र्हुते पतिर्यथेतं परिव्रज्य प्रदक्षिणमग्निंपरिणयति मन्त्रवान् ब्राह्मणः कन्यलापितृभ्यइति परिणीता तथैतावतिष्ठते तथाऽऽक्रामतितथाजपतितथाऽऽवपतितथाजुहोत्येवं त्रिः ५–१०॥

'सकृत' एकवारं 'सगृहीतं' 'लाजानाम् अञ्जलिं' 'भ्राता' 'वध्वञ्जलौ' स्वभगिन्या अञ्जलौ "आवपति" प्रयच्छति (४) 'सा' वधूः 'तम्' भ्रातृदत्तम् अञ्जलिं लाजाञ्जलिम् उपस्तीर्णाभिघारितं पूर्वोक्तप्रकारेण (२।८।४) प्रकृत्य 'अविच्छन्दती' 'अच्छेदमञ्जलिभेदमकुर्वन्ती' "इयं नार्य्युपब्रूते ऽग्नौ लाजानावपन्ती । दीर्घायुरस्तु मे पतिः । शतं वर्षाणि जीवत्स्वेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा" ॥२॥ (म० ब्रा० १ . २) 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'जुहोति' जुहुयात् (६)' हुते' लाजहोमे समाप्ते अनन्तरं 'मन्त्रवान' अधीतवेदो 'ब्राह्मणः' * 'पतिः' 'यथा' येन प्रकारेण पत्नीपृष्ठदेशेन इतं, गतं, तथैव 'अग्निं, 'प्रदक्षिणं' यथास्यात् तथा परिव्रज्य प्रयगत्य "कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमपदीक्षामयष्ट । कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १. , ५)–इति' अनेन मन्त्रेण 'परिणयति' तां कन्यामिति शेषः; पतिलोकप्रापणं बोधयन् कन्या ,मति भावः; (५) 'परिणीता च सा पत्नी तथैव' पूर्वोक्तप्रकारेणैव (२ सू०) अवतिष्ठते'; 'तथा' एव 'आक्रामति' अश्मानम् (३सू०) 'तथा' एव 'जपति' ४सू०, पतिः; 'तथा' एव (५सू०) 'आवपति' भ्राता; 'तथा' एव (६ सू०; जुहोति' वारद्वयम् कन्या स्वयमेव (९) अत्र च 'उत्तरयोः' लाजाहोमयोः "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, २ ३)–"पूषणं नु देवं कन्या

* मन्त्रवत्त्वेनैव ब्राह्मणत्वं पतियोग्यत्वञ्चेत्येव द्योतयितु मिह पत्युरेवं विशेषणद्वयम् । क्वचिदिह 'वा, पदमपि, पर मदधीतादिपुस्तकेषु सर्वत्रैवात्र 'वा, पदस्यादर्शनात् परिणयकाले कथमपि पत्यनुपस्थितेरसम्भवात् प्रतिनिधेरत्यन्तानावश्यकत्वाचासङ्गतएव तादृशः पाठ इत्यनिच्छयापि त्यक्त मिह सुहृदो मम मादृशस्य तत्त्वकारस्येति सत्यः ।

अग्निमयक्षत। स इमां देवः पूषा प्रेनो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, २, ४)'–इति एतौ मन्त्रौ यथाक्रमेण प्रयोक्तव्याविर्त्येव विशेषः (७) 'एवम्' प्रथमलाजाहोमेनोत्तरलाजाहोमद्वयमेलनेन सङ्कलनया 'त्रिः' होमत्रयं सम्पन्नम्। (१०) इति गता परिणयक्रिया ॥ ५–१० ॥

भाषा—कन्या का भाई, एक ही वार एक अञ्जलि लाजा लेकर अपनी बहिन की अञ्जलि में देवे, भाई की दयी हुई लाजा की अञ्जलि को पूर्वोंपदेशानुयार (१।८।३—४) 'उपस्तोर्णाभिघारित' कर अञ्जलि अलग२ न हो सावधानी से "इयं नार्युपब्रूते" मन्त्र से वधू अग्नि में आहुति देवे। ६। यों आहुति देने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण पति ने जिस प्रकार गमन किया था, उसी प्रकार। अर्थात् कन्या को आगे लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा कराते हुये, पुनः आकर 'कन्यला पितृभ्यः' मन्त्र पढ़ कर कन्या को 'परणीता' करे। अर्थात् कन्या जो पति लोक पाती है, यह बात उसे समझा देवे ॥ ८ ॥ यों वधू परिणीता होने पर और भी दो वार उसी प्रकार अवस्थान (सू० २), अश्माक्रमण (३ सू०), मन्त्र पाठ, (सू० ४), लाजा वपन (सू० ५) और लाजाहोम करे। (६) किन्तु इन दोनों होम में पूर्वमन्त्र नहीं पढ़े। उसके बदले में 'अर्यमणं नु देवं' एवं 'पूषणं' दो मन्त्रों को क्रम से पढ़े॥७॥ यों तीन लाजा होम होंगे। इसीको 'परिणाय' कहते हैं ॥ ५–१० ॥

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामन्त्येकमिष-इति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेन्मा सव्येन दक्षिण मतिक्रामेति ब्रूयात् ॥ ११—१३ ॥

'शेष' लाजानम्, 'शूर्पेण' गृहीत्वा 'अग्नौ' 'ओप्य' अमन्त्रकमेव निक्षिप्य 'प्रागुदीचीम्' ऐशानीं विदिशम् "एक मिषे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ६ ॥ द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ७ ॥ त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ८ ॥ चत्वारि मयो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ९ ॥ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १० ॥ षड् रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ११ ॥ सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्या विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १२ ॥ सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमेयꣳ सख्यं ते मायोषाः सख्यं ते मायोष्ठाः ॥

१३ ॥ (१, २, ६-७" 'इति सप्तभिः यजुर्भिः सप्तवारमुत्तरोत्तरम् अभ्युत्क्रामन्ति मात्रादिपरिजना वधूमिति (११) तत्र चाक्रामणक्रममुपदिशति;—'दक्षिणेन पादेन' 'प्रक्रम्य' भूमिम्, 'अनु' पश्चात् 'सव्येन' पादेन 'क्रामेत्' तामेव स्थलीम् (१२)। परं तत्रापि 'सव्येन दक्षिणं मा अतिक्राम'—'इति' इम मुपदेशं ब्रूयात् ताम् (१३) एवञ्च प्रथमं सव्यपादक्षेपणं, सव्येन पादेन दक्षिणपादाक्रमणञ्च निषिद्धमिति। गतमिदं सप्तपदीगमनम् ॥ ११-१३ ॥

भाषा—तीन बार के होम से बचा लाजा आदि सूप में लेकर विना मन्त्र अग्नि में डाले। ईशान कोण में 'एक मिषे' प्रभृति सात मन्त्र पढ़ २ कर वधू को क्रम से, सात पग चलावे। ध्यान यह रहे कि पहिले बायां पैर आगे न रक्खे, और बायें पैर से दक्षिण पग आक्रान्त भी न हो। यही 'सप्तपदी-गमन है' ॥ ११-१३ ॥

ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत सुमङ्गलीरियं वधूरिति ॥१४॥

तदनन्तरम् "सुमङ्गली रियं वधूः रिमाँ समेत पश्यत। सौभाग्य मस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० १, २, ८)-'इति' इमं मन्त्रं पठन् पाणिग्राहः 'ईक्षकान्' विवाहदर्शकान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्रति मन्त्रयेत' आशीः प्रार्थयेत। इदमेव प्रेक्षकामन्त्रणम् ॥ १४ ॥

भाषा—अनन्तर सुमङ्गलीरियं 'वधू' मन्त्र को पढ़ कर दर्शकों से आशीर्वाद लेने का पात्र होवें ॥ १४ ॥ यही कन्या निरीक्षण है।

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतराᳲसमञ्जन्त्वित्येतयर्चा ॥ १५ ॥

ततश्च 'औदकः उदककुम्भयुक्तः कश्चन पुरुषः 'अग्निम् अपरेण' अग्नेः पश्चिमतः दम्पतीस्थानं 'अनुसंव्रज्य' समागत्य 'पाणिग्राहं' वरं 'तथैव इतरां' वधूञ्च "समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोः हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, २, ९) 'इति एतया ऋचा' दम्पतीभ्यामुच्यमानया स्नपनकालं संलक्ष्य 'मूर्द्धदेशं' तयोरुभयोरेव 'अवसिञ्चति' आ सिञ्चेत् उदकेनैवेत्यासिञ्चनम् ॥ १५ ॥

भाषा—अनन्तर कोई जलवाहक व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर विवाह के लिये उद्यत वर और कन्या के माथे पर जल ढाल कर स्नान करावे और, उसी समय दम्पति एक वाक्य से 'समञ्जन्तु' मन्त्र पढ़े ॥१५॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाञ्जलिपोद्गृह्यदक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिꣳ साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वैताः षट् पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति ॥ १६ ॥

'अवसिक्तायाः' वध्वाः 'अञ्जलिं' 'सव्येन पाणिना' 'उपोद्गृह्य' स्वसमीपे ऊर्द्ध्वीकरणपूर्वकं प्रगृह्य, तस्याएव 'साङ्गुष्ठम्' अङ्गुष्ठसहितम् 'उत्तानं' पृष्ठनिम्नं 'पाणिं' आमणिबन्धाङ्गुलिचयं 'दक्षिणेन पाणिना' 'गृहीत्वा' "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १६ ॥ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्ज्जीवसूर्देवसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे ॥१७॥ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा । अदुर्म्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे ॥ १८ ॥ इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सपुत्रां सुभगां कृधि । दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कुरु ॥ १९ ॥ संम्राज्ञी श्वशुरे भव संम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि संम्राज्ञी भव संम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ २० ॥ मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्त मनुचित्तं ते अस्तु । मम वाच मेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्" ॥ २१ ॥ (१, २, १०-१५) 'इति'-'एताः' 'पाणिग्रहणीयाः' पाणिग्रहणार्थबोधिकाः' ऋचः षट् जपति 'जपेत् प्राणिग्राह इति शेषः। इति गतं पाणिग्रहणम् ॥ १६ ॥

भाषा— पति, जल सिक्त बधू के अञ्जलि को वायें हाथ से ग्रहण कर अपने निकट कुछ ऊपर लेकर दहिने हाथ से उस के अंगूठे सहित उत्तान दहिना हाथ को पकड़ कर "गृभ्णामिते" मन्त्र पढ़े । यही विवाह है ॥१६॥

समासासूद्वहन्ति ॥ १७ ॥ २ ॥

'समासासु' पाणिग्रहणान्तक्रियासु 'उद्वहन्ति' पतिलोकं प्रापयन्ति वधूम्

स्वजनाः रथादयां वा करणादीनामपि कर्त्तृत्वं भवत्येव, कारकाणां विवक्षाधीन-त्वात् 'काष्ठाः पचन्ति' इत्यादि भाष्यमेव निदर्शनमिति । इत्युद्वाहः ॥ १७ ॥

इति सामवेदवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठकेद्वितीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २-२

भाषा—पाणिग्रहण तक सब क्रिया समाप्त होने पर, वधू को आत्मीय गण, रथ आदि पर, सवार करा पति के घर पहुंचावें। यही "विवाह है" ॥१७॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके द्वितीयखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ २-२

—:०:—

प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपन्तत्राग्नि रुपसमाहितो भवति ॥ १ ॥

'प्रागुदीच्यां' ऐशान्यां 'दिशि' 'यत्' 'अभिरूपं' तपःस्वाध्याययुतं 'ब्राह्मण-कुलम्' 'तत्र' ब्राह्मणकुले 'अग्निः' वैवाहिकः 'उपसमाहितः' यथाविधि स्थापितः 'भवति' भवेत् ॥ १ ॥

भाषा— यदि अपना मकान दूर हो, तो पास के ईशान कोण के किसी ब्राह्मण के घर में विधि पूर्वक उत्तर विवाह करने के लिये यथा विधि अग्नि-स्थापना करे ॥ १ ॥

अपरेणाग्निमानडुहꣳ रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तरलो-मास्तीर्णं भवति ॥ २ ॥

'अग्निम् अपरेण' अग्नेः पश्चात् 'रोहितं लोहितम् 'आनडुहं चर्म' गोचर्म 'प्राग्ग्रीवं' उत्तरलोम' उपरिष्टाल्लोमपृष्ठम् 'आस्तीर्णं' पातितम् 'भवति' भवेत् ॥२॥

भाषा-अग्नि के पश्चिम भाग में लाल गौका चमड़ा लेकर, ऐसे बिछावे कि जिसमें लोमपृष्ठ ऊपरको हो और पूर्वपश्चिम लम्बा हो चमड़े का शिरो देश पूर्व भाग में हो और इसके नीचे का हिस्सा पश्चिम में हो ॥ २ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ३ ॥

'तस्मिन्' आस्तृते आनडुहे चर्मणि 'एनां 'वाग्यतां' नियमितवाचाम् 'उप-वेशयन्ति' आत्मीयजनाः ॥ ३ ॥

भा० — डाले हुए चर्म पर वधू को नियमित वाक्य कर बैठावे ॥ ३ ॥

सा खल्वास्तएवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ४ ॥

'सा' वधूः 'खलु' निश्चयम् 'आनक्षत्रदर्शनात्' अस्तमिते दिवाकरे यावत् नक्षत्रैकमपि दृश्यते तावत् तथा 'एव' 'अस्ते' ॥ ४ ॥

भाषा—वह वधू नक्षत्र के उदय तक उसी प्रकार बैठी रहे । ४ ।

प्रोक्तेनक्षत्रेषडाज्याहुतीर्जुहोतिलेखा सन्धिष्वित्येतत्प्रभृतिभिः ॥ ५ ॥

'नक्षत्रे प्रोक्ते' मेघाच्छन्नादिहेतुभिः नक्षत्रोदयादर्शनेऽपि 'उदितमेव नक्षत्रम एडलं यतस्तत्कालोऽयमागतः'-इत्येवमभिजनैः कथिते "लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वाव रोंषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ १ ॥ केशेषु यच्च पापक मीक्षिते रुदिते च यत् तानि पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ २ ॥ शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ३ ॥ आरोकेष च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ४ ॥ ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ५ ॥ यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूर्णाहुतिभि राज्यस्य सर्वाणि "तान्यशीशमम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १-६),—'इत्येतत्प्रभृतिभिः मन्त्रैः षड्भिः षट्' 'आज्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पतिरिति शेषः ॥ ५ ॥

भाषा—कारण वश नक्षत्र न दीख पड़े, तो किन्हीं प्राज्ञ ज्योतिषी के बतलाये हुए नक्षत्रोदय कालमें 'लेखासन्धिषु' आदि छः मन्त्रों से छः आहुति देवे ॥५॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्द्धनि वध्वा अवनयेत् ॥ ६ ॥

'आहुतेः आहुतेः' प्रत्याहुतेः 'सम्पातं' तु अवशिष्टघृतधारां वध्वा मूर्द्धनि 'अवनयेत्' ॥६॥

भाषा प्रत्येक छः आहुतियां के अन्तमें वधूके माथे घीकी धार देवे ॥ ६ ॥

हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ॥ ७ ॥

'हुत्वा' एतत् षडाज्याहुतिहवनानन्तरं दम्पती 'उपोत्थाय' सहैवोत्तिष्ठन्तौ उपनिष्क्रम्य

सहैव होमस्थानान्निर्गत्य 'ध्रुवं' ध्रुवसञ्ज्ञं नक्षत्रंदर्शयति पतिः वध्रीमिति ॥ ७ ॥

भाषा-ये छः आहुति और आहुति शेष ग्रहणके पीछे, वर कन्या एकत्र होमस्थान से बाहर होकर पति, पत्नीको ध्रुवनामक नक्षत्र दिखलावे ॥७॥

ध्रुवमसिध्रुवाहंपतिकुलेभूयासममुष्यासावितिपतिनामगृह्णीयादात्मनश्च ॥ ८ ॥

तत्र ध्रुवदर्शनकाले 'ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यासौ–"इति' इमं मन्त्रं वधूः पठेत् । 'च' अपि अमुष्यइत्यस्य स्थाने स्वपतिनाम षष्ठ्यन्तम् असौ स्थाने 'आत्मनः' नाम प्रथमान्तम् 'गृह्णीयात्' ॥ ८ ॥

भा०-उस ध्रुव दर्शन के समय 'हे नक्षत्र ! तुम स्थिर स्वभाव वाले हो इसी कारण 'ध्रुव' नाम से विख्यात हो । मैं भी जिससे पति कुल में स्थिर प्रकृति होऊं ? मैं अमुक नामवाली 'अमुक नामक व्यक्ति की पत्नी हूँ' इस मन्त्र को वधू पढे । इस मन्त्र के मध्यगत 'अमुक' इस पंद के बदले निज पति का नाम और 'अमुक नाम वाली' के बदले अपना नाम कहे ॥८ ॥

अरुन्धतीञ्च ॥ ९ ॥

'च' अपि 'असन्धतीं' नक्षत्रविशेषं दर्शयति तां पतिरिति ॥ ९ ॥

भाषा०–उसी समय पति, वधू को "अरुन्धती"नामक नक्षत्र दिखलावे ॥

रुद्धाहमस्मीत्येव मेव ॥ १० ॥

तत्रारुन्धतीदर्शनकाले 'रुद्धाहमस्मि'–'इति' । 'एवमेव'–

पूर्वोक्तप्रकारेण पत्युः स्वस्य च नामग्रहणपूर्वकमेव वधूः पठेदिति ॥ १० ॥

भाषा—इस अरुन्धती के दर्शनसमय वधू कहे कि 'अमुक नाम्नी अमुक नामक पति की आज्ञा में बद्धा होती हूं' ॥ १० ॥

अथैनामनुमन्त्रयते ध्रुवाद्यौरित्येतयर्चा ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनां' वधूं "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले श्याम्" ॥७॥ म० ब्रा० १. ६, ६), इत्येतया ऋचा' 'अनुमन्त्रयते' पतिरिति ॥ ११ ॥

भाषा—उसके पश्चात् पति वधू से 'ध्रुवा द्यौः' मन्त्र को पढ़ावे ॥ ११ ॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥

'अनुमन्त्रिता' सा वधूः 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरु' पतिम् 'अभिवादयते' ॥ १२ ॥

भाषा-इस मन्त्रको पढ़ने वाली वधू 'अमुक गोत्रा' अमुक नाम्नी मैं तुझे अभिवादन करती हूँ, बोल कर पति के दोनों पैर छूकर प्रणाम करे ॥ १२ ॥

सोऽस्या वाग्विसर्गः ॥ १३ ॥

'सः' कालः 'अस्याः' वध्वाः 'वाग्विसर्गः' नियमित वाक प्रयोग-नियम विसर्जनस्येति ॥ १३ ॥

भाषा—यहां तक वधू नियमित वाक्य से रहे फिर नियम छोड़ देवे ॥१३॥

तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥ १४ ॥

'तत्प्रभृति' विवाहकर्मारम्भदिनतः 'त्रिरात्रं' त्रीण्यहोरात्राणि 'तावुभौ' दम्पती 'अक्षारलवणाशिनौ' क्षारलवणातिरिक्तभोजिनौ हविष्याशिनाविति यावत् 'सह' सहैव तिष्ठन्तावपि 'ब्रह्मचारिणौ' सङ्गमशून्यौ 'भूमौ' पल्यङ्कादि वर्जितशय्यायाम् 'शयीयाताम्' ॥ १४ ॥

भाषा-जिस दिन पहिले विवाह कार्यमें प्रवृत्त हो,उस दिन तक (३दिन) पति पत्नी दोनों ही क्षार लवणको छोड़,हविष्य भोजन करे, किन्तु ब्रह्मचर्य भ्रष्ट न हो, * और भूमि, में शयन करें ॥ १४ ॥

अत्रार्घ्यमित्याहुरागतेष्वित्येके ॥ १५ । १६ ॥

'अत्र' तिसृषु रात्रिषु यस्मिन् कस्मिन्नपि काले यथावसरं कन्या पित्रा वराय 'अर्घ्यं' अर्हणीयवस्तुजातं मधुपर्कादिकम् प्रदातव्यम् 'इत्याहुः' प्राचीनाचार्याः

---

* कभी जिस कन्या का रजः प्रकाश न हुआ हो ऐसी कन्या गोभिलाचार्य के मत से एवं अन्यान्य सूत्रकार एवं स्मृतिकारादि के मत से भी सम्भोग योग्य नहीं, और इस स्थान में आचार्य ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से तीन रात में भी सम्भोग निषेध करते हैं। तो इस से भी स्पष्ट प्रकाशित होता है कि रजस्वला होने ही पर कन्या विवाह योग्य उत्तम होती हैं अन्यथा नहीं ॥

(१५)। 'आगतेषु' वरार्चनीयजनेषु तस्मिन्नेव काले अर्घ्येषु एव अर्घ्यदानं कर्त्तव्यम् 'इत्येके' मन्याः (१६) ॥ १५, १६ अनयोर्भोजननियमोऽव्यवस्थाप्यते —

भाषा—इन तीन दिनोंमें जिस किसी दिनमें, जिस किसी समय हो, कन्याका पिता अपने क्रमानुसार वरकी 'मधुपर्क' आदि वस्तुओंसे पूजा करे, यही प्राचीन मत है। किन्तु किसी २ का मत है कि जिन लोगों की पूजा करनी हो उनके आने के समय ही करे। इसी को 'अर्घ्यदान' कहते हैं ॥१५-१६॥

हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत श्वोभूते वा समशनीयꣳ स्थालीपाकं कुर्वीत तस्य देवता अग्निः प्रजापतिर्विश्वेदेवा अनुमतिरित्युद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं पाणिनाभिमृशेदन्नपाशेन मणिनेति भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै प्रदाय यथार्थम् ॥ १७—२१ ॥

'हविष्यं' क्षारादिवर्जितम् 'अन्नम्' 'प्रथम' पत्नीभोजनात् पूर्वं 'परिजपितं' वक्ष्यमाणप्रकारेण विधास्यमानमन्त्रेण च (२० सू०) 'भुञ्जीत' पतिः (१७) 'वा' अथवा 'श्वोभूते' तत्परदिने 'समशनीयं' सम्यग्भोजनयोग्यं 'स्थालीपाकं' स्थाल्यां पक्वमन्नं 'कुर्वीत' (१८) 'तस्य' अन्नस्य भोजनाय 'अग्निः प्रजापतिः विश्वेदेवाः अनुमतिः'—'इति' इमाः चतस्रो देवताः' स्तुत्याः (१९) 'स्थालीपाकम्' 'उद्धृत्य' पाकस्थानात् 'एकदेश' तदीयं किञ्चिदंशं स्वभोजनयोग्यं 'व्यूह्य' पात्रान्तरे निक्षिप्य अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥ ८ ॥ यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिदꣳहृदयं मम तदस्तु तव ॥ ९ ॥ अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वासौ' ॥ १० ॥ मं० ब्रा० १, ३, ८—१०' 'इति' इमान्मन्त्रान् पठन् 'पाणिना' अभिमृशेत्' परिवेशयेत् (२०)। 'भुक्त्वा' स्वभोजनानन्तरम् 'उच्छिष्टं' तत् 'वध्वै' तस्यै 'प्रदाय' 'यथार्थः' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (२१) ॥ १७-२१ ॥

भाषा—अब पति एवं भार्या के भोजन की व्यवस्था कही जाती है। पहिला दिन तो "अर्घ्या" से उन की तृप्ति हो सकती है, दूसरे दिन वधू अरुन्धती

नक्षत्र के देखने तक व्याकुल रहेगी, विशेषतः मार्ग में दूसरे के घरमें पाक की सामग्री होनी भी कठिन होगी; यदि हो तो उसी दिन, अन्यथा, उसके दूसरे दिन प्रभात होने ही से, अपना अच्छे प्रकार भोजन योग्य पाक करे पाक प्रस्तुत होने पर, अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेवा, और अनुमति देवतागण क्रमसे आराध्य होंगे । अपने खाने योग्य दूसरे पात्र में ढाल कर 'अन्न पाशेन मणिना' मन्त्र को पढ़ कर परोस कर भोजन करे । खाने से बचे अन्न वधू को देवे स्वयं यथेच्छ विचरण करे ॥ १७—२१ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २२ ॥ ३

अस्य कर्मणः 'दक्षिणा' 'गौः एकेति ॥ २२ ॥ ३

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्।२,३

भाषा—इस विवाह कार्य में दक्षिणा एक गौ देवे ॥ २२ ॥

गोभिलगृह्य सूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ

यानमारोहन्त्याᳬसुकिᳬशुकᳬशाल्मलिमित्येतामृचं जपेत् १

'यानं' रथादिकम् 'आरोहन्त्यां' तस्यां वध्वा सुकिᳬशुकᳬ शल्मलिं विश्वरूपᳬ सुवर्णवर्णᳬसुकृतᳬसुचक्रम् । आरोह सूर्ये अमृतस्य नाभिᳬस्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥११॥ (म० ब्रा० १, ३, ११)'—'इत्येताम् ऋचं 'जपेत्' पतिरिति शेषः । १

भाषा—पति के घर जाने के लिये वधूको रथ आदि सवारी पर बिठला वे एवं वधू के चढते समय पति "सुकिं शुकं शाल्मलिं मन्त्र" को पढ़े ॥१॥

अध्वनि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत नदीश्च विषमाणि च महावृक्षाञ्छ्मशानञ्च मा विदन् परिपन्थिन इति ॥२॥

'अध्वनि' पथि 'चतुष्पथान्, नदीश्च' 'विषमाणि च' सङ्कटस्थानानि च, 'महावृक्षान् श्मशानञ्च' प्राप्य "मा विदीदन् परिपन्थिनो या आसीदन्ति दम्पती सुगेभि र्दुर्गमतीता मपद्रान्त्वरातयः" ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ३, १२),—'इति इमं मन्त्रं

पठन् 'प्रति' प्रतिवारं यदा यदा उपतिष्ठेत तदा तदैव 'मन्त्रयेत' मननमीश्वरचिन्तनं कुर्यात् । २

भाषा—मार्ग में चौराहा, नदी, या किसी प्रकार का सङ्कट स्थान, बड़ा वृत्त, और श्मशान, जब २ मिले तब २ 'मा विदम्', मन्त्र को पढ़ते हुए ईश्वरका चिन्तन करे ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नद्धविमोक्षे यानविपर्य्यासेऽन्यासु चापत्सु, यमेवाग्निꣳहरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वान्यद्रव्य माहृत्य यक्ष्ऋतेचिदभिश्रिषइत्याज्यशेषेणाभ्यञ्जेत् ॥ ३

'अक्षभङ्गे' रथचक्रे भग्ने, 'नद्धविमोक्षे' नद्धात् प्रच्युतेऽश्वादौ 'यानविपर्यासे' वाहनदौरात्म्येन रथस्य पश्चात् पार्श्वयोर्वा गमने सति, 'च' अपि 'अन्यासु आपत्सु समापतितासु किंकर्त्तव्यमित्याहः,-तदा 'यमेवाग्नि' लौकिकमलौकिकं (१,१,१५—१९ सू०) वा 'हरन्ति' आहरन्ति विपत्पातदर्शनसञ्जातादयः स्वजनाः पान्यास्तद्ग्राम्या वा 'तमेव' अग्निम् 'उप' समीपे 'समाधाय' सम्यक् प्रज्वाल्य तत्रैवाग्नौ 'व्याहृतिभिः' तिसृभिः आज्यतन्त्रेण 'हुत्वा, ततः 'अन्यद्रव्यं' अन्यच्चक्रादिकं यानान्तरं वा 'आहृत्य" समीपतो यथालभ्यं संगृह्य 'यऋतेचिदभिश्रिपे (सा० छ० आ० ३, २, १, २)'--'इति' ऋङ्मूलकं साम (गे०गा० ६, २, २२) गायन् [अनादिष्टपरिभाषयात्र साम्न एव बोधः सूत्रे ऋगादिपदानुल्लेखात्] 'आज्यशेषेण' हुतावशिष्टेनाज्येन तं चक्रादिकं यथास्थानं 'अभ्यञ्जेत्' म्रक्षयेत ॥ ३ ॥

भाषा -यदि मार्गमें रथका पहिया टूट जावे, या रथ हांकने वाला रथसे गिर जावे, या मार्गसे भिन्न, या पीछे रथको गिरा देवे, तो इस दोष की शान्ति के लिये वहीं अग्नि स्थापन कर तीन महाव्याहृति से आहुति देवे । यह अग्नि पूर्वोक्त विधानानुसार (प्र० १ ख० १ सू० १५-१९) सगृहीत करने से अच्छा होगा । कारण वश ऐसा न हो, तो चाहे जैसे हो, क्षति नहीं । पीछे पहिया, या दूसरी सवारी मिलने पर 'य ऋतेचिदभिश्रिषे'(सा० छ० आ० ३, २, १, २) ऋङ्मूलकसाम (गे० गा० ६, २, २२) गान करके होम से बचे घी को चक्रादिक के उचित स्थान में लगा देवे ॥ ३ ॥

वामदेव्यं गीत्वाऽऽरोहेत् प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ४, ५ ॥

ततः वामदेव्यं वामदेव्यनामकं साम 'गीत्वा' 'आरोहेत्' पुनरपि रथादि यानं, पतिः वधूसहितः (४)। 'प्राप्तेषु' स्वगृहेषु पुनरपि 'वामदेव्यं' गायेदितिशेषः॥ ४, ५॥

भाषा—सवारी के दोष दूर होने और दूसरी सवारी आ जाने पर उसमें वधू सहित पतिके चढ़ते समय 'वामदेव्य सामगान' करे और पीछे अपने २ घर आने पर सवारी से उतरते समय भी 'वामदेव्य' गान करे॥ ४॥

गृहगतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरोप्यानडुहे चर्मण्युपवेशयन्तीह गावः प्रजायध्वमिति तस्याःकुमारमुपस्थ आदध्युस्तस्मै शकलोटाञ्जलावावपेयुःफलानि वा॥ ६-९॥

ततः 'गृहागतां' पतिभवनद्वारोपनीतां तां वधूं 'पतिपुत्र-शीलसम्पन्नाः' ब्राह्मण्यः' तस्मात् यानात् 'अवरोप्य' अवतार्य 'आनडुहे चर्मणि' पातितगोचर्मोपरि "इह गावः प्रजायध्व मिहाश्व इह पूरुषः। इहो सहस्र दक्षिणोपि पूषा निषीदतु" ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ३, १३)-'इति' मन्त्रं पठन्त्याः ताएव तां तत्र 'उपवेशयन्ति' (६)। 'तस्याः' 'उपस्थे' क्रोडे ताएव ब्राह्मण्यः 'कुमारम्' यं कमपि 'आदध्युः' स्थापयेयुः (७) 'तस्मै' कुमाराय क्रीडार्थं 'शकलोटान्' कर्दमनिर्मितसुपक्वगोलकान् क्रीडनकान् 'अञ्जलौ' 'आवपेयुः' प्रदद्युः (८)। 'वा' अथवा 'फलानि' आम्रादीनि आवपेयुरित्येव (९ ॥ ६-९ ॥

भाषा-और पतिके घरके द्वारपर लायी हुई वधूको, पति पुत्रवाली और शीलवाली ब्राह्मणीगण सवारी से उतार कर 'इहगावः प्रजायध्वं' मन्त्रको पढ़कर बिछाए हुए गो-चर्मपर बिठलावे ॥६॥ वधूके गोदमें उन्हीं ब्राह्मणियों में से, एक स्त्री एक लड़के को देवे॥ ७॥ और उस बालक की अञ्जली में कई एक मट्टीका बनां अग्निमें पके हुए सुन्दर खिलौने देवे ॥८॥ या खाने के लिये आम्र आदि मधुर फल भी दे सकते हैं ॥ ९। ६-९ ॥

उत्थाप्यकुमारंध्रुवाआज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविहधृतिरिति १०

ततश्च तस्या उत्सङ्गतः 'कुमारं' 'सूर्यदत्तम्' 'उत्थाप्य' ध्रुवाः' ध्रुवनामतः

प्रसिद्धाः 'अष्टौ' सङ्ख्याकाः 'आज्याहुतीः' आज्य तन्त्रेण आहुतीः "इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्ति रिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयिरथो मयिरमस्व ॥१५॥ (म० ब्रा० १, ६, १, ४),–'इति' एतत्प्रभृतिभिरष्टाभिर्यजुभिर्मन्त्रैः यथाक्रमतः जुहोति' जुहुयात् पतिः ॥ १० ॥

भाषा—फिर पति वधूके गोदमें के बालक को उठा कर 'इहधृति' आदि यजुर्वेद के ८ मन्त्रोंसे ध्रुवनाम से प्रसिद्ध ८ आहुति, आज्य तन्त्र से देवे ॥१०॥

समाप्तासु "समिधमाधाय" यथावयसं "गुरून्" गोत्रेणाभिवाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥ ४ ॥

'समाप्तासु' ध्रुवाहुतिषु 'समिधम्' तत्राग्नौ अमन्त्रकमेव 'आधाय' प्रदाय 'यथावयसं' वयोऽनुसारेणोत्तरोत्तरं गुरून् मान्यान् तत्रोपस्थितान् 'गोत्रेण' गोत्रोच्चारणपूर्वकम् 'अभिवाद्य' पादग्रहणेनप्रणम्य 'यथार्थम्' स्वप्रयोजनानुसारतो विहरेत् ॥ ११, ४ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठकेचतुर्थखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम्॥ २,४॥

भाषा—उक्त ध्रुवाहुति के विना मन्त्र पढ़े अग्निमें एक समिधा डाले बाद मान्य लोगों के वयसानुसार पश्चात् और बड़ी उमरवाले पहिले, छोटी उमरवाले पीछेको क्रमसे पैर पकड़ २ अपना गोत्र बोलता हुआ अभिवादन करे ॥११॥

गोभिलगृहसूत्रके द्वितीयअध्यायके चतुर्थखण्डकाभाषानुवादपूरा हुआ २, ४।

अथातश्चतुर्थीकर्म्म ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, 'अतः' इतआरभ्य 'चतुर्थीकर्म्म' विवाहरात्रितः चतुर्थ्यां तिथौ करणीयम् वच्मीति शेषः ॥ १ ॥

भाषा—अब चतुर्थी कर्म्म जो विवाहकी रातसे ४थी तिथिको होता है कहता हूं ॥१॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोत्यग्ने प्रायश्चित्त इति चतुरग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः समस्य पञ्चमीं बहुवदूह्याहुतेराहुतेः स्रुवसम्पातमुदपात्रेऽवनयेत्तेनैनां सकेशनखामभ्यज्य हासयित्वा प्लावयन्ति ॥ २-६ ॥

'अग्निम्' 'उपसमाधाय' "अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्ति रसि ब्राह्म

णस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याःपापी लक्ष्मी स्तामस्या अपजहि ॥ १ ॥ वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्ता मस्या अपजहि ॥ २ ॥ चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यातनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपशव्या तनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्निवायु चन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीर्या पतिघ्नी या पुत्र्या या पाशव्या ता अस्या अपहत" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, ४ १)'—,इति' एभिर्मन्त्रैः पतिः 'चतुः' सङ्ख्याः प्रायश्चित्ताहुतीः' प्रायश्चित्ताय वधूपापप्रशमनाय आज्यतन्त्रेण आहुतीः 'जुहोति' जुहुयात् (२) । तत्र च द्वितीयादिषु तिसृष्वाहुतिषु 'अग्ने'—इति पदस्य स्थाने क्रमेण 'वायुचन्द्रसूर्याः' ऊह्याः (३)। किञ्च 'पञ्चमीम्' 'समस्य' सर्वस्य आहुतीम् अग्न्यादिपदचतुष्टयस्य मेलनेन 'अग्निवायुचन्द्रसूर्याः'—इत्येवं सम्बुध्य अपिच 'बहुवद्व ऊह्य' एकवचनस्थाने बहुवचनप्रयोगेण मन्त्रपाठं विपरिणमय्य जुहुयादित्येव (४)। 'आहुतेराहुतेः' प्रत्याहुतेरेव 'स्रुवसम्पातं' अवशिष्टघृतधाराम् 'उदपात्रे' चमसे 'अवनयेत्' स्थापयेत् (५)। 'तेन' रक्षितसम्पातसमुदायेन 'एनां' वधूं 'सकेशनखां' आपादमस्तकां सर्वतएव 'अभ्यज्य' भ्रक्षयित्वा 'ह्रासयित्वा' यानागमनादिजनितक्लेशान् शरीर व्यथारूपान् लाघवयित्वा 'आप्लावयन्ति, प्रवाहादिषु सन्तरणादिना स्नापयेयुः सख्यादयः स्वजना इति यावत् (६ ॥ २—६) चतुर्थीरात्रिकर्त्तव्यं गर्भाधानमाहः—

भाषा—पति, पत्नीके पूर्वकृतपापकेप्रायश्चित्त के लिये अग्नि स्थापन कर 'अग्नेप्रायश्चित्ते' आदि मन्त्रों से आज्य तन्त्र से चार आहुति देवे (२) उनमें से द्वितीय आदि आहुति में इस मन्त्रस्थ अग्नि के बदले 'वायु' 'चन्द्र और 'सूर्य' पढ़ना चाहिये, यही विशेषता है। ३। और पांचवी आहुती में 'अग्नि' 'वायु' 'चन्द्र' और 'सूर्य' इन्हीं चार देवताओं को एककाल में सम्बोधन करे, सुतरां मन्त्रस्थ जितने एक वचन हैं, उन सब को बहु वचन करके पढ़े। ४। इन पांच प्रायश्चित्तआहुति की प्रत्येक आहुति के अन्त में घृत के

धागपात क्रमसे चमसे में रक्षित रक्खे ।५। इस रक्षित आज्य के द्वारा उस वधू के पैर से मस्तक तक सर्वाङ्ग में अच्छे प्रकार लगा देवे, उससे मार्ग की थकावट दूर होगी, पीछे सखी आदि मिल कर नदी आदि की धारा तैरने रूप जल क्रीडा आदि करके नई बहू को स्नान करावे ॥ ६ ॥ २-६ ॥

इसके अनन्तर चतुर्थी रात्रि में कर्त्तव्य गर्भाधान की व्यवस्था कही जाती है

ऊर्द्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके यदर्त्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

'ऊर्द्ध्वं त्रिरात्रात् सम्प्रदानरात्रितः त्रिरात्रेऽतीते 'सम्भवः' सम्भवति गर्भोऽस्मादिति सम्भवः सङ्गमः 'इति' एवम् 'एके' केचिदाचार्याः आहुः एवञ्च विवहात् प्राग् दृष्टरजस्काया ऋतुमत्या नवोढायाः पतिगृहे आद्यर्त्तुप्रकाशमनपेक्ष्यैव तस्यां चतुर्थ्यां मेव रात्रौगर्भाधानायसङ्गमः कार्यः इत्येवकेषाञ्चिदाचार्याणां मतम् (७) गोभिलस्यस्वमतेतु,-नवोढा पत्नी पतिगृहंसमागत्य 'यदा' पुनः 'ऋतुमती' सती 'उपरत-शोणिता' शोणितवेगप्रवाहशून्या 'भवति' भवेत् 'तदा' तस्मिन्नेव पतिगृहागताद्यर्त्तुकाले सम्भवकालः * (८) इति गतं चतुर्थीकर्म, समाप्तञ्च विवाहप्रकरणम् , निर्णीतश्चाद्यगर्भाधानकालः ॥ ७, ८ गर्भाधानप्रकारमाहः—

भाषा—विवाह रात्रिसे तीन रात्रि ब्रह्मचर्य में व्यतीत कर' चौथी रात्रि में स्त्री प्रसङ्ग करें—यही कई एक आचार्यों का मत है। इससे उन लोगों के मत में विवाह के पूर्व ही दृष्ट रजस्का, ऋतुमती नवोढ़ा के गर्भाधान पक्ष में, पुनः पति के घर में ऋतु-प्रकाश की अपेक्षा नहीं ॥ ७ ॥ किन्तु गोभिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं है; इनके मत से नवोढ़ा पत्नी, पति के घर पर आने से पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उसका शोणित वेग (मासिकधर्म) कम होगा, वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम सङ्गम काल होगा॥७।८॥चतुर्थी कर्मके साथ और विवाह प्रकरण भी पूरा हुआ

* अतएव वक्ष्यति तृतीये 'मातुरसपिण्डानग्निका तु श्रेष्ठा,,—इति दारकर्मणि अनग्निकाया एव प्राशंस्त्यम्। परिशिष्टे च "ऋतुमती त्वनग्निका ता प्रयच्छेत्त्वनग्निकाम्,,—इति स्फुटम् ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्येतयर्चा गर्भन्धेहिसिनीवालीतिचसमाप्यर्चौसम्भवतः । ९,१०।५।

प्रथमतः पतिः "विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते" ॥ ६ ॥ (मं० ब्रा० १ । ४ । ६) 'इत्येतयर्चा, "गर्भन्धेहिसिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्वति । गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्कर-स्रजौ" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, ४, ७)'–'इति च मन्त्राभ्यां स्वकीयेन 'दक्षिणेन हस्तेन, उपस्थं' पत्न्याः प्रजननदेशम् 'अभिमृशेत्' (८) 'ऋचौ' पूर्वोक्ते 'समाप्य' पाठेन मननेन अभिमर्शनफलदर्शनेन च ततः 'सम्भवतः' मिथः सङ्गमं कुरुतः दम्पतीति (९) । गतं गर्भाधानम् ॥९,१०॥ ५ इति सामवेदीयेगोभिल-गृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥२-५॥

भाषा–पहिले पति' "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" ऋक् एवं 'गर्भंधेहि सिनीवालि' ऋक् पढ़ कर पत्नि की योनि को मार्जन करे । और ऋचाओं का पठनमननऔरउसके साथ अभिमर्शन फल दर्शन होनेपरदोनों संगम करे * ॥९–१०॥ गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके पांचवे खण्डका अनुवाद पूरा हुआ ।२।५

तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुंसवनस्य कालः ॥ १ ॥

'गर्भमासस्य तृतीयस्य' गर्भमाससम्बन्धितृतीयस्य मासस्य 'आदिसदेशे' आद्यर्द्धस्य प्रथमपक्षस्येति यावत् सदेशे समीपे अष्टम्यभ्यन्तरे एव व्यवहारः 'पुंसवनस्य' संस्कारविशेषस्य 'कालः' ज्ञातव्यइति शेषः । १ पुंसवनप्रकारमाहः—

भाषा–जिस मासमें (गर्भाधान हो, उससे तीसरे मासके आदि पक्षके निकट ही अर्थात् अष्टमी के भीतर पुंसवन संस्कार काल जानो ॥१॥

---

* यह गर्भाधान संस्कार आश्वलायन, आपस्तम्ब, कात्यायन प्रभृति गृह्यसूत्र कारों के मत से ऋतु मती कन्या विवाह के पीछे चौथी रात्रि में भी हो सकता है । परन्तु गोभिलाचार्य के मत से वैसी कन्या के विवाह के पीछे पति के घर फिर रजोदर्शन होने पर, उसी आद्य ऋतु अनिषिद्ध काल में कर्त्तव्य है । गर्भ ग्रहण काल ज्ञान हो जाने पर प्रतिगर्भ के आधान काल में यह संस्कार करे, अन्ततः पति के घर पहिले रजोदर्शन में तो अवश्य करे ।

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमꣳसमन्ववमृश्यानन्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत् पुमाꣳसौ मित्रावरुणावित्येतयर्चाथ यथार्थम् ॥२-४॥

'प्रातः' समये 'उददग्रेषु दर्भेषु' उपनीता वधूः 'सशिरस्का आप्लुता' शिरः प्रभृतिसर्वाङ्गजलसिक्ता स्नाता सती 'अग्नेः' पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि तथैव 'प्रागग्रेषु' दर्भेषु पातितेषु उपरि 'प्राची प्राङ्मुखी पुरतोऽग्निं कृत्वेति फलितम्। 'उपविशति' उपविशेत् (२)। ततः पश्चात् 'पतिः' 'अवस्थाय' तां वधूं क्रोडी कृत्वेति यावत्, 'दक्षिणेन पाणिना' तस्याएव बध्वाः 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्ववमृश्य' किञ्चिदुत्तानायथास्यात्तथा पश्चादाकृष्य "पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ। पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे" ॥८॥ (म०ब्रा०१,४,८)' 'इति एतया ऋचा' स्मर्त्तव्यं देवं संस्मरन् तस्याएव 'नाभिदेशम्' 'अनन्तर्हितं' वस्त्राद्यावरणशून्यं प्रकृत्य ' अभिमृशेत् ' विशेषेण स्पृशेत्, शेषेण सव्येनैव हस्तेनेति गम्य ते (३)। अथ तदनन्तरं 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् सः ॥ २-४ ॥

भाषा—प्रातःकाल उत्तराग्र कुशासन पर तीन मास की गर्भवाली वधू को बैठावे एवं मस्तक आदि सर्व शरीर जल में आप्लुत कर अग्नि के पश्चिम ओर डाले हुये उत्तराग्र कुश के आसन पर बैठावे, और उसे गोद में लेकर पति भी बैठे। तब दहिने हाथ से बधू के दक्षिण कांधा अपने गोद की ओर कुछ, ऊपर को खींच कर रक्खे, और बायें हाथ से उसके कंधनी को खोल कर उसके नाभि प्रदेश को अच्छे प्रकार स्पर्श करे और छूते समय 'पुमांसौ मित्रावरुणौ, ऋङ्मन्त्र से स्मरणीय देवता का स्मरण करे। उसके अनन्तर स्वेच्छया विचरे ॥ २—४ ॥

अथापरम् ॥ ५

'अथ' तत्कार्य्यानन्तरम् 'अपरम्' अपि एकमस्ति कार्यं पुंसवनस्येति। तदपि पूर्वोक्तकालाभ्यन्तरे [सू० १) एव कर्त्तव्यं परं यस्मिन् दिने नाभिमर्शनं कृतं

तस्मिन्नेव, तत्परदिने, तत्पर परदिने वेति नायं नियमः॥ ५ ॥ किन्तदपरं कार्यमिति स्फुटयति—

भाषा-इस नाभिमर्शन कार्य्य के पीछे पुंसवन संस्कार करने में एक कार्य्य होता है वह भी पूर्वोक्त ही काल में होगा। (सू०१) किन्तु जिस दिन नाभि मर्शन हो उसी दिनया उसके दूसरे तीसरेदिन करे इसका नियम नहीं ॥५॥

प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधशुङ्गामुभयतः फलामस्रामामकृमिपरिसृप्तां त्रिःसप्तैर्यवैर्माषैर्वा परिक्रीयोत्थापयेद्यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि विश्वेभ्योदेवेभ्यो विश्वेभ्योदेवेभ्यस्त्वा परिक्रीणाम्योषधयः सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्य्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यतीत्युत्थाप्य तृणैः परिधायाहृत्यवैहायसींनिदध्यादृषदंप्रक्षाल्य ब्रह्मचारी व्रतवती वा ब्रह्मबन्धूः कुमारी वाऽपत्या हरन्ती पिनष्टि प्रातः सशिरस्काऽऽल्प्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राक्शिराः संविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य दक्षिणे नासिकास्रोतस्यवनयेत् पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयर्चाथ यथार्थम् ॥६-१२॥ ६

'प्रागुदीच्यां' ऐशान्यां दिशि सञ्जातां 'न्यग्रोधशुङ्गां' न्यग्रोधस्य वटस्य शुङ्गां अस्फुटितपत्रमिति यावत् 'त्रिः सप्तैः यवैर्माषैर्वा' एकविंशतिमाषान् एकविंशतियवान् वा वृक्षस्वामिने मूल्यं दत्त्वा तत्सकाशात् 'परिक्रीय' 'उत्थापयेत्'। शुङ्गां

विशिनष्टि—'उभयतः फलाम्' यस्या उभयोः पार्श्वयोरेव फले विद्येते तादृशीं; किञ्च 'अस्रामाम्' अम्लानाम् , किञ्च 'अकृमिपरिसृप्तां' कृमिभिः पत्रकीटैः परिसृप्ता परिव्याप्ता, एतादृशीम् (६)। तत्परिक्रयणमन्त्राः सप्त । तानाह;—हे शुङ्गे ! त्वं यदि 'सौमी' सोमदेवतायाः प्रिया 'असि' तर्हि 'सोमाया राज्ञे' सोमराजप्रीत्यर्थमेव 'त्वा' त्वां 'परिक्रीणामि' १ । त्वं 'यदि' 'वारुणी' वरुणदेवतायाः प्रिया 'असि' तर्हि तस्मै 'वरुणाय राज्ञे' एव 'त्वा' परिक्रीणामि २ । त्वं 'यदि' 'वसुभ्यः' वस्वष्टकानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'वसुभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ३ । त्वं 'यदि' 'रुद्रेभ्यः' रुद्राणामेकादशानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'रुद्रेभ्यः' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ४ । त्वं 'यदि' 'आदित्येभ्यः' द्वादशादित्यानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'आदित्येभ्यः' एव त्वा' 'परिक्रीणामि' ५ । त्वं 'यदि' 'मरुद्भ्यः' एकोनपञ्चाशतां मरुतां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'मरुद्भ्यः एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' । ६ । 'यदि' 'विश्वेभ्योदेवेभ्य.' सर्वदेवप्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना 'असि' तर्हि 'विश्वेभ्योदेवेभ्य.' एव 'त्वा' 'परिक्रीणामि' ७ । इति सप्त परिक्रयणमन्त्राः (७)। अथोत्थापनमन्त्रः;—हे 'ओषधयः' ! यूयं 'सुमनसः' प्रसन्नाः सन्तः 'अस्यां' वध्वां 'वीर्यं समाधत्त' वीर्यसमाधानं कुरुत, किन्निमित्तमित्याह—'इयं' वधूः 'कर्म' गर्भप्रसवनं 'करिष्यति' ततएव वीर्यस्य प्रयोजनम्; 'इति इमं मन्त्रं पठन् 'उत्थाप्य' ताः 'तृणैः' यथालभ्यैः 'परिधाय' वेष्टयित्वा 'वैहायसीं' आकाशसम्बन्धिनीं लताममरवेलेति प्रसिद्धाम् 'आहृत्य' तदुपरि 'निदध्यात्' स्थापयेत् (८)। ततश्च 'दृषदं' शिलापट्टकं 'प्रक्षाल्य' अपरवस्तुकणासंसर्गं यथा न स्यात् प्रक्षालनेनैवं विधाय तत्र 'ब्रह्मचारी' ऋतावन्यत्र स्वभार्यायामपि यो न सङ्गच्छते सः, 'व्रतवती वा' पातिव्रत्यं व्रतं यथा पाल्यते विशेषेण सा, 'ब्रह्मबन्धुः' ब्राह्मणजातीया 'कुमारी वा' अनूढ़ा ब्राह्मणकन्येति यावत् 'अप्रत्याहरन्ती' प्रत्याहारस्त्यागस्तमकुर्वन्ती अविश्रामेणैव झटित्येवेति यावत् अन्यथा वाय्वादियोगात् ओषधिवीर्यं नष्टं स्यादेव 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात्, ताः शुङ्गाः इत्यर्थादागतम् उपलेनेति च (९)। ततश्च 'प्रातः' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उपस्थिता सा वधूः 'सशिरस्का आप्लुता'

सती, 'अग्नेः' 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रेषु दर्भेषु' पातितेषु 'प्राक्शिराः' पूर्वदिग्गतमस्तका भवन्ती 'संविशति' संवेशनमर्द्धशयनमिश्रोपवेशनं कुर्यात् (१०)। ततः 'पश्चात्' पतिः 'अवस्थाय' 'दक्षिणस्य पाणेः' अङ्गुष्ठेन' 'उपक निष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या' अङ्गुष्ठानामिकाभ्यामिति यावत् 'अभि' अभितः सर्वतोव्याप्य 'संगृह्य' तत् पिष्टशुङ्गारसं तस्या वध्वाः 'दक्षिणे' नासिकास्रोतसि' नासिकन्रन्ध्रे 'अवनयेत्' अवक्षिपेत् आघ्रापयेद्वाः "पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः। पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १, ४, ९)-'इति' एतया ऋचा इष्टं संस्मरन्निति शेषः (११)। अथ अनन्तरं 'यथार्थं'' यथाप्रयोजनं विहरे दिति शेषः (१२ ॥ गतमिदं पुंसवनकर्म ॥

इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीय प्रपाठकेषष्ठखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥२,६।

भाषा—इशान कोण में जो कोई बड़का वृक्ष हो, उस वृक्ष के स्वामीको २१ यव, या २१ उड़द मूल्य देकर शुङ्ग(टूसा)खरीद कर तोड़े। इस शुङ्ग के दोनों ओर फल होना चाहिये, सूखा न हो और उसमें कीड़े न लगे हों।६। इस शुङ्ग के मोल लेते समय "हे शुङ्गे !" इत्यादि ७ मन्त्रों का पाठ करे।७। तत्पश्चात् इन मन्त्रों को पढ़ कर उस शुङ्ग को वृक्ष से उखाड़ या तोड़ लेवे यह कह कर कि हे ओषधि गण ! तुम सब प्रसन्न होकर इस वधू में वीर्य्य साधन करो, जिस्से यह वधू कष्ट रहित प्रसव करे। उखाड़े हुए शुङ्ग को तृण से ढाक कर अमरवेल, या सूक्ष्म जटामांसी संग्रह कर इसकी रक्षा करे ॥८॥ अनन्तर शीलको अच्छे प्रकार धोकर उस पर कोई ब्रह्मचारी (जो गृही ऋतु काल ही में अपनी भार्य्या के पास गमन करता हो, ऐसा)या कोई पति व्रताया ब्राह्मण वंशकी कोई कुमारी, उसे अविश्राम हो पीसे। अर्थात् पीसते समय ही ओषधि का सब गन्ध हवा द्वारा खीच न जावे इस लिये शीघ्र पीस लेवे। प्रातःकाल वधू उत्तराग्र कुशाओं पर बैठ कर माथे तक जल में गोता लगा स्नान कर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र डाले हुए कुशासन पर पूर्व की ओर शिर कर जागती हुई लेटी रहे ॥ १० ॥ पति उसके पीछे रह कर अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुलि से पीसा हुआ शुङ्ग से रस लेकर उसके दहिने नाक

के छिद्र में डाले, या सूंघावे । और 'पुमानग्निः पुमानिन्द्रः' मन्त्र का पाठ करते हुए पति अपने इष्ट देव का स्मरण करे। (११) इसके अनन्तर यथेच्छ भ्रमण करे यही पुंसवन कर्म है ॥ ६-१२ । ६ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के छठे खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२,६॥

अथ सीमन्तकरणम् ॥ १ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति । 'सीमन्तकरणम्' नाम कर्म, संस्कारविशेषः । तदधिकृत्य वक्ष्मीति ॥ १ ॥ तस्य कालं विधत्ते;—

भाषा—अब 'सीमन्तोन्नयन' नामक संस्कार का वर्णन किया जाता है ।१।

प्रथमगर्भे चतुर्थे मासि षष्ठेऽष्टमे वा ॥ २ ॥

'प्रथमे गर्भे' एष हि संस्कारः प्रथमे एव गर्भे कार्यः न तु प्रतिगर्भम् । तत्र च 'चतुर्थे षष्ठे अष्टमे वा मासि' कुर्यादितितत्कालविधिः ॥ २ ॥ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते—

भाषा—यह सीमन्तोन्नयन केवल प्रथम गर्भाधान में करे इस का समय ४ था, 'छठा', या ८ वां मास है ॥ २ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मन्तमौदुम्बरं शलाटुग्रथनमाबध्नाति अयमूर्जावतो वृक्ष इत्यथ सीमन्तमूर्द्ध्वमुन्नयति भूरिति दर्भपिञ्जुलीभिरेव प्रथमं भुवरिति द्वितीयं स्वरिति तृतीयमथवीरतरेण येनादितेरित्ये तयर्चाऽथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतयर्चा त्रिश्वेतया च शलल्या यास्ते राके सुमतय इति कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृत स्तमवेक्षयेत् किम्पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीतिब्राह्मण्यो मङ्गल्याभिर्वाग्भिरुपासीरन् ॥३-१२

'प्रातः' पूर्वाह्ने, 'उदगग्रेषु दर्भेषु' उत्तराग्रीकृतपातितकुशासने उपविष्टा सती 'सशिरस्का आप्लुता' स्नाता भवती 'अग्नेः पश्चात्' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राची' प्राङ्मुखी 'उपविशति' (३) । 'पतिः' तस्या वध्वाः 'पश्चात्' 'अवस्थाय' 'युग्मन्तम्' युग्मानि फलानि यस्मिन् तादृशम् 'औदुम्बरम्' उदुम्बरगुच्छं शलाग्रथनम्' शलाटुनामफलविशेषस्य स्तवकञ्च "अय मूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव । पर्णं वनस्पतेऽनुत्वानुत्वा सूयताꣳरयिः" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, ५, १) 'इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'आबध्नाति' वध्वाः मस्तके कण्ठे बाहौ कट्यां नाभौ अञ्चले वेति न नियमः (४) । 'अथ' अनन्तरम् । 'सीमन्तम्' केशरचनाविशेषम् 'ऊद्ध्वंम् उन्नयति' उन्नयेत् पतिरेव । तत्र 'तत्र दर्भपिञ्जूलीभिः' शुष्कैः गर्भसारश्च कुशसमूहैः 'भूः'–'इति' मन्त्रेण 'प्रथमम्' उन्नयनम्; 'भुवः'-'इति' मन्त्रेण 'द्वितीयम्' उन्नयनम्, 'स्वः'—'इति' मन्त्रेण तृतीयम्' उन्नयनम्' (५) । 'वीरतरेण' शरतृणविशेषेण "येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ५, २)'–'इत्येतया ऋचा' च सीमन्तमूद्र्ध्वमुन्नयति पतिः (६) 'अथ' तदनन्तरम् "राकामहꣳ सुहवां सुष्टुतीहुवे शृणुत नः सुभगा बोधतु आत्मना । सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरꣳशतदायुमुख्यम्" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ३)'–'इत्येतया ऋचा' 'पूर्णचात्रेण' सूत्रपूर्णतर्कुणा सीमन्तोन्नयनम् (७)। 'च' किञ्च "यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्र पोषꣳसुभगे रराणा" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ४)'—'इति' मन्त्रं पठन् पतिः 'त्रिश्वेतया' त्रिषुस्थानेषु श्वेतवर्णया 'शलल्या' शल्लकीकण्टकेन सीमन्तमूद्र्ध्वमुन्नयेत् (८) । ततश्च; 'स्थालीपाकः' स्थाल्यां पक्वः 'उत्तरघृतः' पाकान्ते घृतमिश्रितः 'कृसरः' तिलतण्डुलसमूहः 'कृसरः' इति कृसरलक्षणम् ; 'तम्' तादृशं कृसरम् 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत् पत्नीं पतिरिति (९) । यदा सा तं पश्यति, तदैव पतिः पृच्छेत् 'किम् पश्यसि?—इति' 'उक्ता' पतिनैवं पृष्टा सा, "(किं पश्यसि ?)-प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ५)'—'इति' इमं मन्त्रं 'वाचयेत्' पत्नीं पतिः (१०) । 'तं'

कृसरं 'सा' वधूः 'स्वयं भुञ्जीत' (११) । तस्मिन्नेव भोजनकाले 'ब्राह्मण्यः' 'वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नी'—'इति' एवमादिभिः 'मङ्गल्याभिर्गीर्भिः आशीर्वाक्यैः 'उपासीरन्' ईश्वरमिति शेषः (१२) । इति सीमन्तोन्नयनम् । ३—१२ ॥

भाषा—अब उक्त संस्कार का विधि कहा जाता है, प्रातःकाल उत्तराग्र विछाये हुए कुश के आसन पर वधू को बैठा कर माथे तक भिगोकर स्नान करावे । पीछे अग्नि के पश्चिम भाग में विछाये हुये उत्तराग्र कुशासन पर पूर्वाभिमुख उसे बैठावे, पति भी उसके पीछे रहे । अनन्तर उदुम्बर का गुच्छा और एक शलाटुका, उस वधू के अञ्चल में या शरीर के जिस किसी वान्धने योग्य कटिके ऊपर अङ्ग में बान्ध देवे । दोनों गुच्छाओं के वांधते समय 'अयमूर्ज्जावतो वृक्ष॰ मन्त्र पढ़े । उसके पश्चात् सारगर्भ सूखा कुशा समूल निर्म्मित पिञ्जूलि से उस वधू का केश सम्हारे 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम वार, भुवः' मन्त्र से द्वितीयवार और 'स्वः' मन्त्र से तृतीय वार सीमन्त के केश आदि पिञ्जूलि द्वारा बढ़ा देवे । 'येनादिते॰' मन्त्रको पढ़ता हुआ जिस 'शर' का बाण तैयार होता हो उसी शर से सीमन्त को वीच से चीड़ कर शोभायमान करे । 'राकामहम्॰' मन्त्र को पढ़कर जिस स्याही के कांटे में तीन स्थानमें श्वेत हों ऐसे कांटे से छोटे २ केशों को ऊपर को उठा देवे । तब घी संवरा देकर आग का पका तिल तंडुल उसे देखावे और उसके दर्शन समय उसे पति पूछे कि 'तुम उसमें क्या देखती हो ?, उत्तर में वधू बोले कि 'प्रजा' इत्यादि। अनन्तर उस दिन वधू उसी को भोजन करे और उस भोजन करते समय ब्राह्मणीगण वधू को 'वीर-प्रसविनी होओ' इत्यादि मङ्गल सूचक वाक्यों से ईश्वरोपासना करें । यही सीमन्तोन्नयन संस्कार है ।३,१२।

अथ सोष्यन्तीहोमः ॥१३॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति । 'सोष्यन्तीहोमः' एतन्नामकश्चापरः संस्कारः कार्यः ॥ १३ ॥ तस्य कालं विधत्ते;—

भाषा—इसके अनन्तर 'सोष्यन्ती-होम' नामक संस्कार होता है ॥१३॥

प्रतिष्ठिते वस्तौ ॥ १४ ॥

'वस्तौ' योनिप्रदेशे 'प्रतिष्ठिते' गर्भे समुपस्थिते सोष्यन्ती होमः कार्यः इति तत्कालनिर्देशः । १४ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्तेः;—

भाषा—जिस समय प्रसवके द्वार देशमें गर्भ आ पड़े उसी समय अर्थात् प्रसवके लगे हुए यह 'सोष्यन्तीहोम' संस्कार करे ॥ १४ ॥

परिस्तीर्य्याग्निमाज्याहुती जुहोति या तिरश्चीत्येत-तयर्चा विपश्चित्पुच्छमभरदिति च पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नामेति नामधेयं गृह्णाति यत्तद् गुह्यमेव भवति ॥१५-१७॥

'अग्निम् परिस्तीर्य' 'तत्र' या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सᳬराधनी महम् । "सᳬराधन्यै देव्यै देष्ट्र्यै ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ६)'—'इत्येतयर्चा', विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत्। परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ७) 'इति' अनया च 'आज्याहुती' आज्यतन्त्रेण आहुतिद्वयम् 'जुहोति' जुहुयात् (१५)। अपरञ्च 'अयं' गर्भः 'पुमान् जनिष्यते' चेत् 'असौ नाम'—'इति' 'नामधेयं' जनिष्यमाण पुत्राख्यां 'गृह्णाति' प्रकल्प्य रक्षति (१६)। 'यत् नामधेयं मनसि निश्चितम्, 'तत्' नामधेयं 'गुह्यम्' गोप्यमेव 'भवति' भवेत्, अन्यथा कन्याजाते हासाय स्याच्छत्रूणामिति (१७) । गतोऽयं सोष्यन्तीहोमसंस्कारः ॥ १५-१७ ॥ अथ जातकर्मोच्यते;—

भाषा—पूर्व उपदेश के अनुसार अग्नि स्थापनादि "परिस्तरण" कार्य के पीछे 'या तिरश्ची' इस मन्त्र से और 'विपश्चित् पुच्छमभरत्' मन्त्र से आज्य तन्त्रद्वारा दो आहुति देवे । (१५) उस समय,—यदि पुत्र जन्म लेवे तो यही नाम रक्खूंगा इस प्रकार मनही मन एक नाम स्थिर कर रक्खे। अर्थात् पुत्र की आशा करे (१६) परन्तु उसे प्रकाश न करे ॥ १५-१७ ॥

यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नथ ब्रूयात् काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चेति ॥ १८ ॥

'यदा' यस्मिन् काले प्रसवगृहस्थाः धात्रीप्रभृतयः सर्वे 'कुमारं जातम्'—

'इति' समाचारम् 'अस्मै' पित्रे 'आचक्षीरन्' "अथ तदन्यवहितमेव पिता 'ब्रूयात्'— 'नाभिकृन्तनेन' नाभिलग्ननाडीच्छेदनेन 'च' अपि स्तनप्रतिधानेन' स्तनपायनेन एनं पालयितुं 'काङ्क्षत' इच्छां कुरुत यूयम् 'इति' ॥ १८ ॥

भाषा—इसके बाद जात-कर्म संस्कार है जैसे—जिस समय सूतिका गृह में रहने वाली धाई आदि बोल उठे कि 'लड़का पैदा हुआ' तो पिता बोले कि 'नाभि से लगी हुई नाड़ी काटो और स्तन आदि पिला कर रक्षा करो' १८

व्रीहियवौ पेषयेत्तथैवाऽऽवृता यथा शुङ्गान्दक्षिणस्य पाणे रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य कुमारस्य जिह्वायां निर्माष्ठीयमाज्ञेति तथैव मेधाजननꣳ सर्पिः प्राशये ज्जातरूपेण वादाय कुमारस्य मुखे जुहोति मेधान्ते मित्रावरुणावित्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति च कृन्तत नाभिमिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ॥ १९-२२ ॥

नाभिकृन्तनात् पूर्वकृत्यमाह:- 'यथा' पूर्वोक्तया 'आवृता' परिपाट्या 'शुङ्गां' पूर्वोक्तां 'पेषयेत्' 'तथैव' व्रीहियवौ पेषयेत् (१९) पिष्टौ च व्रीहियवौ 'दक्षिणस्य पाणेः अङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया च अङ्गुल्या अभिसङ्गृह्य' "इयमाज्ञेद मन्नमिद मायुरिदममृतम्" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ८)'—'इति' इमं मन्त्र मुच्चरन् 'कुमारस्य' तस्य 'जिह्वायां' निर्मार्ष्टि' नियच्छति (२०)। 'तथैव' तेनैव' प्रकारेण दक्षिणस्य पाणेः अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां गृहीत्वेति यावत् 'मेधां ते मित्रावरुणौ मेधा मग्निर्दधातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्करस्रजौ' ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ९)'—'इत्येतयर्चा' 'च' अपि 'सदसस्पतिमद्भुतम् (छ०आ०२.२,३,७)'— 'इति' अनया 'मेधाजननं सर्पिः' 'प्राशयेत्' । 'वा' अथवा 'जातुरूपेण' 'हिरण्येन' हिरण्मयशलाकादिना 'आदाय' गृहीत्वा सर्पिः 'कुमारस्य' तस्य 'मुखे' 'जुहोति' जुहुयात् क्षिपेत् (२१)। एतदनन्तरम् 'नाभिम् कृन्तत'-'इति', 'स्तनं प्रतिधत्त'- 'इति' 'च' 'ब्रूयात्' आदिश्यात् पितेति शेषः । पित्रादेशग्रहणपूर्वकमेव नाभिकृन्तनं स्तनप्रतिधानञ्चेति गतं जातकर्म ॥ २२ ॥

भाषा—पहिले जो शुङ्गा पीसने का नियम कहा गया है उसी प्रकार धान्य तण्डुल और 'यवतण्डुल पीस कर नाड़ी छेदन के पूर्व ही दहिने हाथ से अनामिका और अङ्गुठे के द्वारा ग्रहण करते 'यही ईश्वर की आज्ञा है' यह मन्त्र पढ़ कर बालक की जीभ में चटा देवे और बुद्धि बढ़ने की इच्छा से 'मेधान्ते मित्रावरुणौ' मन्त्र और 'सदसस्पति मद्भुतम्' (छ० आ० २, २, ३, ७) दो मन्त्रों को पढ़ कर, दो वार उसी प्रकार अङ्गुठा, अनामिका द्वारा घृत भीं चटावे, या सुवर्ण की शलाकादि के अग्र भाग से लड़के के मुख में देवे । फिर नाड़ी काट कर स्तन पिलावे, ॥ १९, २२ ॥ यही जात कर्म संस्कार है ॥

अत ऊर्द्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३ ॥

'अतऊर्द्ध्वम्' नाभिकृन्तनात् परस्तात् 'आदशरात्रात्' दशरात्रिशेषं यावत् 'असमालम्भनम्' अस्पर्शनम् कुमारमातुरित्यशौचविधिः ॥ २३ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके सप्तमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥ २, ७ ॥

भाषा—नाड़ी छेदन के पीछे दश दिन प्रसूत स्पर्श योग्या न होगी २३

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ २, ७

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिम् न्यञ्जलिकृतः पितोपतिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुपृष्ठम्परिक्रम्योत्तरतोऽवतिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रमीयेतपुत्रो जनित्र्या अधीत्युदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥ १—५ ॥

'जननात्' जन्मतः आरभ्य 'यः' 'तृतीयः' 'ज्यौत्स्नः' ज्योत्स्नायुक्तः पक्षः, 'तस्य' पक्षस्य 'तृतीयायां तिथौ 'प्रातः' 'कुमारं' 'सशिरस्कम् आप्लाव्य' शिरसि जलदानेन स्नापयित्वा 'अस्तमिते' सूर्ये 'वीते' विगते च 'लोहितिम्नि', 'पिता'

कुमारजनकः 'अञ्जलिकृतः' पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जलिद्वयः सन् 'उपतिष्ठते' उपस्थितस्तिष्ठेत (१)। 'अथ' तदनन्तरं 'माता' कुमारप्रसूतिः 'शुचिना' शुभ्रेण निर्मलेनेति यावत् 'वसनेन' 'कुमारम्' 'आच्छाद्य' 'दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि गत्वा 'उदञ्चं' उत्तानम् 'उदक्शिरसं' 'पित्रे' कुमारजनकाय तस्मै प्रयच्छति' प्रयच्छेत् (२)। दत्त्वा च सा 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य स्वपतिपृष्ठदेशेनागत्य 'उत्तरस्यां सुतरां पत्युर्वामभागे 'अवतिष्ठते' अवस्थिता भवेत् (३) । 'अथ' दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः 'यत्ते सुषोमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्र मघं निगाम्" ॥ १० ॥ यत् पृथिव्या ममृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳरिषम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः। यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० १, ५, १०–१२) 'जपति' जपेत् (४) जपित्वा च 'उदञ्चं' उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रसूत्यै 'प्रदाय' प्रदानं कृत्वा समाप्तं ज्यौत्स्नोपस्थानमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५) ॥२–५॥

भाषा–जन्म से तृतीय शुक्ल पक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार को मस्तक तक धोकर स्नान करावे । फिर सूर्यास्त के पीछे उस नवकुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जलि पसार कर खड़ा हो और नवकुमार की माता उसे साफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के दक्षिण ओर आकर बालक को उत्तरशिरा और उत्तानभाव से उसकी अञ्जलि में प्रदान करे। स्वयं अपने पीठ पर होकर वाम दिशा आकर युग्म रूप से अवस्थित हो। पीछे बालक के साथ पिता 'यत्ते सुसीमे' एवं से 'यथा अयं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्या अधि' तक तीन मन्त्रों का पाठ करे। फिर पकड़े हुये पुत्र को उसकी माता को पुनः प्रदान करे यथेच्छ विचरें ॥ १-५ ॥

अथ येऽत ऊर्द्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोद्दिष्टएव तेषु पितोपतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसं यदद्श्चन्द्रमसीति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम्॥६।७।

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति। 'अतः' जननात् तृतीयज्यौत्स्नातः 'ऊर्द्ध्वं'

उपरिष्टात् परस्तादिति यावत्, 'ये' 'ज्यौत्स्नायुक्ताः कालाः शुक्लपक्षाः, 'तेषु' ज्यौत्स्नेषु कालेषु 'प्रथमोद्दिष्टे' प्रथमागते ज्यौत्स्ने जननाच्चतुर्थे शुक्लपक्षे, यस्यां कस्यामप्येकस्यां तिथौ सम्भवतश्चन्द्रोदये 'पिता' कुमारजनकः 'अपामञ्जलिं पूरयित्वा' चन्द्रमसम् अभिमुखः' सन् 'उपतिष्ठते' उपतिष्ठेत उत्थितस्तिष्ठेत (६)। ततश्च "यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् । तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳरुदम्" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, १३) 'इति' अनेन 'यजुषा' छन्दःशून्यमन्त्रेण 'सकृत्', 'तूष्णीं' अमन्त्रकं 'द्विः' द्विवारम् 'उत्सृज्य' गृहीतोदकाञ्जलिमिति यावत्; समास मवमर्जनं कृत्य मिति मत्वा 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः ॥ ६ ॥ ७ ॥ अथ नामधेयं विधत्ते;—

भाषा-जन्म से चतुर्थ शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक १५ रात्रि के जिस किसी रात्री में चन्द्रोदय समय कुमार का पिता खड़ा होकर चन्द्रमा के सम्मुख हो 'यददश्चन्द्रमसि' मन्त्र पढ़ कर एक बार एवं अपर दो वार विना मन्त्र साकल्य में तीन अञ्जलि जल छोड़ देवे ॥ ६, ७ ॥

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम्॥

'जननात्' जननदिनमारभ्य 'दशरात्रे शतरात्रे संवत्सरे वा' 'व्युष्टे' अतीते एकादशदिनादौ 'नामधेयकरणम्' कुमारस्येति ॥ ८ ॥ तत्रेतिकर्त्तव्यतां विधत्ते:—

भाषा—जन्म से १० या १००या एक वर्ष पर बालक कानाम करण करें ॥८॥

अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्ने रुदगग्रेषुदर्भेषु प्राङुपविशत्यथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्यदक्षिणतउदञ्चं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसमनुपृष्ठं परिक्रम्योत्तरतउपविशत्युदगग्रेष्वेव दर्भेष्वथ जुहोति प्रजापतये तिथये नक्षत्राय देवतायाइति तस्य मुख्यान् प्राणान्त्सम्मृशन्कोऽसि कतमोऽसीत्येतंमन्त्रं जपत्याहस्पत्यं मासंप्रविशासावित्यन्तेच मन्त्रस्य घोषवदाद्यन्तरन्तस्थन्दीर्घाभि-

निष्ठानान्तं कृतन्नाम दध्यादेतदतद्धितमयुग्दान्तꣳस्त्रीणा-म्मात्रे चैव प्रथमं नामधेयमाख्याय यथार्थं ब्राह्मणाय दद्याद् गौर्दक्षिणा॥९-१८॥

'अथ' प्रक्रमार्थः। 'यः' पुरुषः पिता पुरोहितो वा 'तत्' नामधेयं कर्म 'करिष्यन् 'भवति,' सः 'अग्नेः' पश्चात्, उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राङ्मुखः सन् 'उपविशेत् (९)। 'अथ' तदनन्तरं 'माता' दक्षिणतः दक्षिणस्यां कर्तुर्दक्षिणभागे गत्वा 'शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य' 'उदक्शिरसम्' उत्तरशिरस्कम् किञ्च' उत्तानं शिशुं 'कर्त्रे' नामधेयकर्मणोऽनुष्ठात्रे प्रयच्छति (१०)। दत्त्वा च 'अनुपृष्ठं परिक्रम्य' सा 'उत्तराग्रेषु दर्भेषु' 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि कर्तुर्वामभागे 'उपविशति' उपविष्टा भवेत् (११)। 'अथ' तदनन्तरं, क्रोडीकृतकुमारः सः 'प्रजापतये' प्रजापतिदेवतामनुकूलयितुं तथैव 'तिथये', तथैव 'नक्षत्राय', 'जुहोति' हवनं कुर्यात् (१२)। एवं होमानन्तरं 'तस्य' कुमारस्य 'मुख्यान् प्राणान्' मुखगतश्वासान् 'सम्मृशन्' अङ्गुलीभिः स्पृशन् 'कोऽसि कतमोऽसि एषोऽस्यामृतोऽसि आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ १४ ॥ सत्वाह्ने परिददात्वहस्त्वारात्र्यै परिददातु रात्रि स्त्वा-होरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तार्द्धमासास्त्वामासेभ्यः 'परिद-दतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुपे जरायै परिददात्वसौ' ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ५, १४-१५)।-'इत्येवं मन्त्रं 'जपति' जपेत् (१३)। 'मन्त्रस्य' तस्य 'आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ' — 'इति' अत्र 'च' अपि 'अन्ते' चरमे असौ इत्यस्य स्थाने 'कृतं' नवरचितं 'नाम' आह्वा-नाद्यर्थव्यवहार्यं पदं 'दध्यात्' स्थापयेत् व्यवहर्यादिति। तच्च नाम 'घोषवदाद्यम्' आदितएव घोषसंज्ञकाक्षरयुक्तम्, 'अन्तरन्तस्थं' अन्तस्थसंज्ञकाक्षरमध्यं, 'दीर्घा-भिनिष्ठानान्तं' दीर्घसंज्ञकाभिनिष्ठानसंज्ञकाक्षरयोरन्यतरावसानकं भवेत् (१४)। 'एतत्' नाम 'अतद्धितं' तद्धितप्रत्ययरहितमेव कार्यम् (१५)। 'स्त्रीणाम्' कन्यानां तु 'अयुग्दान्तम्' अयुग्माक्षरान्तं दान्तव्यतिरिक्तञ्च नाम दध्यादित्येव तत्र विचार्यम् (१६)। 'च' पुनः तत् 'नामधेयं' 'मात्रे एवं' प्रथमं 'आख्याय' परिज्ञाप्य नामधेयकरणं समाप्तमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (१७)। अस्य कर्मणः 'गौः' एका 'दक्षिणा' देयेति (१८)। समाप्तं नामधेयकरणम् ॥

भाषा—पिता, या पुरोहित अग्नि की पश्चिम में उत्तराग्र डाले हुए कुश के आसन पर पूर्वमुख बैठे, कुमार की प्रसूति, साफ वस्त्र में शिशु को ढांक कर ले आवे और नाम करण संस्कार करने के लिये प्रवृत्त कुमार के पिता या अपर ब्राह्मण के दहिने ओर आकर उत्तर शिरा और उत्तानभाव से उसे देकर नाम करण करने में प्रवृत्त पिता या ब्राह्मण के पीठके रास्ते से आकर कुशपुञ्ज पर बैठे। फिर कुमार को गोद में ले कर पहिले प्रजापति देवता की तुष्टि के लिये होम करें' पीछे जिस तिथि में कुमार का जन्म हुआ है, उस तिथि का नाम ले कर दूसरी आहुति प्रदान करे, उसके बाद जिस नक्षत्र में कुमार का जन्म हुआ है उसका नाम कहकर तीसरी आहुति देवे। फिर उस बालक के मुख में हाथ देकर श्वास, स्पर्श कर "कोऽसि कतमोसि" मन्त्र पढ़कर एवं इस मन्त्र के पाठ समय दो स्थान में स्थित 'असौ' पदके बदले नूतन नाम रक्खकर व्यवहार करे। नामके अक्षर घोष वर्ण, मध्यमें अन्तस्थ वर्ण, एवं अन्त्य वर्ण दीर्घ या विसर्ग होगा। विशेषतः नाम में तद्धित न रहे। कन्या सन्तान का नाम युग्म अक्षर अन्त में, और दकारान्त न हो यों नाम युक्त मन्त्र के दोनों स्थान में 'असौ' पद के स्थान में मिला कर पाठ समाप्त होने पर उस नामका सबसे पहिले उसकी प्रसूति को बतलावे-यों संस्कार शेष कर, संस्कार की दक्षिणा ब्राह्मण को एक गौ देवे ॥ १८ ॥

कुमारस्य मासिमासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वस्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाᳬंश्चयजेत दैवतमिष्ट्वातिथिं नक्षत्रञ्च यजेत ॥ १९ ॥ २० ॥

'कुमारस्य' नवजातस्य 'संवत्सरे' प्रथमे 'मासि मासि' प्रति जन्मतिथौ, 'वा' अथवा 'सांवत्सरिके' जन्मतिथावेव प्रथमे एव 'च' अथवा 'पर्वसु' पौर्णमास्यामावास्यासु प्रथमे संवत्सरे एव 'अग्नीन्द्रौ' 'द्यावापृथिवी' 'च' अपि विश्वान् देवान्' 'यजेत' यागेनेष्टं भावयेत् (१९) 'दैवतमिष्ट्वा' अग्नीन्द्रादियागं प्रकृत्य 'तिथिं' जन्मनः 'च' अपि 'नक्षत्रं जन्मन एव 'यजेत' (२०)। गतमिदं पौष्टिकं कर्म जन्मतिथिकृत्यं वा ॥ १९, २० ॥ अथ मूर्द्धाभिघ्राणम्;—

भाषा—प्रथम वर्ष प्रतिमास की जन्मतिथि में या प्रतिपूर्णिमा और अमावास्या पर्व्व में अग्नीन्द्र, द्यावापृथिवी, और विश्वेदेवा देवता की पूजा कर तिथि और नक्षत्र की भी पूजा करे। यह जन्मतिथिकृत्य है॥१९, २०॥

विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेद् यदा वा पिता मइति विद्यादुपेतस्य वाङ्गा दङ्गात् सꣳस्रवसीति पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामीत्य-भिजिघ्रयथार्थमेवमेवावरेषां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा स्त्रियास्तूष्णीं मूर्द्धन्यभिजिघ्रणम् ॥ २१–२५ ॥ ८ ॥

'विप्रोष्य' प्रवासादागत्य, 'वा' अथवा 'यदा' यस्मिन् काले 'मे पिता इति विद्यात्' बालकः तदैव, 'वा' अथवा 'उपेतस्य' सन्निहितस्य यदैव सन्निहितो भवेत् तदैव, 'ज्येष्ठस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं पाणिभ्यां परिगृह्य' "अङ्गादङ्गात् सꣳस्रवसि हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ १६ ॥ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयाधि जायसे। वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥१७॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। आत्मासि पुत्र माम्रथाः स जीव शरदः शतम्" ॥ १८ ॥ (१, ५, १६, १८),–'इति' तृचं 'जपेत्' (२१), ततः "पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ १९ ॥ ५ (१, ५, १९)' 'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'अभिजिघ्रय' आघ्राय समासं मूर्द्धाघ्राणं कर्मेति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेत् (२२)। 'अवरेषां' तत्कनिष्ठानामपि पुत्राणाम् 'एवमेव' मूर्द्धाघ्राणं कर्त्तव्यम् (२३)। तत्र च 'यथाज्येष्ठं' ज्यैष्ठानुक्रमेणैव मूर्द्धाघ्राणं कार्यम्। 'वा' अथवा 'यथोपलम्भं' येन क्रमेण पितृसन्निधौ ते उपस्थिताःस्युस्तेनैव क्रमेणेति (२४)। 'स्त्रियाः' कन्यायाः 'मूर्द्धनि' मस्तके 'अभिजिघ्रणं आघ्राणग्रहणं 'तूष्णीम्' असन्त्रकमेव कार्यम् (२५)। समासं मूर्द्धाघ्राणम्। द्विर्वचनं क्षुद्रकर्मप्रकरणसमाप्तिद्योतकम् ॥ २१–२५ ॥ ८ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम्२,८

भाषा—पिता जब प्रदेश से घर आवे, या जिस समय पुत्र "मेरा पिता

यही है ऐसा समझ ले, या जब ही निकट आवे उसी समय 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' तीन मन्त्रों को पढ़कर हाथ से बड़े पुत्र का मस्तक पकड़ कर 'पशूनांत्वा' मन्त्रसे उसे सूंघे, पीछे यथेच्छ विचरे। अपर पुत्रादि का मस्तक भी इसी प्रकार सूंघे। जो जिस के पीछे उत्पन्न हुआ हो या जो जिस समय निकट आवे तदनुसार कन्याको, विना मन्त्र मूर्द्धाघ्राण करे ॥ २१-२५।८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके अष्टमखण्डका भाषानुवादपूराहुआ ॥२,८॥

—:o:—

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥ १ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरतां द्योतयति। 'अतः' आरभ्य 'चूडाकरणं' कर्म वच्मीति। तच्च 'तृतीये वर्षे' कार्यमिति चूडाकरणकालः ॥ १ ॥ तस्येतिकर्त्तव्यतां विधत्ते;—

भाषा—यह चूड़ाकरण कार्य बालक वा बालिकाके तीसरे वर्ष में करे॥१॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति तत्रै-तान्युपक्लृप्तानि भवन्त्येकविंशतिर्दर्भपिञ्जूल्य उष्णोद-ककंस औदुम्बरःक्षुर आदर्शो वा क्षुरपाणिर्नापित इति द-क्षिणत आनडुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इ-त्युत्तरतोव्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुपनिदध्युः कृसरोनापिताय सर्ववीजानिचेति ॥२-७॥

'शालायाः' 'पुरस्तात्' पूर्वस्मिन् भागे 'उपलिप्ते' स्थाने 'अग्निः उप समाहितः भवति' (२)। 'तत्र 'एतानि' अनुपदं वक्ष्यमाणानि 'उप क्लृप्तानि' आसाद्य सज्जितानि 'भवन्ति' (३)। तान्येवाह-'एकविंशतिः दर्भपिञ्जूल्यः', 'उष्णोद-ककंसः' उष्णोदकसहितकांस्यपात्रम्, 'औदुम्बरः' उदुम्बरकाष्ठनिर्मितः 'क्षुरः' 'वा' अथवा 'आदर्शः' दर्पणः, 'क्षुरपाणिर्नापितः'—'इति' चत्वारि वस्तूनि सम्पाद्य 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां अग्नेः स्थाप्यानीति (४)। किञ्च आनडुहः गोमयः' वृथापक्वः' अमन्त्रपक्वः 'कृसरः स्थालीपाकः' 'इति' द्वे वस्तुनी सम्पाद्य 'उत्तरतः' उत्तरस्यां अग्नेरेव सर्वत्र पूर्वाभिमुखएव कर्त्ता सुतरां कर्त्तुर्वामभागे (५)।

'व्रीहियवैः' मिश्रितैः 'तिलमाषैः' मिश्रितैरेव 'पृथक्' 'पात्राणि' 'पूरयित्वा' 'पुरस्तात्' अग्नेरेव पूर्वस्यां परस्तादिति यावत्, 'उपनिदध्युः' स्थापयेयुः (६)। एषु च उक्तः 'कृसरः' 'च' अपि 'सर्वबीजानि' व्रीहियवैस्तिलमाषैश्च पूरितपात्राणि 'नापिताय' तस्मै देयानि (७) ॥ २–७ ॥

भाषा—जिस स्थान में चूड़ाकर्म करना हो, उसे गोमय से लीप कर पूर्व भाग में यथा विधि अग्नि स्थापन करे (२) और आगे कहे सामान को वहां रक्खे(३)जैसे—इक्कीस दर्भपिञ्जूली, गर्म जल से भरा कांसेका पात्र, गूलर के काष्ठ का छुरा, दर्पण, एवं लोहे का छुरा सहित नापित, ये चार वस्तु दक्षिण दिशा में उपस्थित रखे (४) सांढ़ का गोबर, अमन्त्र पक्व कृसर, सिद्ध (तण्डुल,) ये वस्तु उत्तर में रक्खे (५) पूर्व दिशा में एक पात्र में धान्य, यव एवं दूसरे पात्र में तिल और माष रक्खे, (६) कृसर और धान्यादिपूर्ण पात्र नापित को देवे ॥ २–७ ॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ।८॥

'अथ' तदनन्तरम् । 'माता' बालकस्य, 'शुचिना वसनेन कुमारम् आच्छाद्य, अग्नेः पश्चात् उदगग्रेषु' 'प्राची' प्राङ्मुखी सती 'उपविशति' ॥ ८ ॥

भाषा—उसके बाद माता बालक को साफ वस्त्र में लपेट कर अग्नि के पीछे उत्तराग्र रक्खे हुए कुशासन पर पूर्व मुख बैठे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन् भवति पश्चात् प्राङवतिष्ठते ॥९॥

'अथ' तदनन्तरम् । 'यः' पुरुषः 'तत्' चूडाकरणं नाम संस्कारकार्यं 'करिष्यन् भवति' पिता पुरोहितो वा सः 'पश्चात्' उपविष्टायाः सपुत्रायाः, 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् 'अवतिष्ठते' अवस्थानं कुर्यात् ॥ ९ ॥

भाषा—पीछे पिता, या पुरोहित, जो कोई चूड़ाकरण संस्कार करने को प्रवृत्त हो, वह उसके पश्चात् भाग में पूर्वाभिमुख हो कर बैठे ॥९ ॥

अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेणेति सवितारं मनसा

ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाण उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककंसं प्रेक्षमाणो दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणां कपुष्णिकामुन्दत्याप उन्दन्तु जीवस इति विष्णोर्दंष्ट्रोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षत आदर्शं वौषधे त्रायस्वैनमिति ससदर्भपिञ्जूलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकाया मभि शिरोग्रा निदधाति ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वाऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते मैनंहिंसीरिति येन पूषा बृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्चं प्रोहस्यप्रच्छिन्दन् सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमथायसेन प्रच्छिद्यानडुहे गोमये निदधाति ॥१०-१७॥

'अथ' तदनन्तरम् । 'नापितं प्रेक्षमाणः' 'सवितारं मनसा ध्यायन्', "आयमगात् सविता क्षुरेण॥१॥(म०ब्रा०१,६,१)'-'इति' इमं मन्त्रं 'जपति'जपेत्(१०) उष्णेनवाय उदकेनैधि (२) (मं० ब्रा० १, ६, २) इति इमं मन्त्रं पठन् 'वायुं मनसा ध्यायन् उष्णोदककंसं प्रोक्षमाणः' भवति सः (११)। "आप उन्दन्तु जीव से" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३)'—इति' इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना अप 'आदाय' 'कपुष्णिकां' शिरःपोषिकां शिरःपार्श्ववर्त्तिकेशजुटिकां 'उन्दति' क्लेदयति (१२)। "विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि" ॥४॥ (म० ब्रा० १,६,४),-'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'औदुम्बरं क्षुरमादर्शं वा' 'प्रेक्षते' (१३)। "औषधे त्रायस्वैनम्" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ५),—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'अभिशिरोग्राः' शिरोऽभिखाग्राः 'दर्भपिञ्जूलीः' 'दक्षिणायां कपुष्णिकायां' 'निदधाति' धारयति (१४)। 'ताः' कपुष्णिकासहिता दर्भपिञ्जूलीः 'वामेन पाणिना' 'निगृह्य दृढतया गृहीत्वा "स्वधिते मैनं हिंसीः"॥६॥(१,६,६)-'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' 'औदुम्बरं क्षुरम् आदर्शं वा' 'गृहीत्वा'' अभिनिदधाति' यत्नतो धारयेत् (१५)। ततश्च तेनैवौदुम्बरेण क्षुरेण दर्पणेन वा 'प्राञ्चं' प्रागतं चालयन् परन्तु 'अप्रच्छिन्दन्' यथा च केशान् न छिन्द्यादेवं

कृत्वा त्रिवारं 'प्रोहति' कथङ्कारं वपनं कर्त्तव्यमिति सवितर्कं पश्यति। तत्र च 'सकृत्' "एकवारं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चापवत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे" ॥ ७ ॥ (मं०ब्रा०१,६,७)'—'इति'अनेन 'यजुषा' गद्यात्मकमन्त्रेण' द्विः' वारद्वयं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेवेति (१६) 'अथ' तदनन्तरम् 'आयसेन' लौहमयेन क्षुरेण सपिञ्जूलीं दक्षिणकपुच्छिकां 'प्रच्छिद्य' पूर्वोक्तादिते 'आनडुहे गोमये, निदधाति' स्थापयति (१७)॥ १०–१७ ॥

भाषा—अनन्तर, पिता या पुरोहित इस क्षुरहस्त नापित को देख कर मन ही मन जगत् प्रसविता देवता को ध्यान कर 'आयगमात्' मन्त्र को पढ़े ॥१०॥ गर्म जल के साथ कांसे के पात्र में देखकर मन ही मन वायु देवता का ध्यान कर 'उष्णेनवाय' इस मन्त्र को पढ़े ॥११॥ दहिने हाथ से 'कपुष्णिका * ग्रहण कर 'आप उन्दन्तु' मन्त्र पढ़ कर उसमें गर्म जल से गीला करे ॥१२॥ 'विष्णोदं०ष्ट्रोऽसि' मंत्र पढ़ते हुए उसमें गर्म जल सीच कर गूलर के काठ का क्षुरा या दर्पण देखे ॥१३॥ 'ओषधे त्रायस्वेन' मन्त्र को पढ़ कर सात दर्भ पिञ्जूली नीचे को जड़ एवं ऊपर को फुनगी इस भान्ति उस कपुष्णिका में धारण करावे ॥१४॥ पीछे दर्भ पिञ्जूली के साथ दहिने कपुष्णिका आदि वांये हाथ में धरकर 'स्वधितेमैनंहिंसीः' मन्त्र पढ़कर दहिने हाथ में गूलर के काष्ट का क्षुरा या दर्पण लेकर कपुष्णिका में अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १५ ॥ एवं उसको पूर्वाभिमुख कर तीनवार चला कर कैसे कटेगा इस को तर्क करके देखे। उस तीनवार के चलाने में एकवार 'येन पूषा' अपर दो वार विना मन्त्र गूलर के क्षुरा, या दर्पण चलाने में केश नहीं कटते हैं ॥१६॥ अनन्तर लोहे के क्षुरे से उसी दर्भ पिञ्जूली के साथ दक्षिणकपुष्णिका को काट कर सांढ़ के गोवर में रक्खे ।१७।

एतयैवावृता कपुच्छलम् ॥१८॥ एतयोत्तरां कपुष्णिकाम् ॥ १९ ॥ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्त्तयेत् ॥२०॥

* नरतक के ऊपर दोनों पार्श्व के केशों को कपुष्णिका कहते है अर्थात् 'क, शब्द का अर्थ शिर, एवं केशादि उस के पोषक होने से 'क—पुष्णिका, नाम हुआ ॥

'एतया एव आवृता' कथितपरिपाट्यैव 'कपुच्छलं' शिरःपुच्छसदृशं पश्चात्केशकलापम् आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १८ ॥ 'एतया' परिपाट्या उत्तरां कपुष्णिकाम्, अपि आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १९ ॥ कपुच्छकच्छेदने उत्तरकपुष्णिकाच्छेदने च 'उन्दनप्रभृति' पूर्वोक्तः क्लेदनादि गोमये निधानान्तं (१२–१७ सू०) कर्मजातम् 'अभिनिवर्त्तयेत् निष्पादयेत्; न तत्पूर्वतनं नाथैतत्परतनञ्च तत्र पृथक्त्वेनानुष्ठेयम् ॥ २० ॥

भाषा–पूर्वोक्त प्रकारसे कपुच्छल को लोहे के छुरेसे काटे ॥ १८ ॥ उत्तर 'कपुष्णिका' कटवानेमें भी नियम है ॥१९॥ 'कपुच्छल' और उत्तर 'कपुष्णिका' काटनेमें गर्म जलसे भिगाना आदि सबही कार्य भिन्न २ करे उसके पूर्व, या पीछे का कार्य सब, प्रत्येकवारकाटनेके लिये भिन्नन होंगे ॥ २० ॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानंपरिगृह्यजपेत् त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ॥ एतयैवावृताश्स्त्रियास्तूष्णीममन्त्रेण तु होमः २१-२४

इत्थं वालकस्य कपुष्णिकाद्वयं कपुच्छलञ्च छेदयित्वा उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य' त्र्यायुष जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुष मगस्त्यस्य त्र्यायुपम् । यद्देवानांत्र्यायुपं तन्नो अस्तु त्र्यायुपम्' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ८)'—'इति' इमं मन्त्रं 'जपेत्' (२१) 'स्त्रियाः' कन्याया अपि कपुष्णिकादिच्छेदनम् 'एतया' 'आवृता' परिपाट्या 'एव' कार्यम् (२२) । तत्रायं विशेषः–'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव सर्वम् (२३) । तत्राप्ययं विशेषः—'मन्त्रेण तु होमः' चूडासंस्काराय होमस्तु तत्रापि मन्त्रेणैव कार्यः (२४) ॥ २२-२५ ॥

भाषा–यों दोनों कपुष्णिका और कपुच्छल काटने पर दोनों हाथमें लड़के के माथे को पकड़ कर 'त्रायुषंजमदग्नेः' मन्त्र का जप करे ॥ २१ ॥ कन्याका चूड़ाकर्म इसी प्रकार विना मन्त्र होगा किन्तु होम. मन्त्र से होगा ॥२२-२४॥

उदगग्नेरुत्सृप्य कुशलीकारयन्ति यथागोत्रकुलकल्पमानडुहे गोमये केशान् कृत्वाऽरण्यꣳ हृत्वा निखनन्ति स्तम्बे हैके निदधति यथार्थं गौर्दक्षिणा ॥२५-२६ ॥ ६

'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्मिन् 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेनोपविश्य यथागोत्रकुलकल्पं' गोत्रकुलानुरूपं सशिखं शिखाशून्यं वा, पञ्चचूडं वा, (तथाच—"वासिष्ठाः पञ्चचूडाः स्युस्त्रिचूडा कुण्डपायिनः" किञ्च "सशिखं वपनं कार्यमास्नानाद्ब्रह्मचारिणाम्। आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत्"—इति। एवञ्च वसिष्ठगोत्राणां पञ्चचूडं मुण्डनम्, कुण्डपायिनां त्रिचूडं मुण्डनम्, कौथुमानामासवर्त्तनात् सशिखं वपनञ्चेति) बहुवचनं साधारणविध्यपेक्षम् (२५) मुण्डयित्वा च तान् 'केशान्' 'आनडुहे गोमये कृत्वा' 'अरण्यं' हृत्वा' नीत्वा 'निखनन्ति' भूमध्ये प्रोथयन्ति (२६) 'एके' आचार्या आहुः—'स्तम्बेह' क्वचिद्वृक्षादिकुञ्जे एव'निदधति' स्थापयन्ति तान् केशानिति (२७) इति गतं चूडाकर्म्मेति 'यथार्थम्'यथा· प्रयोजनं विहरेत्(२८)अस्य च चूडाकर्मणः'दक्षिणा''गौः'एकैव(२९)२५-२९॥९॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २, ९

भाषा–दोनों कपुष्णिका काटे जानेपर बालक वहांसे हटकर अग्निके उत्तर भागमें बैठे और आत्मीय लोग नापितसे गोत्र और कुलानुसार पांच,या तीन शिखा, या शिखारहितः या शिखासहित मुण्डन करवावे, * ॥२५॥ मुण्डन कराने पीछे केशादिको वनमें लेजाकर भूमिमें गाड़ देवे २६ कोई २ आचार्य कहते हैं कि उसे वनमें लेजाकर किसी सघन वन स्थलमें फेकदेवे २७ यों कर्म समाप्त होनेपर यथेच्छ विचरे ॥२८॥ दक्षिणा एक गौ होगी ॥२५–२९॥ गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीयअध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ।

—:o:—

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् १॥ गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् २॥ गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ३॥ आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः

* इस लिये जिन लोगों का गोत्र वसिष्ट है उन को ५ शिखारख कर शिर मुड़ाना चाहिये 'एवं जिन का गोत्र 'कुण्डपायी, है उन्हें ३ चूड़ा रख कर मुण्डन कराना चाहिये और जिन की कौथुमी शाखा हैं वे वेद की समाप्ति पीछे समावर्त्तन होने तक शिखा भी मुण्डन करा लेवें किन्तु जो लोग बहुत समय तक ब्रह्मचर्य्य रखना चाहें एवं समावर्त्तन का विचार न हो, तो उन्हें शिखा रखा पूर्वक मुण्डक कराना चाहिये ॥

कालोभवत्याद्वाविंशात्क्षत्रियस्याचतुर्विंशाद्वैश्यस्य॥४॥

'गर्भाष्टमेषु' गर्भमासतो गणनया ये अष्टमाब्दकालास्तेषु यस्मिन् कस्मिन्नपि शुभदिने 'ब्राह्मणम्' ब्राह्मणजातीयकुमारम् 'उपनयेत्' वक्ष्यमाणप्रकारेण संस्कृत्य कृत्स्नवेदाध्ययनाय गुरावन्तिकं प्रापयेत् ॥ १ ॥ गर्भैकादशेषु' 'क्षत्रियम्' उपनयेत् ॥२॥ उपनयेदित्येव ॥ ३ ॥ ब्राह्मणस्य' 'आ षोडशवर्षात्' षोड़शाब्दवयः समाप्तिं यावत्, 'क्षत्रियस्य' 'आ द्वाविंशात्' द्वाविंशाब्दान्तं यावत्, 'वैश्यस्य' 'आ चतुर्विंशात्' चतुर्विंशाब्दान्तं यावत् 'अनतीतः कालो भवति' उपनयनस्येति ॥ ४ ॥

भाषा--गर्भ से अष्टम वर्ष के जिस किसी शुभ तिथि में ब्राह्मण कुमार का उपनयन करे ॥१॥ क्षत्रिय कुमार को गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में उपनयन करे ॥ २ ॥ वैश्य के लड़के को, गर्भमास से १२ में वर्ष के उपयुक्त मास तिथि में उपनयन करे ॥ ३ ॥ ब्राह्मण कुमार को १६ वर्ष की अवस्था पूरी होने तक उपनयन करे इसमें हानि नहीं। क्षत्रिय कुमार के २२ वर्षकी अवस्था तक एवं वैश्य के लड़के को २४ वर्ष की उमर तक उपनयन हो सकता है ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ५ ॥

'अतऊर्ध्वं' ब्राह्मणस्य षोडशाब्दात् परं, क्षत्रियस्य द्वाविंशाब्दात् परं, वैश्यस्य चतुर्विंशाब्दात् परम्। अर्थतः एतावत् कालमप्यनुपनीताश्चेत् तर्हि 'पतितसावित्रीकाः' व्रात्यापरपर्याया. 'भवन्ति' ॥ ५ ॥

भाषा—उक्त काल के पीछे अर्थात् ब्राह्मण कुमार १६ वर्ष की अवस्था के पीछे, क्षत्रियकुमार २८वर्षकी अवस्था पीछे, वैश्यकुमार २४वर्षकी अवस्था पीछे, सावित्री पतित अर्थात् सावित्री मन्त्रके उपदेश योग्य नहीं रहते हैं ॥५॥

नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्विवहेयुः ॥ ६ ॥

'एतान्' पतितसावित्रीकान् 'न उपनयेयुः' न अध्यापयेयुः, न 'याजयेयुः' किञ्च 'एभिः सह' न विवहेयुः' कन्योद्वाहसम्बन्धं न कुर्युः। इति गतः कालनियमः ॥६॥

भाषा—उक्त सावित्रीपतित लोगों को पुनः उपनयन नहीं हो सकता है। ऐसों को कोई अध्ययन भी न करावे, न यज्ञ करावे, न इनका विवाह करे।६।

यदहरुपैष्यन्माणवकोभवति प्रगएवैनं तदहर्भोज-

यन्ति कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽऽच्छादयन्ति ॥७॥

'माणवकः' अनधीतबालकः 'यदहः' यस्मिन्नहनि 'उपैष्यन्' उपनीतो भविष्यन् भवति,'तदहः' तस्मिन्नहनि 'प्रगे एव' प्रातरेव 'भोजयन्ति' मात्रादयः,यान् कानप्याहार्यान् प्रातराशमात्रं वा तं माणवकमिति शेषः । ततः 'कुशलीकारयन्ति' मुण्डयन्ति । ततः 'आप्लावयन्ति' स्नापयन्ति । ततः 'अलङ्कुर्वन्ति' शोभयन्ति । ततः 'अहतेन वाससा आच्छादयन्ति' । सर्वदैव तं माणवकम् मात्रादय इति॥७॥

भाषा—जब बालक का उपनयन होवे, उस दिन प्रातः काल उसे प्रातराश (दो पहर दिन से पहिले का भोजन) या और अन्यखाद्य भोजन करावे । पीछे उस को मुण्डित कर स्नान करावे एवं, भूषणादि पहनावे और उसे अखण्ड वस्त्र से ढाक देवे ॥ ७ ॥

क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषां वसनानि । ८ । ऐणेयरौरवाजान्यजिनानि । ९ ।

'एषां' ब्राह्मणादीनां त्रयाणां 'वसनानि' परिधेयानि 'क्षौमशाणकार्पासौर्णानि' कुर्युः ॥८॥ एषां 'अजिनानि' उत्तरीयचर्माणि ऐणेयरौरवाजानि' कर्त्तव्यानि ॥९॥

भाषा—बालक को पहनने योग्य वस्त्र: रेशमी, शण, कपास, या ऊनी चाहिये ॥८॥ और ओढ़ने के लिये ऐणेय, रौरव, और बकरेके कर्मका होगा ९

मुञ्जकाशताम्बल्योरशना:।१०।पार्णबिल्वाश्वत्थादण्डाः॥११॥

एषां 'रशनाः' कटिबन्धनरज्जवः 'मुञ्जकाशताम्बल्यः' ॥ १० ॥ एषां 'दण्डाः' हस्तग्राह्याः 'पार्णबैल्वाश्वत्थाः' कर्त्तव्याः ॥ ११ ॥

भाषा—बालक के लिये (मेखला)कमर कस—मुञ्ज, काश, या मजीठ, का होगा ॥१०॥ और दण्ड पलाश, बेल, या पीपर का होगा ॥११॥

क्षौमं शाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्याविकं वैश्यस्यैतेनैवेतराणि व्याख्यातान्यलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १२-१४ ॥

पूर्वोक्तानां क्षौमादीनां मध्ये,-ब्राह्मणस्य' 'क्षौमं' तसरादि प्रसिद्धं 'वा' अथवा 'शाणं' शणसूत्रमयं 'वसनं' परिधेयं कार्यम्। 'क्षत्रियस्य' कार्पासं सूत्रमयं वसनं कार्यम्। 'वैश्यस्य' आविकं' ऊर्णामयं वसनं कार्यम्। 'एतेनैव' वसननियमकथनप्रकारेणैव 'इतराणि द्रव्याणि' अजिनरशनादण्डरूपाणि 'व्याख्यातानि' जथितानीवेति। तथाच पूर्वसूत्रेषु (९, १०, ११) यथाक्रमतोऽव्यवस्था ब्राह्मणस्य--ऐणेयं' कृष्णसारमृगचर्म अजिनम्, 'मौञ्जी' मुञ्जमयी रशना'पार्णः' पलाशकाष्ठीयश्च दण्डः। क्षत्रियस्य-'रौरवं' रुरुमृगचर्म अजिनम्, 'काशी' काशमयी रशना, 'वैल्वः' विल्वकाष्ठीयश्च दण्डः। वैश्यस्य-'आजं' अजामृगचर्म अजिनम्, 'ताम्बली' शणमयी रशना, 'आश्वत्थः' अश्वत्थकाष्ठीयश्च दण्डः। 'वा' अथवा 'अलाभे' ब्राह्मणादीनाम् क्षौमैणेयादीनामप्राप्तौ 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां 'सर्वाणि' क्षौमादीनि ऐणेयादीनि मौञ्ज्यादीनि पार्णादीनि च द्रव्याणि यस्य यथालाभतो ग्राह्याणि ॥ १२-१४ ॥

भाषा—उन में से ब्राह्मण को पहनने के लिये कपड़ा-रेशमी, या शण का, क्षत्रिय के लिये कपास का, वैश्य के लिये ऊनी होगा। मृग-छाला भी इसी प्रकार क्रम से ब्राह्मण के लिये कृष्णसार मृग का चर्म, क्षत्रिय के लिये रुरुमृग का और वैश्य के लिये बकरी का चर्म होगा। ब्राह्मण के लिये मुंजको कमर कस, क्षत्रिय के लिये काश का, वैश्य के लिये शण का होगा। और ब्राह्मण के लिये पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिये विल्व का, वैश्य के लिये पीपर का होगा। यदि समयानुसार यथा नियम ब्रह्मणादि के यथा योग्य वसन आदि दुर्लभ होवें तो, सबही वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब प्रकार के वसन आदि व्यवहार कर सकेंगे। रेशमी जब जिस, समय, जिस किसी प्रकार का, वसन सुलभ पावे, उस समय वही ब्राह्मण आदि निर्विशेष व्यवहार कर सकेंगे, अजिनादि के विषय में भी समयानुसार इसी प्रकार यथा लाभ व्यवस्था करे ॥ १३-१४ ॥

पुरस्ताच्छालायाउपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितोभवति१५

अग्ने व्रतपतइति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङ-

चार्योऽवतिष्ठते ॥ १६ ॥ अन्तरेणाग्न्याचार्यौ माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १७ ॥

'शालायाः पुरस्तात्' 'उपलिप्ते' स्थाने 'अग्निः उपसमाहितः भवति' ॥१५॥ तत्र चाग्नौ 'आचार्यः' वेदाध्यापकः कश्चित् माणवक; प्रतिनिधिर्भवन् "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यास मिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ १० ॥ सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ११ ॥ चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२ ॥ व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि। तच्छकेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" ॥ १३ ॥ (मं० ब्रा० १, ६, ९–१३)– 'इति' एभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः 'हुत्वा' 'अग्नेः पश्चात् उदग्रेषु दर्भेषु' 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'अवतिष्ठते' अवतिष्ठेत ॥ १६ ॥ 'अन्तरेणाग्न्याचार्यौ' अग्न्याचार्ययोः मध्ये 'माणवक' 'आचार्यम् अभिमुखः' 'अञ्जलिकृतः' उदकग्रहणोपयुक्तः 'कृताञ्जलिः सन् 'उदगग्रेषु दर्भेषु' अवतिष्ठेत ॥ १७ ॥

भाषा—उपनयनार्थ अग्नि को यज्ञशाला के पूर्व भाग में लीपे हुए स्थान में स्थापित करे १५ उस अग्नि में आचार्य्य लड़के के प्रतिनिधि होकर "अग्ने व्रतपते" आदि पांच मन्त्रोंसे पांच आहुति प्रदान कर अग्नि के पश्चिम उत्तराग्र कुशों परे बैठे ॥१६॥ अग्नि और आचार्य्य के मध्यस्थ में डाले हुए उत्तराग्र कुशाओं पर आचार्य के सम्मुख और कृताञ्जलि हो लड़का बैठे ॥ १७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामञ्जलिं पूरयत्युपरिष्टाच्चाचार्यस्य ॥ १८ ॥ १९ ॥

'तस्य' तादृशावस्थस्य माणवकस्य 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां तिष्ठन् कश्चित् 'मन्त्रवान्' अधीतवेदः 'ब्राह्मणः' तस्यैव माणवकस्य 'अञ्जलिं' 'अपां' दानेन 'पूरयति'। 'उपरिष्टात्' ततः परस्तात् 'आचार्यस्य' 'च' अपि अञ्जलिं पूरयति अपां दानेनेति १८–१९

भाषा—उस लड़के की दक्षिण में रहकर कोई वेदपाठीब्राह्मण, उस की अञ्जलि जलसे भर देवे। उसके बाद आचार्य की अञ्जलिभी भरे ॥१६॥

प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति कोनामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः ।२०-२२

'आचार्यः' 'प्रेक्षमाणः' माणवकमिति यावत् "आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन । अरिष्टाः सञ्चरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥ १४ ॥ अग्निष्टे हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् । अर्यमा हस्तमग्रहीन्मित्रस्त्वमसि कर्मणा" ॥ १५ ॥ (अग्निराचार्यस्तव) (म० ब्रा० १, ६, १४–१५) 'इति' द्व्यृचं 'जपति' स्वयम् । "ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १६)–'इति इमामृचं 'वाचयति' माणवकम् । "को नामासि ? असौ नामास्मि" ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १)–'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'तस्य' माणवकस्य नामधेयं 'पृच्छति' ॥२० २२॥

भाषा—आचार्य, लड़के को देखकर "आगन्त्रा०" दो मन्त्रों को स्वयं पढ़े और 'ब्रह्मचर्यमागाम्' मंत्रको लड़के से पढ़वाये एवं 'को नामासि' पढ़ कर बालक का नाम पूछे ॥२०–२२॥

अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिँसाङ्गुष्ठं गृह्णाति देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याँ हस्तं गृह्णाम्यसाविति ॥ २३-२६ ॥

'आचार्यः' 'अभिवादनीयं' अभिवादनाय हितं 'नामधेयं' द्वितीयजन्मसूचकं नूतनं नाम 'कल्पयित्वा' अमुकनामाहमस्मीति तन्माणवकनामैव तन्माणवकं वाचयित्वा (२३), 'अपामञ्जलिं गृहीतमुदकाञ्जलिम्' 'उत्सृज्य' परित्यज्य, "देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याँ हस्तं गृह्णाम्यसौ" ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १८),—'इति' (१) इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' साङ्गुष्ठं 'दक्षिणं पाणिं' 'गृह्णाति' (२६) । तच्च द्विजत्वसूचकं नामधेयं

कीदृशं कर्त्तव्यमित्याह;—'देवताश्रयं' वेदगर्भब्रह्मव्रतेत्यादिकं, 'वा' अथवा 'नक्षत्राश्रयं' आश्विन-रौहिणेत्यादिकं (२४), 'वा' अथवा 'एके' आचार्याः 'गोत्राश्रयं' वेदपैल्वेत्यादिकम् 'अपि' नामधेयम् आहुरिति शेषः (२५) ॥२३-२६॥

भाषा—पीछे आचार्य्य स्वयं अभिवादन समय में कथनीय द्वितीय जन्म-सूचक एक नवीन नाम कल्पना कर लड़के से "मैं अमुक नाम वाला गुरो तुमको अभिवादन करता हूं" कहवा कर लिये हुए जलाञ्जलि को छोड़ कर "देवस्य ते" मन्त्र पढ़ते हुए दहिने हाथ से बालक के अंगुठे के साथ दहिना हाथ ग्रहण करे। वह नाम देवताश्रित, या नक्षत्राश्रित या गोत्राश्रित होगा (देवताश्रित जैसे-वेदगर्भ, ब्रह्मव्रत, प्रभृति, नक्षत्राश्रित जैसे आश्विन रौहिण प्रभृति; गोत्राश्रित जैसे०वैद, पैल्व प्रभृति) ॥२३-२६॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्वासाविति ।२७। दक्षिणेनपाणिना दक्षिणमंसमन्ववमृश्यानन्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् प्राणानां ग्रन्थिरसीति ॥२८॥

'अथ' अनन्तरम् । 'एनं' माणवकम् सूर्यस्यावृत्त मन्वावर्त्तस्वासौ ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० १६, १९,),—'इति' मन्त्रं पठन् 'प्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'आवर्त्तयति' प्राङ्मुखं करोति, आचार्यएव ॥ २७ ॥ दक्षिणेन पाणिना' माणवकस्य 'दक्षिणमंसम्' 'अन्ववमृश्य' स्पृशन्नेव "प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददाम्यसुम्" ॥ २० ॥ (म० ब्रा० १, ६, २०)'—'इति' मन्त्रं पठन् 'अनन्तर्हितां' वस्त्राच्छादनशून्यां 'नाभिम्' 'अभिमृशेत्' संस्पृशेत् आचार्यएव॥२८॥

भाषा—अनन्तर इस बालक को प्रदक्षिण क्रम से पूर्वाभिमुख कर 'सूर्य्यस्य' इस मन्त्र का पाठ करे ॥२७॥ पश्चात् आचार्य्य "प्राणानां ग्रन्थिरसि" मन्त्र पढ़ते हुए दहिने हाथ से उस बालक को दहिने कांधे पर होकर वस्त्रादि आवरण शून्य नाभि छूए ॥२८॥

उत्सृप्य नाभिदेशमहुरइति ॥ २९ ॥ उत्सृप्य हृदयदेशं कृशनइति ॥ ३० ॥ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसमन्वालभ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ॥ ३१ ॥

माणवकस्य 'नाभिदेशम्' 'उत्सृप्य' हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा "अहुर इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २१)'—'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ २९ ॥ माणवकस्य 'हृदयदेशं' 'उत्सृप्य' हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा कृशन इदं ते परिददाम्यमुम्" ॥ २२ ॥ (मं० ब्रा० १, ६, २२)'—'इति मन्त्रं पठेत् आचार्यः । ३० दक्षिणेन पाणिना' माणवकस्य 'दक्षिणमंसम्' 'अन्वालभ्य' स्पृष्ट्वा "प्रजापतये त्वा परिददाम्यमुम्" ॥ २३ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २३)— 'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ ३१ ॥

भाषा—आचार्य बालक के नाभि पर हाथ चलाकर 'अहुरः' मन्त्र पढ़ ॥२६॥ फिर हृदय पर हाथ चला कर 'कृसन' मन्त्र पढ़े ॥३०॥ फिर आचार्य दहिने हाथसे बालकके दहिने कांधेको स्पर्श कर 'प्रजापतये त्वा' मन्त्र पढ़े ३१

सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति ॥ ३२ ॥ अथैनꣳसंप्रेष्यति ब्रह्मचार्यस्यसाविति समिधमाधेह्यपोऽशान कर्म्मकुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति॥३३॥३४॥

'सव्येन' वामेन पाणिना, माणवकस्य 'सव्यं' वाममंसं स्पृष्ट्वा देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसौ" ॥ २४ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २४)'—'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥ ३२ ॥ 'अथ' तदनन्तरम् । आचार्यः, 'एनं' माणवकं त्वमेतन्नामकः, अद्यप्रभृति "ब्रह्मचारी असि" (म० ब्रा० १, ६, २५)'—'इति' हेतोः 'समिधम् आधेहि' अग्नौ प्रतिदिनमेव समिदाधानं कुरु, 'अपोशान कर्म' यथास्थानं यथाप्रयोजनञ्च शौचाचमनादि च कुरु, 'मा दिवा स्वाप्सीः' दिवानिद्राञ्च मा कुरु,—'इति' समिधमाधेह्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा स्वाप्सीः २६ (म०ब्रा०१,६, २६) एतत्त्रितयोपदेशबोधकं मन्त्रम् पठन् 'सम्प्रेष्यति' उपदिशति ॥ ३२-३४ ॥

भाषा—इसी प्रकार बांये हाथ से बालक के बांये कांधे को छूकर 'सवित्रेत्वा' मन्त्र पढ़ें ॥ ३२ ॥ पश्चात् आचार्य, बालक को "तुम आज से इस नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मचारी होते हो, प्रति दिन सायं प्रातः अग्नि में समिदाधान करना और शौचाचार से रहना, दिन में न सोना" आदि उपदेश देवे ॥३३,३४॥

उदङ्ङग्नेरुत्सृप्य प्राङाचार्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु

॥ ३५ ॥ प्रत्यङ्माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ॥ ३६ ॥

'आचार्यः' अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्या उदगग्रेषु दर्भेषु 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'उपविशति' उपविशेत् ३५ माणवकः' तत्रैव 'उदगग्रेष्वेव दर्भेषु''दक्षिणजान्वक्तः' भूमिगतदक्षिणजानुकः 'आचार्यमभिमुखः' 'प्रत्यङ्' पश्चिममुखः सन् उपविशेदित्येव ॥३६॥

भाषा—आचार्य अग्नि के उत्तर में उत्तराग्र रक्खे हुए कुशों पर पूर्व मुह बैठे ॥ ३५ ॥ बालक भी उसी स्थान में उत्तराग्र रक्खे हुए कुशाओं पर अपना दहिना जांघ भूमि में लगा कर आचार्य के सम्मुख बैठे ॥ ३६ ॥

अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं दुरुक्तात् परिबाधमानेस्यृतस्य गोप्त्रीति च ॥ ३७ ॥

'अथ' तदनन्तरम् । आचार्यः 'एनं' माणवकं 'त्रिःप्रदक्षिणं' यथास्यात्तथा 'मुञ्जमेखलां' मुञ्जमयीं रशनां 'परिहरन्' परिधापयन् "इयं दुरुक्तात्परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती मआगात् । प्राणापानाभ्यां बलमाहरन्ती स्वसादेवी सुभगा मेखलेयम्" ॥ २७ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २७)'–'इति' मन्त्रं, ऋतस्य गोप्त्री तपसः परस्वी घ्नती रक्षः सहमाना अरातीः । सा मा समन्तमभिपर्येहि भद्रे धर्त्तारस्ते मेखले मा रिषाम" ॥ २८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २८)'–'इति' मन्त्रं 'च' 'वाचयति' । अत्रैव यज्ञोपपीतपरिधापनव्यवहारश्च, परं कौथुमानां सूत्रकारानुल्लेखादकृतेऽपि न दोष इति नव्याः । वस्तुतो वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नयनमेवोपनयनं, यज्ञोपवीतधारणन्तु दैवकार्यानुष्ठानार्थमेव सूत्रकारेण विहितमिति यदायदैव दैवकार्यं कर्त्तव्यं भवेत् तदा तदैव धार्यं स्यादिति न क्षतिः, शिखापरिरक्षणन्तु सर्वथैव कार्यमेवान्यथा दैवकार्यकाले कुतआयास्यतीति ॥ ३७ ॥

भाषा—आचार्य, बालक को मूंज की बनी हुई मेखला, तीन फेरा करके पहना कर 'इयं दुरुक्तात्' और 'ऋतस्य' गोप्त्री दो मन्त्रों को पढ़ावे ॥३७॥

अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति ॥ ३८ ॥ तस्मा अन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशः ऋक्शइति

महाव्याहृतीश्च विहृता ओंकारान्ताः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

'अथ' तदनन्तरम् । माणवकः 'भोः!' 'अधीहि' अध्यापय, 'भवान् मे सावित्रीम् अनुब्रवीतु'—'इति' प्रार्थनावाक्यं कथयन् 'उपसीदति' शरणगतो भवति ॥३८॥ ततश्च 'तस्मै' माणवकाय' प्रथमं 'पच्छः' पादं पादं कृत्वा, ततः 'अर्द्धर्चशः' अर्द्धर्चमर्द्धर्चं कृत्वा, तदन्ते च 'ऋक्शः' "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्" २९ पूर्णामृचमावर्त्तयित्वा 'इति' एवमेव 'अन्वाह' अनुक्रमेण ब्रूयात्(२९)'च' अपि 'विहिताः' विभिन्नीकृताः(१)'ओङ्कारान्ताः' 'महाव्याहृतीः' "भूर्भुवस्वः"(म०ब्रा०११६) इति अनुब्रूयात् ततः ॐइत्यस्याप्युपदेशः कार्यइत्यर्थः

भाषा—अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़, नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे कि-'हे गुरो ! मुझे वेद पढ़ावें, एवं सावित्री उपदेश करें' ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार बालक कर्तृक वेदाध्ययन एवं उसका आरम्भ सूचक सावित्री मन्त्र के प्रथम उपदेश प्रार्थित होने पर आचार्य उसे पहिले एक २ चरण करके, पुनः आधी २ ऋचा, फिर सम्पूर्ण ऋचा वार २ आवृत्ति करा देवे । तदनन्तर "भूः, भुवः, और स्वः"—इन तीन महा व्याहृतियों को अलग २ एवं ॐकार भी अभ्यास करावे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

वार्क्षंचास्मै दण्डंप्रयच्छन्वाचयतिसुश्रवसं माकुर्विति ४१

'च' ततः 'अस्मै' माणवकाय 'वार्क्षं' पलाशवृक्षावयवं दण्डं, 'प्रयच्छन्' सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वॐसुश्रवः सुश्रवाः । देवेष्वेव महॐसुश्रवःसुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम्" ३१ (म०ब्रा०१,६,३१);—'इति' मन्त्रं 'वाचयति' माणवकमेव

भाषा—पश्चात् आचार्य, इस माणवक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर "सुश्रवसः सुश्रवसं मा कुरु" मन्त्र को पढ़वावे ॥४१॥

अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युराचार्याय भैक्षं निवेदयति ।४२।४३।४४।

'अथ' उपनयनानन्तरं 'भैक्षं' भिक्षार्थं 'चरति' अटति ॥४२॥ 'अग्रे' 'मातरमेव' भिक्षेतेति शेषः । 'च' अपि मातुरेव 'अन्ये द्वे सुहृदौ' ततः परं भिक्षेत ।

'वा' अथवा 'यावत्यः' स्त्रियः 'सन्निहिताः' तत्रोपस्थिताः स्युः, ताः सर्वाएव मात्रादिक्रमेण प्रथमं भिक्षेत। पुरुषभिक्षणस्य नात्रोल्लेख इत्यपि ध्येयम् ॥४३॥ संगृहीतञ्च तद् 'भैक्षं' भिक्षान्नं सर्वमेव 'आचार्याय' 'निवेदयति' उत्सृजति ॥४४॥

भाषा—इस प्रकार उपनयन होने पर बालक, भिक्षाचरण करे। पहिले माता से भिक्षा मांगे, तब माता के दो सुहृद् के पास या उस स्थान में जितनी स्त्रियां उपस्थित हों, माता से आरम्भ कर सब ही ४ से भिक्षा ग्रहण करे *। सब भिक्षा को संग्रह कर आचार्य को निवेदन करे ॥४२॥४३॥४४॥

तिष्ठत्यहःशेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरणान्तकर्मणायपित दिवाबहुभागो माणवकः 'अहःशेषं' तद्दिनावशिष्टांशं 'वाग्यतः' संयतवाक् सन् 'तिष्ठति' तिष्ठेत् अवस्थितिं कुर्यात् ॥ ४५ ॥

भाषा-बालक का सारा दिन बीत जायेगा, तब शेष दिन संयत् वाक् हो कर विश्राम करते विताबे ।४५॥

अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्षमिति ॥४६॥

'अस्तमिते' दिवाकरे अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिधस्येवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रयजा पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन धनेनान्नाद्येन समेधिषीय (स्वाहा) ॥ ३२ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३२)—'इति मन्त्रं पठन् 'समिधम्' समित्काष्ठैकम् 'आदधाति' अग्नाविति शेषः ॥ ४६ ॥

भाषा-पीछे सूर्यास्त होने पर "अग्नये समिध माहार्षम्" मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि में एक समित् काष्ठ डाले ॥४६॥

त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति ॥४७॥ तस्यान्ते सावित्रश्चरुः ॥४८॥ यथार्थम् ॥४९॥ गौर्दक्षिणा ॥५०॥१०॥

---

* पुरुष के निकट भिक्षा मांगने का कोई उल्लेख न होने से जान पड़ता है कि भिक्षा देना कार्य गृहिणी हो का है। साधारणतः भी भिक्षुक लोक गृहस्थ के घर पर " भिक्षा दो माई", बोल कर भिक्षा मांगा करते। काशी में ब्रह्मचारी गण भी गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होकर "भवति भिक्षा देहि" इस वाक्य द्वारा भिक्षा मांगते हैं, इस लिये पिता आदि के निकट भिक्षा प्रार्थना और ग्रहण व्यवहार, पिता आदि के भिक्षा दान वाञ्छा की सफलता मात्र के लिये हैं।

'त्रिरात्रं' तद्दिनप्रभृति दिनत्रयम् 'अक्षारलवणाशी' क्षारलवणभिन्नभोजी 'भवति' भवेत् ॥ ४७॥ 'तस्य' दिनत्रयस्यान्ते चतुर्थाहे 'सावित्रः' सवितृदेवताकः 'चरुः' पक्तव्यः होतव्यश्चेति सुतरामागतः ॥ ४८ ॥ अनन्तरं 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरणविश्रामादिकं कुर्यात् ॥ ४९ ॥ उपनयनसंस्कारस्यैतस्य 'दक्षिणा' 'गौः' एकैवेति समाप्तमुपनयनम् ॥ ५० ॥ १० ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीय प्रपाठकेदशमखंडस्य व्याख्यानं समाप्तम् २, १०

समाप्तश्चायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥ २ ॥

भाषा-उपनयन काल से तीन दिन तक क्षार लवण न खावे इसकेवाद चरु से पाक करके सविता देवता के उद्देश से आहुति प्रदान करे यों उपनयन संस्कार शेष होने पर यथेच्छ इस की दक्षिणा एक गौ विचरे है ४७-५०

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दशमखण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ २, १० ॥ गोभिलगृह्यसूत्र का द्वितीय प्रपाठक भी पूरा हुआ ॥ २ ॥

अथातः षोडशे वर्षे गोदानम् ॥ १ ॥ चूडाकरणेन केशान्तकरणं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरद्योतनाय । 'अतः' उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथाच यस्य गर्भाष्टमेऽब्देभूतमुपनयनं तस्य गर्भचतुर्विंशाब्दे,एवं यस्य नवमादि षोडशाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते 'गोदानम्' नाम संस्कारविशेषं कार्य्यम् ॥ १ ॥ अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्त्तव्यम्, तच्च केशान्तकरणं 'चूडाकरणेन' पूर्वोक्तेन 'व्याख्यातम्' कथितम्; चूडाकरणवत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥२॥

भाषा—उपनयन काल से सोलहवें वर्ष में अर्थात् जिसका गर्भ काल से गिनती कर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है, उसके गर्भ से २४ वें वर्ष में, और जिसका नवम आदि १६ वर्ष की अवस्था में उपनयन हुआ हो उसका २५ वर्ष से ३२ वर्ष की उमर में गोदान संस्कार करे ॥ १ ॥ इस समावर्त्तन कार्य में जो केश कटाना पड़ता है वह पूर्वोक्त चूडाकरण के नियमानुसार ॥२॥

ब्रह्मचारी केशान्तान्कारयतेसर्व्वाएयङ्गलोमानिसंहारयते

,ब्रह्मचारी'ब्रह्मवेद ,तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी,यदैव'केशान्तान् ,कारयते' तदैव 'सर्वाणि अङ्गलोमानि संहारयते' कक्षवक्षोपस्थशिखाकेशानपि वापयेदित्यर्थः ॥३,४॥

भाषा—ब्रह्मचारी जिस समय केश कटावे । उस समय वगल छाती, उपस्थ, (लिङ्ग) और शिखा तक के रोम कटा देवे ॥ ३, ४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य अविमिथुनं वैश्यस्य गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ५–८ ॥

अस्य हि गोदानकर्मणः 'दक्षिणा' 'गोमिथुनं'गोद्वयम् आचार्याय देयम् 'ब्राह्मणस्य' कर्त्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः ५ । 'क्षत्रियस्य' अश्वमिथुनम्' अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा ६ । 'वैश्यस्य' 'अविमिथुनं' मेषद्वयं दक्षिणा ७ । 'वा'अथवा 'गौः एव' सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा ८ । तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनस्यदेयेति ॥ ५–८ ॥

भाषा—इस गोदान संस्कार की दक्षिणा ब्राह्मण ब्रह्मचारी हो, तो आचार्य्य को दो गौ, ॥ ५ ॥ क्षत्रिय हो, तो छः घोड़े ॥ ६ ॥ और वैश्य हो तो दो भेड़ा देवे ॥ ७ ॥ या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही गौ ही दक्षिणा देवें ॥ ८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

'केशप्रतिग्राहाय केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय 'अजः' पुमान् छागः एकएव दक्षिणा देया सर्वजातिब्रह्मचारिभिरिति ॥ ९ ॥

भाषा-केश लोम आदि काटकर फेकनेवाले नाई को एक छाग देवे ॥९॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य वर्षाधिककालाऽपेक्षास्तीति ज्ञायेत एव चेत, आचार्याय गोदक्षिणादानानन्तरमपि "अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि" इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीयइति पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतोभवेत, तस्यैवाचार्यस्यान्तिके ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनयास्योद्वाहकालं प्रतीक्षेतेति । तत्रोपनयनेतिकर्त्तव्यतामाह;—

भाषा—[यदि ब्रह्मचारीको समावर्त्तनके अनन्तर गृहस्थाश्रममें आनेसे एकवर्षसे अधिक विलम्ब जान पड़े,तो आचार्यको दक्षिणा देनेपर भी "एकक्षण अनाश्रमी न रहे" के अनुसार उसी ब्रह्मचर्य्याश्रम का अवलम्ब करे

और फिरसे अपना उपनयन करे अर्थात् पूर्ववत् नियमसे आचार्य्यके निकट रहकर वेद की आलोचना करते हुये अपने विवाहकी प्रतीक्षा करे। इसलिये दोवारे उपनयन करने की रीतिको कहते हैं]

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातंनत्विहाहतं वासो नियुक्तं नालङ्कारः १०-१२ नाचरिष्यन्तᳪंसम्वत्सरमुपनयेत्॥१३॥

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् ॥ १० ॥ विशेपस्तु 'इह' उपनयने 'अहतं वासः' न नियुक्तम्' ११ किञ्चेह 'अलङ्कारः अपि न नियुक्तः इत्येव १२। एतदुपनयननिपेधमाह; एतदुपनयनतः 'संवत्सरम्' अपि 'अचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठानमकरिष्यन्तं ब्रह्मचारिणं 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतीभवनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् १३ ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणं कर्त्तव्यं, यद्व यच्च व्रतमनुष्ठेयम्, अतस्तद्वक्तुमारभते;—

भाषा—पूर्वोक्त उपनयन कहा गया है कि विशेष इस उपनयन के पीछे एक वर्ष काल भी जो ब्रह्मचर्य्य व्रत का अनुष्ठान न करना निश्चित हो, उस को इतने कम दिनके लिये पुनः उपनीत होने की आवश्यकता नहीं ॥१३॥ अब ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य को कहते हैं।

वार्क्षश्चास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय 'वार्क्षं दण्डं प्रयच्छन्' तदैव 'आदिशति' अनुसूत्रवक्ष्यमाणान् उपदेशानिति ॥१४॥ ते चोपदेशाइमे;—(१) 'अधर्म्माचरणात् अन्यत्र' अधर्माचरणमाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मकोपदेशश्च न श्रवणीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव, इति प्रथमोपदेशः ॥१५॥

भाषा—उपनयन काल में जब माणवक को दण्ड प्रदान करे उस समय वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा कहे हुए उपदेशादि देवे ॥ १४ ॥ आचार्य्य का यदि कोई अधर्म्माचरण देखो, तो उसका अनुकरण न करो, और आचार्य्य यदि

अधर्म्म करने कहें तो, उसे भी न करो; अधर्म्माचरण छोड़ आचार्य्य, जब जो कहें, वही करो, सदैव उनके मतानुगामी रहो ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥ १६ ॥ मैथुनम् ॥ १७ ॥ उपरि शय्याम् ॥ १८ ॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

(२,३) 'क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्यवहारञ्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकार्यं विवादादिकं मा कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कार्यम् ॥ ॥१६॥ (४) 'मैथुनं' स्त्रीसङ्गं वर्जय इत्येव सर्वत्र ॥१७॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय। इति पञ्चमोपदेशः ॥१८॥ (६,७,८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको माल्याद्युत्थश्च, अञ्जनं चक्षुषोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय। अत्रापि यथा चाध्ययनस्य व्याघातकरो मनोजाविर्भावः स्यादेवं कौशीलवादिकं वर्जयेत्, न तु सामादिगीतवादित्रचर्चां, नापि गुरुप्रसादगन्धमाल्यादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारं वर्जयेत। अतएवमनुनाऽभ्यधायि "यःस्रग्व्यपिद्विजोऽधीते" इत्यादि ॥१६-१९॥

भाषा-क्रोध के कोई कारण होने पर भी क्रोध प्रकाश पूर्वक विवादादि न करो झूठा मत बोलो ॥१६॥ स्त्री प्रसङ्ग न करो ।१७ गुरु की शय्या की अपेक्षा अपनी शय्या ऊंची न करो ॥ १८ ॥ जिससे मनोविकार उत्पन्न हो, ऐसा नृत्य, गीत, वाजा, आदि की चर्चा, चन्दन, और मालादिगन्ध का व्यवहार एवं आंखों में अञ्जन धारण आदि न करो ॥ १९ ॥

स्नानम्॥२०॥अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥२१॥

(९) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय ॥ २० ॥ (१०,११,१२) 'अवलेखनं' 'मुखशोभनालकातिलकादि' 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यावदावश्यकं तदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आवश्यकातिरिक्तम्; इमानि च त्रीणि वर्जय ॥ २०-२१ ॥

भाषा-जल क्रीड़ा पूर्वक स्नान न करे ॥२०॥ अलका तिलक से मुखको सुन्दर करना, तुत्थकादि से दांत रंगना, आवश्यकतानुसार पैर धोना ॥२१॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमाꣳसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोहणम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्रामउपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेण केशलोमादीनां वापनं वर्जय। पूर्वं यदुक्तं ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापकं तत् समावर्तनाङ्गभूतं बोध्यम् ॥ २ ॥ (१४,१५) 'मधु' सारघं वर्जय। २३। (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरोहणं वर्जय ॥२४॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकयोः 'धारणं' वर्जय ॥२५॥

भाषा—क्षुरे से केश, लोम, आदि का मुण्डन न करावे ॥२२॥ * मधु मक्खियों से एकत्र किया शहद एवं मांस भी न खावे ॥२३॥ गौ से जो सवारी चलायी जावे, उस पर न चढ़े ॥२४॥ गांव में हो कर जूता न पहने ॥२५॥

स्वयमिन्द्रियमोचनमिति २६ मेखलाधारणभैक्षचर्यदण्डधारणसमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते नित्यधर्माः ॥

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वजयेत्येव। 'इति' इमेऽष्टादश वर्जनीया गताः ॥२६॥ कर्त्तव्यानुपदिशति;-(१-५) मेखलाया धारणम्, भिक्षाचारिणोभावावलम्बनम्, दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्, उदकानामुपस्पर्शनपूर्वकमीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति एते' पञ्च व्यवहाराः नित्यधर्माः प्रतिदिनकर्त्तव्याः ॥२७॥ ब्रह्मचारिणां चत्वारि वेदव्रतान्यनुष्ठेयानि गोतमेनोक्तानि चाचार्योऽप्ययमाह;—

भाषा-हस्त मैथुन ** न करे। ये १८ उपदेश समाप्त हुए ॥२६॥ मेखला धारण, भीख मांग कर पेट भरना, दण्ड धारण, समिदाधान, जल से हाथ पैर धोकर ईश्वरोपासना, प्रातः उठ कर गुरु जनों को अभिवादन, ये कर्म प्रति दिन करे ॥२६,२७॥ समावर्त्तन के पीछे ब्रह्मचारी ४ व्रत और भी करे।

गोदानिकव्रातिकादित्यव्रतौपनिषद्ज्यैष्ठसामिकाः संवत्सराः

* इस के पूर्व ३ ये सूत्र में जो केश मुण्डन को व्यवस्था कही गयी है, वह समावर्त्तन संस्कार में कर्त्तव्य द्वितीय सूत्रोक्त ही का विशेष विधिमात्र है। ** यह दुर्गुन आज कल—स्कूल एवं कालिज के लड़कों में अधिकांश पाया जाता है इस का कारण शिक्षा का अभाव है।

'संवत्सराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवेयुरित्यर्थः। तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः 'गोदानिकाः' स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम्। केचनाब्दाः 'व्रातिकाः' स्युः विशेषतोऽत्रारण्यसंहितोव्रतपर्वणामेवानुशीलनं कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'आदित्यव्रतौपनिषदाः स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'ज्यैष्ठसामिकाः' स्युः अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशीलनं प्रधानतः कार्यमिति। यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः। गोदानिकाः परन्तत्राप्युत्तराब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसत्त्वादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात् केचनाब्दाः प्रथमाद्यः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च विशेषतो व्रातिकेत्यादिभिः प्रसिद्धाः। यथा च सामवेदीय आर्च्चिकः सर्वएव छन्दोमय स्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्च्चिक इति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु 'छन्दः' इत्येव। यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहादीनां सर्वेषामेव दशाकालानां बहुत्वेऽपि निजभोग्य वर्षाः मासा वा तत्र स्वल्पाएव भवन्तीति ॥२८॥

भाषा—उपनयन से १६ वर्ष ब्रह्मचर्य अवलम्बन कर ब्रह्मचारी वेदाध्ययनादि पूरा होने पर आचार्य को दक्षिणा में दो गौ देकर अपने घर लौट जाए, इसी कारण २४ वर्ष के वयस में कर्तव्य संस्कार को 'गोदानिक' एवं 'समावर्तन' कहते हैं। इस १६ वर्षके बीच' ४ व्रत करने पड़ते हैं और उसके अनुयायी ही यह षोडशाब्द चार नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से जो कई वर्षों में वेद ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त होगा उसे गोदानव्रत एवं उस कई एक वर्ष को उसका अनुयायी 'गोदानिक अब्द' कहते हैं। उसके बाद जो कई एक वर्ष में पुनः "अरण्य संहिता" के व्रत पर्व का विशेष अनुशीलन करना होता है उस कई एक वर्ष को 'व्रातिकाब्द' कहते हैं। अनन्तर जो कई एक वर्ष में "आदित्य व्रत"साम आदि और उसके साथ उपनिषद् अब्द कहते हैं। इसी प्रकार शेष को जिस वर्ष में' या कई एक वर्ष में ज्येष्ठ साम आदि का विशेष अनुशीलन किया जाता है' उस कई एक वर्ष को "ज्यैष्ठसामिक अब्द" कहते हैं। यद्यपि वस्तुतः ये षोडशाब्द ही "गोदानिक" है किन्तु जिस प्रकार सामवेदीय आर्च्चिक ग्रन्थ का आद्यन्त सब ही छन्दोमय होने पर भी उत्तर दल

का 'उत्तरा' यह विशेष नाम रहने से पूर्व दल मात्र कोही 'छन्द' कहते हैं उसी प्रकार इस स्थानमें भी उत्तराब्द आदिका व्रतादि विशेष नाम रहनेसे प्रथमादि कई एकवर्ष मात्रको 'गोदानिक अब्द कहते हैं। ज्योतिषमें भी ग्रहों की दशा समधिक काल होने पर प्रथम कुछ समयतक उसकी 'अपनीदशा' होती है २८

तेषुसायंप्रातरुदकोपस्पर्शनमादित्यव्रतन्तुनचरन्त्येके ॥३०॥

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ष्वेव व्रतेषु 'सायंप्रातः' 'उदकोपस्पर्शनम्, आचमनादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ॥ २९ ॥ 'एके' 'आदित्यव्रतन्तु' न 'चरन्ति' उपनिषद्व्रतमेव केवलमाचरन्ति न पुनरादित्यव्रतयुक्तं तदिति भावः ॥ ३० ॥

भाषा—इन्हीं गोदानिक आदि चार व्रतों में सायङ्काल एवं प्रातःकाल में आचमन आदि करके यथोक्त रीति से ईश्वरोपासना करे ॥२८॥ अनेक लोग "उपनिषद्" व्रत के साथ "आदित्यव्रत" का अनुशीलन नहीं करतेहैं ॥३०॥

ये चरन्त्येकवाससो भवन्त्यादित्यश्चनान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशरणाभ्यांनापोऽभ्यवयन्त्यूद्र्ध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ॥३१-३३॥

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः। 'च' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र' 'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम् ततोऽन्यत्र आदित्यान्तर्धानाय छत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः। 'अगुरुप्रयुक्ताः' गुरुभिः विशेषकार्यार्थमननुज्ञाताः 'जानुभ्यामूद्र्ध्वम् अपः' जानुदघ्नाधिकान्युदकानि 'न अभ्यवयन्ति' नावतरन्ति गंभीरनदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोपदेशः ३१-३३ । १

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठके प्रथमखंडस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३, १॥

भाषा—जो लोग 'आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद्व्रत' अवलम्बन करते हैं उनको निम्नलिखित तीन व्रत अवलम्बन करना चाहिये। प्रथम जब तक इस व्रतका अनुष्ठान करे' उत्तरीय वस्त्र का व्यवहार न करे' एक ही वस्त्र से निर्वाह करे। द्वितीय तब तक घर एवं वृक्षके अतिरिक्त सूर्य को तिरोहित न करे अर्थात् छाते आदि का व्यवहार न करे। तृतीय' तब तक' गुरु की विशेष आज्ञा विना जानु परिमाण जल से अधिक जल में न तैरे ॥३१-३३॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायकेप्रथमखण्डकाअनुवादपूरा हुआ ॥३।१॥

द्वादशमहानाम्निकाःसंवत्सरानवषट्त्रयइतिविकल्पः १–३

'महानाम्निकाः' महानाम्निसामानुशीलनसाध्याः 'संवत्सराः' 'द्वादश, नव, षट्, त्रयः'—'इति विकल्पः' अस्ति। इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका अब्दाः गोदानिकषोडशाब्दतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः ॥ १–३ ॥

भाषा—"महानाम्नी" नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन—साध्य व्रत करे, वह १२, ९, ६, या ३ वर्षों में पूरा होगा। ये द्वादश आदि वर्ष, पूर्वोक्त १६ वर्ष से अतिरिक्त हैं। जो लोग इस काम्यव्रत के अनुष्ठान करने की इच्छा करें वे षोडशाब्द में गोदानादि चारो व्रत अनुष्ठान करके अवश्य कर्तव्य ब्रह्मचर्य समाप्त कर और यथा सामर्थ्य १२, ९, ६ वा ३ वर्ष और भी ब्रह्मचर्य करें। इस व्रत का फल आगे कहा जावेगा ॥ १–३ ॥

संवत्सरमप्येके व्रतन्तु भूयः पूर्वैश्चेच्छ्रुतामहानाम्न्यः॥४-६॥

'संवत्सरम्' 'अपि' तस्य साम्नोऽनुशीलनम् 'इति' 'एके' आचार्या वदन्ति ॥ ४ ॥ 'तु' अपि 'व्रतम्' एकवार्षिकमेवेदम् 'भूयः' बहु मन्येत, यदि 'चेत्' 'पूर्वैः' व्रतप्राक्कालैः 'महानाम्न्यः' 'श्रुताः' अनुशीलिताः स्युः ॥ ४–६ ॥ एतत्काम्यकर्मणोबह्वादरताबोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति;—

भाषा–किसी का मत है कि एक ही वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करने का है ॥ ४ ॥ यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व "महानाम्नीसाम" की ठीक शिक्षा होवे, तो एक ही वर्ष का व्रत यथेष्ट है ॥५। ६॥

अथापि रौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पायमाना आहुः शक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ७-९

'अथापि' 'रौरुकि ब्राह्मणं' रौरुकिनामब्राह्मणोक्तं लौकिकप्रवादवचनं 'भवति' अस्ति। किन्तत् ? इत्युच्यते–'ह' निश्चयं पुरा 'मातरः' 'कुमारान्' स्वपुत्रान् 'पायमानाः' स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म' उक्तवत्यः। किमुक्तवत्यः तदाह "हे" 'पुत्रकाः !' यूयं 'शक्वरीच्छन्दोमूलकमहानाम्नीनां 'व्रतम्' अनुशीलननियमं 'पारयिष्णवः' 'भवत'–'इति' ॥ ७–९ ॥ इदानीं तद्व्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह—

भाषा—"रौरुकिब्राह्मण" में एक लौकिक प्रवाद है कि मातृगण अपने पुत्रादिक को स्तन्य पान कराते २ कहती हैं कि "हे वत्स ! शक्वरी व्रतानुष्ठान के निमम को पार करने में समर्थ होओ"। महानाम्नी सामकी अस्थि स्वरूप पद्य मन्त्र आदि शक्वरी छन्द है ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

तास्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनम् ॥१०॥ नानुपस्पृश्य भोजनं प्रातः ॥११॥ सायमुपस्पृश्या भोजनमासमिदाधानात् ॥१२॥

(१) 'तासु' शक्करीषु शक्करीसाधनायेति यावत् । 'अनुसवनम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥ १० ॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातर्भोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम् ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्' 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम् ॥ १२ ॥

भाषा—महानाम्नी व्रत में प्रत्येक सन्धिकाल में जल से हाथ पग आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥१०॥ प्रति सन्धाकालमें ईश्वरोपासनाके लिये जल स्पर्श आदि किये विना प्रातःकालीन भोजन भी न करे ॥ ११ ॥ सायंकाल में ईश्वरोपासनाके लिये जल न ग्रहण करके भी समिदाधान के पहिले भोजन न करे अर्थात् सन्ध्योपासन और समिदाधान करनेपर सन्ध्याका भोजनकरे॥

कृष्णवस्त्रः ॥ १३ ॥ कृष्णभक्षः ॥१४॥ आचार्याधीनः ॥१५॥ अपन्थदायी ॥१६॥ तपस्वी ॥१७॥ तिष्ठेद्दिवा ॥१८॥ आसीत नक्तम् ॥१९॥ वर्षति च नोपसर्पेच्छन्नम् ॥ २० ॥

(४) कृष्णवर्णं रञ्जितमपि वा नलदूषितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् ॥ १३ ॥ (५) कदर्याकदर्याविचारेणैवान्नादिकं भक्षणीयम् ॥ १४ ॥ (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वतआज्ञाकारी भवेदिति शेषः ॥ १५ ॥ पथिकेभ्यः पन्थादानशीलो न भवेत् तथाच स्नातकव्रतमाचरेदिति भावः ॥ १६ ॥ (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्रिमसूत्रत्रिकेण स्फुटीभविष्यति ॥ १७ ॥ (क) 'दिवा' अहनि 'तिष्ठेत्' इत्येव; नोपविशेत् शयनकथा तु दूरपराहता ॥ १८ ॥ (ख) 'नक्तम्' रात्रौ 'आसीत'

शयनोपवेशने कुर्वीत, न च तिष्ठेदिति नियमः ॥ १९ ॥ (ग) 'वर्षति च' पर्जन्ये 'छन्नं' मनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं 'न उपसर्पेत्' नाश्रयेत, वृष्टिपि एव भवेदित्याशयोऽथवा वृक्षादिच्छायावलम्बनेऽपि न दोषः॥ २० ॥

भाषा-काला या रंगीन या मलिन वस्त्र व्यवहार करे ॥ १३ ॥ भोजन के लिये जो मिले उसे खाये ॥ १४ ॥ सर्वथा आचार्य का आज्ञाकारी हो ॥ ॥ १५ ॥ पथिकों को रास्ता देने में वाध्य न हो ॥ १६ ॥ तपस्वी होवे। "तपस्वी" का लक्षण ३ सूत्रों में आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ दिन में खड़ा रह कर काल काटे, सोने की बात तो दूर रहे, बैठे भी नहीं ॥ १८ ॥ रात्रि में बैठे या सोवे, परन्तु खड़ा न हो ॥ १९ ॥ मेंह वर्षने पर पानी से भींगने के भय से मनुष्यादि निर्मित गृहादि का आश्रय न करे; प्रत्युत दिन में खड़ा होकर, एव रात्रि में बैठ, या सोकर, पानी वर्षते में भीगते, या विशेष क्लेश बोध होने पर, वृक्ष आदि नैसर्गिक छाया का भी अवलम्बन करे, ॥ २० ॥

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्वर्य इति ॥ २१ ॥ विद्योतमानं ब्रूयादेवꣳरूपाः खलु शक्वर्यो भवन्तीति ॥२२॥ स्तनयन्तं ब्रूयान्मह्या महान् घोष इति ॥ २३ ॥

(९) 'वर्षन्तं' पर्जन्य मभिलक्ष्य 'आपः' इमाः आपं 'शक्वर्यः' शक्वरिच्छन्दोरूपा-एव 'इति' एवं 'ब्रूयात्'२१ (१०)'विद्योतमानं वलाहकमभिलक्ष्य 'एवंरूपाः खलु शक्वर्यः भवन्ति''इति' एवं 'ब्रूयात्'२१ (११) 'स्तनयन्तं' गर्जन्तं घनघटामण्डल मभिलक्ष्य 'मह्याः' महत्याः शक्वर्याएव 'महान् घोषः' 'इति' एवं 'ब्रूयात्' ॥२३॥

भाषा-पानी वर्सते देखकर बोले कि "ये जलधारा समस्त शक्वरी छन्दोमय मन्त्र हैं", विजुली देख कर-"शक्वरी छन्द सब भी निश्चय इसी प्रकार हैं"। मेघ गर्जन सुनकर बोले कि'ये बड़े २ शब्द अवश्यही शक्वरी छन्दके हैं'

न स्रवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् ॥ २४ ॥ न नावमारोहेत् ॥ २५ ॥ प्राणसꣳशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २६ ॥

(१२) 'स्रवन्तीं' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शन मकृत्वैव 'न अतिक्रामेत

पन्थानमिति ॥२४॥ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छेदिति भावः ॥२५॥ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः स्यात्, तत्र 'नु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥२६॥

भाषा-रास्ते में सोतेवाली नदी यदि अनति दूर पर बांये, या दहिने मिले, तो उसको विना छूये न जावे। नौका पर सवार न हो, तैर कर ही नदी पार जावे। तैरने में प्राण संकट का भय हो, तो जल छू कर नौका में बैठ पार जावे २४-२६

तथा प्रत्यवरुह्य ॥२७॥ उदकसाधवो हि महानाम्न्य इति ॥२८॥ एवं खलु चरतः कामवर्षी पर्जन्यो भवति॥२९॥

'प्रत्यवरुह्य' नौतइति यावत् 'तथा' एव उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् ॥ २७ ॥ महानाम्नीव्रते कथमेवं कर्त्तव्यमित्याह—'हि' यतः 'महानाम्न्यः' ऋचः 'उदकसाधवः' उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति अतः एतद्व्रतसाधनाय सर्वथैवोदकव्यवहारो विधेय इति भावः ॥२८॥ तेन किम्फलमित्याह;–'एवम्, उक्तप्रकारेण 'चरतः' जनस्य 'खलु' निश्चयमेव 'पर्जन्यः' कामवर्षी भवति'। एवञ्च व्रतमिदं काम्यमितिफलितम् २९

भाषा—नौकासे उतरते समय भी उसी प्रकार जल स्पर्श करे। महानाम्नी ऋग् आदि जिस कारण जल व्यवहारसे ही साधनीय है, इसलिये इस व्रतमें सब प्रकारसे जलका व्यवहार कहा गया है, यों आचरण करनेवाले के पक्षमें मेघ निश्चयही कामवर्षी होते हैं। अर्थात् इस प्रकार व्रतानुष्ठान सिद्ध-व्यक्ति के वृष्टिकी इच्छा करने पर वृष्टि अवश्य होगी ॥ २७-२९ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु ॥ ३० ॥

'वा' अथवा 'कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु' पूर्वोक्तेषु 'अनियमः' कर्त्तव्यस्तथा नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्थश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिरित्यर्थः ॥३०॥

भाषा-या असमर्थ होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि नियमके प्रतिपालन न करने में कोई दोष नहीं है ॥ ३० ॥

तृतीये चरितं स्तोत्रीयामनुगापयेदेवमितरे स्तोत्रीये सर्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ ३१-३३ ॥

यावत्कालमेतद् व्रतमाचरितव्यम्भवेत्, तस्य 'तृतीये' अंशे 'चरिते' 'स्तोत्रीयां' प्रथमामृचम् 'अनुगापयेत्' आचार्यः। व्रतानुष्ठेयकाल-तृतीय-भाग-गते आचार्यस्तं व्रतिनमाद्यङ्मूलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः (३१) 'इतरे' द्वितीय-तृतीये अपि 'स्तोत्रीये' ऋचौ 'एवम्' तृतीयांशानुसारत एवानुगापयेत्। एवं हि व्रतकालस्य मध्यम तृतीयेंऽशेऽतीते मध्यमङ्मूलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिमतृतीयेंऽशेऽन्तिमङ्मूलकं साम चाध्यापयेदिति पर्यवसितार्थः (३२) 'वा' अथवा 'सर्वस्य' व्रतकालस्य 'अन्ते' एकदैव 'सर्वाः' स्तोत्रीयाः अनुगापयेत, महानाम्नीसाम पूर्णमेवाध्यापयेदिति यावत् (३३) ॥३१-३३॥ यद्विहितं महानाम्नीसामानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाहः—

भाषा—यह महानाम्नी व्रत जब तक अनुष्ठेय हो, उसके एक तृतीयांश समय बीतने पर, आचार्य इस व्रती को प्रथम ऋग् गान का अभ्यास करावे, पीछे और एक तृतीयांश समय बीतने पर मध्यम ऋग् का गान उपदेश करे, अनन्तर शेष तृतीयांश बीतने पर शेष ऋग् का भी गान करावे, या समस्त व्रतकाल शेष होने पर एक ही बारमें तीनों ऋचाओं का गान करावे-अर्थात् समस्त महानाम्नी सामका उपदेश अन्तमें एकही बार करे ॥३१-३३॥

उपयोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ ३४ ॥

'उपोषिताय' वक्ष्यमाण (३७) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च 'सम्मीलिताय' वक्ष्यमाण (३५) विध्यनुगतवसनबद्धनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे 'अनुगापयेत्' शक्वरी स्तोत्रीयास्तिस्रः, आचार्यः ॥ ३४ ॥ सम्मीलनप्रकार माहः—

भाषा—३७ वें सूत्र में कहे अनुसार अभोजन और ३५ वें सूत्र में कहे अनुसार आंख बन्द करना; ब्रह्मचारी को आचार्य्य शक्वरी छन्द के तीन स्तोत्रीय गान करावे, इसी गान को महानाम्नी-साम कहते हैं ॥३४॥

कंसमपां पूरयित्वा सर्वौषधीः कृत्वा हस्ताववधाय प्रदक्षिणमाचार्य्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३५ ॥

'कंसं' पात्रमेकम् 'अपां' प्रदानेन 'पूरयित्वा' तत्रोदकपूर्णकांस्यपात्रे 'सर्वौषधीः, व्रीह्यादीः सप्त 'कृत्वा' क्षिप्त्वा, तत्रैव 'हस्तौ' ब्रह्मचारिणः 'अवधाय'

निमग्नौ कारयित्वा 'आचार्यः' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अहतेन वसनेन' तस्यैव अक्षिणी 'परिणह्येत्' बद्धे कुर्यात । इत्थमेव सम्पाद्यं तस्य सम्मीलनम् ॥ ३५ ॥

भाषा-आचार्य्य, एक कांसे के पात्र में जल भर कर उसमें धान्य आदि सात औषधि डालकर ब्रह्मचारी के दोनों हाथ को डुवा कर रक्खे और इसी अवस्था में उसकी दोनों आंखों को अखण्ड वस्त्र से बान्ध देवे। यों मुद्रित नेत्रहोगा। जिसको 'परिणाहन कहते हैं ॥ ३५ ॥

परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् ॥३६॥ परिणद्धो वाग्यतो न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३७ ॥

'परिणहनान्ते' 'वा' च 'अनुगापयेत्' ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आचार्यः ॥ ३६ ॥ 'परिणद्धः' सः 'वाग्यतः' भवेत् किञ्च 'त्रिरात्रम् अहोरात्रौ वा, यथा-सामर्थ्यं 'न भुञ्जीत' भोजनं न कुर्वीत ॥ ३७ ॥; परिणहनोपवासवैकल्पमाह;—

भाषा-इस प्रकार 'परिणाहन' अर्थात् आंख बान्धने पर आचार्य्य ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का अध्ययन करावे ॥३६॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणाद्ध ब्रह्मचारी संयतवाक् हो अपनी शक्ति अनुसार तीन रात, या एक दिन रात भोजन न करे ॥ ३७ ॥ परिणाहन पूर्वक उपवास का अनुकल्प कहते हैं।

अपिवाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयाच्छ्वोभूतेऽरण्येऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेदग्नि माज्यमादित्यं ब्रह्माणमनड्वाहमन्नमपोदधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यमिति एवं त्रिः सर्व्वाणि ३८-४२ ॥

'अपि वा' अथवा 'आ अस्तमयात्' सूर्यास्तकालादारभ्य 'अरण्ये तिष्ठेत्' अरण्यस्थितिं कुर्वीत । ततः 'श्वोभूते' प्रभातायां रजन्यां 'अरण्ये, एव तत्र 'अग्निम्' 'उप समाधाय' यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र आज्यलिते ऽग्नौ ब्रह्मचारी 'व्याहृतिभिः, भूर्भुवः-स्वरिति 'हुत्वा' 'अथ' अनन्तरम्, आचार्यः 'एनम्' ब्रह्मचारिणं 'अग्निम्' आज्यम्, आदित्यं, ब्रह्माणम्, अनड्वाहम, अन्नम्, अपः, दधि-'इति' अष्टौ 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत। तत्र च 'स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यं'-'इति' इमं मन्त्रं पाठयेत्

'एवं' उक्तलक्षणं मन्त्रं 'त्रिः' त्रिवारं 'सर्वाणि' वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव । तथाच एतन्मन्त्रस्य त्रिभिः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् ॥३९- ४२॥

भाषा-वा सूर्य्यास्त समयसे वनमें रहे। अनन्तर निशा-प्रभात समय उसी वनमें यथाविधि अग्नि जलाकर, जलती आगमें व्याहृति मन्त्रसे हवन प्रदान करे। फिर आचार्य्य उसे अग्नि, आज्य, आदित्य, ब्राह्मण, वृषभ, अन्न, जल, और दधि—ये आठ माङ्गलिक वस्तु क्रमशः दिखलावे एवं प्रत्येक वस्तुके देखते समय तीन २ वार "स्वः" "देखा"—ज्योतिः, देखा कहवावे। ३८-४२

शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते।४२ सोऽस्य वाग्विसर्गः॥४४॥

सर्वकर्मशेषे 'शान्तिं कृत्वा' शान्तिपाठं पठित्वेति यावत् 'गुरुम्' आचार्यम् 'अभिवादयते' ॥ ४२ ॥ 'सः' अभिवादनकालएव 'अस्य' व्रतिनः 'वाग्विसर्गः' वाचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ४४ ॥

भाषा—सब कर्मोंकी समाप्तिमें शान्ति पाठकर आचार्य्य को अभिवादन करे ॥ ४३ ॥ गुरुको अभिवादन करने तक ब्रह्मचारी संयत्वाक् रहे एवं अभिवादन के वाद 'संयत्वाक् का नियम छोड़ देवे ॥ ४४ ॥

अनड्वान् कंसो वासो वर इति दक्षिणाः प्रथमे विकल्प आच्छादयेद्गुरुमित्येके ॥ ४५–४७ ॥

'अनड्वान्' वृषभः, 'कंस' कांस्यपात्रम्, 'वासः' वसनम्, 'वरः' गौः 'इति' चतस्रः दक्षिणाः' महानाम्निव्रतस्येति शेषः (४५)। तत्र च 'प्रथमे' अनडुद्द्रव्ये एव 'विकल्पः' विकल्पतः कंसादीना मन्यतमोव्यवस्थेयः (४६) 'एके' आचार्याः 'तु' 'गुरुम् आच्छादयेत्'—वासोभिरिति शेषः—इत्येव विदधतीति ॥ ४५-४७ ॥

भाषा—इस व्रत के साथ वृषभ, कांस्यपात्र, वसन और गौ दक्षिणा देवे। इनमें से कांस्यपात्र आदि तीन वस्तु गौ का ही विकल्प है। इससे वृषभ ही प्रकृत दक्षिणा है। कांस्य प्रभृति तीनों वस्तु साध्यानुसार व्यवस्था कियी है। गौ न हो तो कांस्यपात्र, वह न हो तो वसन, इसके अभाव में गौ। किसी के मत से गुरु को सर्वाङ्ग वस्त्र से आवृत करे ॥ ४५ ४७ ॥

ऐन्द्रःस्थालीपाकस्तस्यजुहुयादृचंसामयजामहइत्येतयर्चा सद सस्पतिमद्भुतमितिचोभाभ्यां वा अनुप्रवचनीयेष्वेवम् ४८,४९

महानाम्निकव्रतकृत्यमुक्त्वेदानीं सर्वव्रतसाधारणशेषकर्त्तव्याखि क्रमाद्विधत्ते; 'ऐन्द्रः' इन्द्रदेवताकः 'स्थालीपाकः' पक्वच्चइति यावत् । 'तस्य' स्थालीपाकास्तस्य भागैकम् 'ऋचं साम यजामहे (४, २, ३, १०)' 'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'सदसस्पतिमद्भुतम् (२,२,३,४,)'-'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'उभाभ्याम्' एव ऋग्भ्याम् 'जुहुयात्'(४८)। 'एवम्' उक्तप्रकारोविधिः 'अनुप्रवचनीयेषु' सर्वसामाध्ययनेष्वेव बोध्यः, न तु महानाम्निसामाध्ययनार्थएवेति॥४८,४९॥

पूर्वत्र (२प्र०१०ख०१६सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः,व्रतसमाप्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते;—

भाषा—इन्द्र देवताक स्थाली पाक चरु प्रस्तुत करे । एवं इस चरुको यथा भाग ग्रहण कर "ऋचं साम यजामहे" (५,२,३,१०) मन्त्र पाठ करते हुए या "सद सस्पतिमद्भुतम्" (२,२,३,७) मन्त्र पाठ करते हुए या दोनों मन्त्र पढ़ते हुए होम करके ॥४८॥ जो कोई साम ग्रन्थ अध्ययनकरे उन सब ग्रन्थ की समाप्ति में यह होम करे, केवल महानाम्नी सामके लिये नहीं ॥४८,४९॥

महानाम्नी व्रतके कर्त्तव्यको कहकर साधारण व्रतोंके अन्तमें कर्त्तव्यको कहते हैं:—

[पूर्व (प्र० २ खं० १० सू० १६) व्रत ग्रहण कालमें जो मन्त्र आदि कहे गये हैं, कुछ पाठ बदल कर वे ही सब व्रत समाप्ति कालमें भी विहित हैं ।]

सर्वत्राचार्षं तदशकं तेनारात्समुपगामिति मन्त्रविशेषः॥५०॥

'सर्वत्र' व्रतान्तेषु 'मन्त्रविशेषः' पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्यः इति कानि च तानि पाठपरिवर्त्तनानि ? इत्याह—'अचार्षम्','तदशकम्' 'तेनारात्सम्' उपागाम्' 'इति' इमानि । तानि च मन्त्रब्राह्मणोक्तेषु 'अग्ने व्रतपते (१,६,९-१३)' इत्येवमादिषु पञ्चसु बोध्यानि ॥ ५० ॥

भाषा—व्रत समाप्त होने पर पूर्वोक्त मन्त्र (म० ब्रा० १,६,९-१०) क्रिया आदि भूतकालके रूपमें व्यवहृत करना चाहिये ॥ ५० ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेषो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥५१॥

'आग्नेये' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'अजः' एकः आचार्याय देयः। 'ऐन्द्रे' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'मेषः' एकः आचार्याय देयः। 'पावमाने' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'गौः' एका आचार्याय देया। इति 'पर्वदक्षिणाः' गेयगाननाम-गानग्रन्थीय-पर्वनाम-परिच्छेदानामध्ययननिमित्ता दक्षिणाः आचार्यलभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यावस्थायां दातुमसमर्थश्चेत् गृहस्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः ॥ ५१ ॥

गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते;—

भाषा—आग्नेय पर्व पढ़ लेने पर आचार्य को एक छाग देवे, ऐन्द्र पर्व पढ़ने पर, एक भेड़ा एवं पावमान पर्व पढ़ लेने पर एक गौ दक्षिणा देवे। इस को पर्वदक्षिणा कहते हैं। अर्थात् गेयगान नामक सामवेदीय गान ग्रन्थका पर्व नाम से प्रधान परिच्छेदत्रय के पढ़ाने की दक्षिणायें हैं, इसे ब्रह्मचर्यावस्था में न देसके तो गृहस्थाश्रम के प्रवेश काल में भी देवे ॥ ५१ ॥

प्रत्येत्याचार्य्यं सपर्षत्कं भोजयेत् सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ॥ ५२, ५३ ॥

'प्रत्येति' गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः 'सपर्षत्कं' पुत्रादिपरिजनसहितम् 'आचार्यं' 'भोजयेत्'। तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकानानीय आचार्यगृहे गत्वा वेति न नियमः ॥ ५२ ॥ किञ्च 'सब्रह्मचारिणः' सतीर्थाः समानकालव्रत चारिणश्च 'उप' समीपे स्वगृहे 'समेतान्' निमन्त्रणाहूतान् 'च' अपि भोजयेदित्येव ॥ ५३ ॥

भाषा—गुरुकुल से घर वापिस सोने पर गुरु पुत्रादि गुरु परिजन के साथ गुरुको भोजन करावे। (यह भोजन, चाहे अपने घर हो, या गुरु के ही घर पर हो) परन्तु निज सहपाठी आदिक को और समकाल ब्रह्मर्य समाप्तकारी गण को भी घर पर निमन्त्रण कर भोजन करावे ॥५२,५३॥

ज्येष्टसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः॥५४॥

'ज्येष्ठसाम्नः' 'अनुगापनकल्प' अध्यापनप्रकारः 'महानाम्निकेन एव' कथितः।

ज्येष्ठसाम च महानाम्निकमिव उपोषितमुपनद्धाक्षमरण्यगं वाध्यापयेदित्यर्थः ॥५४॥
अथेदानीं कौथुमानां चिरप्रतिपाल्यनियमानाह;—

भाषा—ज्येष्ठसाम के पढ़ाने की रीति महानाम्निकसाम की नाईं है। (ज्येष्ठसाम के अध्ययन में भी विद्यार्थी को उपवास रहकर, आंख बांध कर, आदि कार्य) ॥ ५४ ॥ कौथुमी शाखा वालोंके पालनीय नियम कहते हैं।

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति ॥ ५५ ॥ न शूद्रामुपेयात् ॥ ५६ ॥ न पक्षिमांसं भुञ्जीत ॥ ५७ ॥ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत् ॥ ५८ ॥

'तत्र' समावर्त्तनात् परम् 'एतानि' नित्यव्रतानि' सर्वथैव प्रतिपाल्यनियमाः 'भवन्ति' (१) शूद्रां न उपेयात्' शूद्रायाः पाणिग्रहणं न कुर्यात् (२) 'पक्षिमांसं न भुञ्जीत' विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणो मांसं न अद्यात् (३)। 'एकाधान्यम्' एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्' चिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्, सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासं न कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परिदध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं' कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद्वा यवं भक्षेत, एवं वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्त्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परिवर्त्य प्रक्षालनादिना पुनर्गृह्णीयादिति ॥ ५५-५६-५७-५८ ॥

भाषा-समावर्त्तनकेबाद वक्ष्यमाण नियमोंका अवश्य पालन करे (१) शूद्रा कन्यासे विवाह न करे (२) चिड़ियेका मांस न खावे (३) प्रतिदिन एक ही प्रकारका अन्न न खावे; कभी धान्य,कभी गेहूं, कभी यव व्यवहार करे; बहुत दिनों तक निरन्तर एकही देशमें न रहे,अन्ततः वर्षमें एकवार भी देश पर्यटन करे; एवं एक वस्त्र जब तक न फटे, तबतक अत्याज्यरूप व्यवहार न करे, वरन सर्वदा ही बदलते हुए धुलाकर ग्रहण करे ॥ ५५-५६-५७-५८ ॥

उद्धृताभिरद्भिरुपस्पृशेत् ॥ ५९ ॥

(४) 'उद्धृताभिः अद्भिः उपस्पृशेत्' तत्क्षणमेवोदकान्युद्धृत्यतैरेव हस्तमुखप्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्धृतैः। एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः, ग्रीष्मे

च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्यादिति भावः॥५९॥

भाषा-(४) जिस २ समय हाथ, पैर, मुख आदि धोनेकी आवश्यक हो, उस उस समय कूप आदिसे जलभर लेवे, या भरवा लेवे, इससे शीतकाल में गर्म जल एवं ग्रीष्मकाल में शीतल जल सुगमता से मिलेगा ॥ ५९ ॥

आदेशनात् प्रभृति न मृण्मयेऽश्नीयात् न पिबेच्छ्रवणादित्येके।

(५) 'आदेशनात् प्रभृति' सावित्र्युपदेशादारभ्य 'मृण्मये न अश्नीयात्' किञ्च मृण्मये 'पिबेत्' अपि 'न'। 'एके' आचार्यास्तु 'श्रवणात्' गुरुमुखात् वेदाध्ययनश्रवणसमाप्तिर्यदा भवेत्, ततः प्रभृत्येव मृण्मये न अश्नीयात् न च पिबेदित्याहुः ६०—६२

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठकेद्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३—२

भाषा—जब 'सावित्री'दीक्षा हो तबसे मट्टीके वर्तनमें भोजन या पान न करे। कोई २ आचार्य कहते हैं कि जब तक आचार्यके पास वेद श्रवण करे, तब तक ऐसा न करनेसे भी चल सकता है। अनन्तर वेदाध्ययन समाप्ति कर घर आने तक मिट्टीके पात्रमें भोजन, या जलपान न करे ॥ ६०-६१-६२॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीयअध्यायके द्वितीयखण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥३-२॥

अथ महानाम्नी साम।

(प्रथम स्तोत्रीयानुगानम्)

?— २ १र २ १ १र १ १
ए २। विदामघवन्विदाः। गातुमनुशꣳशिषः। दाइ
२ २ ५ १र— १ र २ र र
शा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। ए २। शिक्षाशचीनाꣳ-
१ २र र १र १ २ २
स्पताइ। पूर्वीणाम्पूरू २। वसा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४
५ २र १ १ २ २
डा। आभिष्ट्वमभा २ इ। ष्टिभिरा ३१ उ वा २ ३। ई

५ १र ऽ २ २
३ ४ डा । स्वर्णाꣳशू २ : । हा ३ २ उवा २ ३ । ई ३ ४
५ ११र र १ २ २१र — १
डा । प्राचे । तनप्रचेतथा । इन्द्रा । द्युम्नाय ना २ इषाइ ।
१ १ २ २१र — १ १ १ २ २१र
इडा । इन्द्रा । द्युम्नायन २ इषाइ । अथा । इन्द्रा । द्युम्ना-
— १ १ १रर र र र र र २ २
यना २ इषाइ । इडा । एवा हिशक्रोरायेवाजायवा १ज्री
३ २ १ २ ४ ५ १
३ वाः ।शविष्ठ वज्रिन्ना ३ । जासाइ । मꣳहिष्ठ वज्रिन्ना
१ १ २ १ १ १ १ १
२ ३ हो । जा सा ३ २ उवा ३ २ । इड् इडा २ ३ ४ ५
१ २ २ १ — १ १ १ १ १ १
आ या । हि पिब मा २ त् सुवा । इ डा २ ३ ४ ५ ॥—

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

१ — २ १ररर र १ र र र र
ए २ । विदारायेसुवीरियाम् । भुवो वाजानाꣳपतिर्व-
— १ १ २ ५ १—
शाꣳ २ । अनुआ ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ ।
१ २ ११ १ ऽ २
मꣳहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसाइ । यः शविष्ठः शूरा २ णा ३ १
१ ५ १र ऽ २
उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । योमꣳहिष्ठ मघो २ । ना ३ १
२ ५ २ र ऽ २
उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । अꣳशुर्नशोचा २ इः । हा ३१
२ ५ १ १ र र
उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । चाइ । क्त्वो अभिनोनया ।
१ २ २ र १ १ २ १ १र —
ईन्द्रो । विदेतमू २ स्तुहाइ । इडा । ईन्द्रो । विदेतमू २

१ १ १ २ २ १र १ १
स्तुहाइ। अथा। ईन्द्रो। विदेतम्‌ २ स्तुहाइ। इडा।
१ रर र २ २ २ २र १र २
ईशोहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ। जेतारमपरा ३।
४ ५ १ १ १ २
जाइताम्। सनः स्वर्षदता २ ३ होइ। द्वाः इषा ३ १ उवा
१ १ १ १ १ १ २ २ १ १
२ ३। इद् इडा २ ३ ४ ५। क्रातुः। छन्द ऋता २ स्बृहा
१ — १ १ १ १
त्। इडा २ ३ ४ ५॥

महानाम्नी साम।

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

१ – १ २ र १ १ र र र र
ए २। इन्द्रन्धनस्य सातयाइ। हवामहे जेतारमपरा
– १ २ २ ५ १ – १ २
२। जितमा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४ डा। ए २। सनः-स्वर्ष
१ १ १ २
दति द्विषाः। सानः स्वर्षदता २ इ। द्विष आ ३ १ उवा २
२ ५ १र – १ २
३। ई ३ ४ डा। पूर्वस्य यत्तआ २। द्रिव आ ३ १ उवा२
२ ५ २ १ र ऽ २
३। ई ३ ४ डा। अंशुर्म्मदाया २। हा ३१ उवा २३।
२ ५ १ २र र १ २ १ –
ई ३४ डा। सून्नआधेहिनोवसाउ। पूर्त्तीः। शविष्ठशा२स्य
१ १ १ २ २ १ – १ १
ताइ। इडा। पूर्त्तीः। शविष्ठशा २ स्यताइ। अथा।
१ २ २ १ १ १ र र
धूर्त्तीः। शविष्ठशा२स्य ताइ। इडा। वशीहिशक्रोनूनं तन्नव्य

२ १ २ १र १ र ४ ५ १ र
ष्ठंसा१न्या३साइ । प्रभो जनस्यवा ३ । त्राहान् । समर्येषु
१ १ २ १ १ १ १ १
व्रवा २३ होइ । वाहा ३१ उवा २३ । इद्‌उडा २ ३ ४ ५ ।
१ र २र १ १र – १ १ १ २ २ १र
शूरो । योगोषुगा २ च्छता ३ । इडा । सखा । सुशेवो
– १ १ १ १ १ १
२ द्वयुः । इडा २ ३ ४ ५ ॥-

(पञ्चपुरीय पदानुगानम्)

१ २ २ र १ १ १ १ १ १ १ २र
आइवा । हियेवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३१ उ
२ ५ १ २ २ १ १ १ १ १ १
वा २३ । ई ३४ डा । आइ वा हियग्ना २ ३ ४ ५ इ । होइ
१ २र २ ५ १ २ २
हो । वा हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि
१ १ १ १ १ १ १ १ २ २
इन्द्रा २ ३ ४ ५ होइ । हो । वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४
५ १ २ २ १ ऽ ऽ ऽ ऽ १ १ २र
डा । आइ वा हि पूषा २ ३ ४ ५ न् । होइ । हो । वाहा
२ ५ १ २ २ २ र १ १ १ १
३१ उवा २ ३ । ई३४डा । आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५
१ १ २र २ ५ १ ५
होइ । हो । वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा
२ र १ १ १ १ १ १ १ २र
हि देवा २ ३ ४।५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा २ ३
२ ५
ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

प्रौष्ठपदीᳬहस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

"हस्तेन प्रौष्ठपदीं" हस्तनक्षत्रयुतां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव "उपाकरणं" नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म वक्ष्यमाणेतिकर्त्तव्यताकं कर्त्तव्यम् । उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत् ॥१॥ अत्रोपाकरणे:—

भाषा—भाद्रमास के किसी तिथि के पूर्वान्ह में हस्ता नक्षत्र युक्त हो, उसी दिन 'उपाकरण' कर्म करना चाहिये * ॥ १ ॥

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणाᳬ सावित्र्यनुवचनं यथोपनयने

१—'व्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरिति मन्त्रत्रिकैः 'हुत्वा' आज्यमेव 'शिष्याणां' वेदाध्ययनारम्भकर्त्तुमुपस्थितानां नवानां 'सावित्र्यनुवचनं सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्त्तव्यम् । एतच्च 'यथा उपनयने' कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽर्द्धर्चशऋक्श इति यावत् २॥

भाषा—भूः, भुवः, और स्वः, इन तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए तीन आहुति देवे । वेदाध्ययन का आरम्भ करने के लिये समुपस्थित नये छात्रों को उपनयन में उपदेश होने की नाईं पहिले पाद २, फिर आधी २ ऋचा और अन्तमें समस्त ऋक् आवृत्तिक्रमसे सावित्री मन्त्रका अभ्यासकरावे † २

सामसावित्रीञ्च ॥ ३ ॥ सोमᳬराजानंवरुणमिति ॥ ४ ॥

(२) 'च' अपि 'सावित्रीम्' ऋचमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं 'साम' अनूच्यात् अनुवाचयेत् शिष्यान् । आदौ तावदाचार्यो भागशोब्रूयात्तदनु तथैव तत्साकमेव शिष्याः सर्वएव मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत् ॥ ३ ॥ (३) 'च' अपि

* जिस क्रिया के द्वारा वेद के नूतन पाठका अध्ययन और अध्यापन आरम्भ किया जाता, है उस अनुष्ठान को 'उपाकरण' कहते हैं । यह 'उपाकरण' आचार्य एवं छात्र दोनों ही को समान कर्त्तव्य है, सुतरां सब ही मिलकर करते हैं । ऋग्वेदी और यजुर्वेदियों को यह 'उपाकरण' श्रावण मास में होता है एवं किसी २ के मत से कौथुमियों को भी श्रावण ही मास में होता हैं । अतएव इस अनुष्ठान को 'श्रावणी' भी कहते हैं ।

† वेदों के अध्यापन आरम्भ कालमें सर्वदा ही सावित्री पाठ और तत समागम कर्त्तव्य एवं उसी प्रकार व्यवहार भी है । यदि थोड़े ही दिन में उपनीत होजावे तो सावित्री साम का अभ्यास छूट जा सकता है सुतरां यह सावित्री अन्यून उनके लिये विशेष आवश्यक है ।

'सोमं राजानं वरुणम्' (छ० आ० १, २, ५, १)' 'इति' ऋच मनूच्यात् तन्मूलकं साम च (गे० गा० ३, १, १) ॥ ४ ॥

भाषा—एवं यह सावित्री ऋक् अवलम्बन पूर्वक गीत साम भी एक २ भाग कर, आचार्य, निजकृत उच्चारण के पीछे और सङ्ग २ उस छात्रको पढ़ाते हुए अभ्यास करावे ॥ ३ (३) 'सोम१७ राजानं (छँ,आँ१,२,५,१) ऋक् एवं यह ऋङ् मूलक साम (गें,गाँ ३,१,१) इस प्रकार क्रमसे अभ्यास करावे ॥ ४ ॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् ॥ ५ ॥

(४) ततः सर्वेमिलित्वा 'छन्दसः' छन्दोनामसामवेदीयार्च्चिकग्रन्थस्य आदितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीत वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः सामशून्यायाः समग्रायाः यावदधीताया वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। 'अधीत्य' पारायणे समाप्ते 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनमपरापरं कार्यं कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

भाषा—अनन्तर छन्दोनामक (आर्च्चिक) * ग्रन्थके पूर्व और उत्तर दोनों भाग ही आद्यन्त (जहां तक पढ़ा है) सब मिलकर पाठ करें। उसी प्रकार वेद पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करे ॥ ५ ॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्करम्भिणमिति ॥ ६ ॥

(५) अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते 'धानावन्तङ्करम्भिणम् (छ० अङ्क ३,१,) २, ७)'—'इति' इमा मृचं पठित्वा 'अक्षतधाना.' अष्टएव धाना उच्यन्ते तत्र चाक्षतत्वं मृग्यम्, ता एव 'भक्षयन्ति' आचार्यादयः ॥ ६ ॥

भाषा—(५) वेद परायणके अनन्तर 'धानावन्तङ्करम्भिणम्' मन्त्रका पाठ करते हुये अभग्न भुना हुआ यव सब लोग भक्षण करें ॥ ६ ॥

दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोअकारिषमिति । ७ आ चान्तोदकाः ८ । खाण्डकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत् ॥ ९ ॥

ततश्च 'दधिक्राव्णोअकारिषम् (छ०अ०४,२,२,७) 'इति' ऋचं पठित्वा 'दध्नः

---

* यही साम वेद का मूल ग्रन्थ अर्थात् संहितास्थि है। इसी का अवलम्बन कर गेयं गान प्रभृति गान ग्रन्थ सब बने हैं एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसी का व्यवस्थापक है इत्यादि ।

प्राश्नन्ति' तएवेति । अनन्तरम् 'आचान्तोदकाः' उदकैः कृताचमनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः) । ततः 'खाण्डिकेभ्यः' अधीतवेदखण्डेभ्यः पुरातनछात्रेभ्यः इति यावत् । 'अनुवाक्याः' अनुवाकशएव 'अनुगेयाः' स्वगानानुरूपगायकाः 'कारयेत्' आचार्यः ॥९॥

भाषा–तदनन्तर 'दधिक्राब्णोअकारिषम्' मन्त्र पाठ करके सब लोग दही खावें। तब आचमन कर यथा स्थान स्वस्थ हो बैठें। पीछे आचार्य, जिन छात्रों ने जहां तक पढ़ा हो, उसके परे से अध्ययन करावें ॥ ९ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते।१० उदगयने च पक्षिणीᳫं रात्रिम्॥११

'सावित्रमहः' यद्दिने सावित्र्युपदेशोऽनुवचनं वा तद्दिनं 'काङ्क्षन्ते' वाञ्छन्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विश्रामायैति ॥१०॥ 'च' अपि तदेव सावित्रमहः उपनयन-निबन्धनं वक्ष्यमाण मुत्सर्गनिमित्तं वा 'उदगयने' चेद्व भवेत् तर्हि 'पक्षिणीं रात्रिं तद्दिनमारभ्य परदिनावशेष पर्यन्तं विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ॥ ११ ॥

[यहां जिस प्रकार वेदोंका 'उपाकरण' कहा गया है, उसी प्रकार उत्तरायण में वेदों को 'उत्सर्ग' क्रिया की भी व्यवस्था कियी जावेगी]

भाषा–जिस दिन यह 'उपाकरण' क्रिया हो, उस दिन दही खाकर एवं आचमन कर लेनेपर नये विद्यार्थियोंको विश्राम देवे ॥१०॥ उस उत्तरायणमें छात्रोंको पक्षिणी विश्राम देवेकी व्यवस्था करे अर्थात् क्या वेद,क्या वेदाङ्ग, सम्बन्धी नया वा पुराना पाठ कुछ भी न करे करावे ॥ ११ ॥

उभयत एके त्रिरात्रम् ॥ १२॥ आचार्याणाञ्चोदको-त्सेचनमुभयत्र ॥ १३ ॥

'एके' तु आचार्याः 'उभयतः' दक्षिणायनोत्तरायणेतदुभयकाले एव तथा च वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सम्पन्ने 'त्रिरात्रं' काङ्क्षन्ते विश्रामायेति ॥१२॥ (९) 'उभयत्र' उपाकरणे उत्सर्गे च 'आचार्याणां' वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः 'उदकोत्सेचनं' जलाञ्जलिक्षेपणं तर्पणमिति यावत् कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

भाषा—कोई २ आचार्य कहते–कि 'उपाकरण' और 'उत्सर्ग' इन दोनों क्रियाओं में छात्रों को तीन रात्रि विश्राम देवे ॥ १२ ॥ ('उपाकरण' और

उत्सर्ग, इन दोनों क्रियाओं में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्यों का नाम स्मरण करके (स्वीय) तृप्तिसाधन करे ॥ १३ ॥

श्रवणामेकउपाकृत्यैलमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते ॥ १४ ॥ तैषीमुत्सृजन्ति ॥ १५ ॥

'एके' आचार्याः 'श्रवणां' श्रावणीं पौर्णमासीं प्राप्य 'उपाकृत्य' 'आसावित्रात्' सवतृदेवताकं भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्र मभिव्याप्य 'एवंकालं' काङ्क्षन्ते' अध्ययानाध्यापनविश्रामायेति । इत्युपाकरणम् अथोत्सर्गः। 'तैषी' तिष्यनामनक्षत्रयुतां पौषीं पौर्णमासी मिति यावत् प्राप्य 'उत्सृजन्ति'वेदाध्यापनत्यागसूचक मुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्याएवेति । इदमेवोदगयनीयं प्रत्युपाकरणम् ॥१४-१५॥

भाषा-कोई २ आचार्य कहते हैं कि श्रावण मासकी पूर्णिमासी को यह 'उपाकरण करे एवं उस दिनसे भाद्रमासके हस्तानक्षत्र युक्त तिथि तक छात्रों को विश्राम देवे । पौष की पूर्णमासी को वेदाध्यापन का 'उत्सर्ग' कई महीनों केलिये नया पाठ छोड़ देवे । यह 'प्रत्युपाकरण' है ॥ १४-१५ ॥

प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीयास्ता-अभ्येत्योपस्पृश्यच्छन्दाᳬस्यृषीनाचार्यांश्च तर्पयेयुः ॥१६॥

एतस्मिन्नुदगयीनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र च विश्रामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक् वा' पूर्वस्यां दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि या निष्क्रम्य, 'या आपः' 'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पर्शिन्यो मेहनीयाः ततोऽर्वाचीनाः अवमेहनीयाः, न तादृश्यः, मेहनोद्धर्ध्वगता नाभिदघ्ना इति यावत् ; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य, 'उपस्पृश्य' 'छन्दांसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'ऋषीन्' मन्त्रद्रष्टृषिनामान्युल्लिख्य, 'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः स्मरणतः स्वात्मतृप्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

भाषा-यह 'उत्सर्ग' क्रिया पूरी होनेपर तीन रात सब प्रकार अध्ययन न करे, यह पूर्वही व्यवस्था कियी गयी है । उस विरामकालमें, अपने २ वास

ग्रामके पूर्व, या उत्तर भागमें, जाकर, कमसे कम नाभि-प्रमाण-जलवाले जलाशयमें गोता मारकर उपस्पर्श पूर्वक छन्दोंके नामका उल्लेख करते हुए और मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का नाम लेकर एवं अपनी २ शाखा प्रवर्त्तकादि आचार्यों का नाम लेते हुये जलाञ्जलि देकर तर्पण करे ॥ १६ ॥

तस्मिन्प्रत्युपाकरणऽभ्रानाध्यायआपुनरुपाकरणाच्छन्दसः१७

'तस्मिन्' उक्तलक्षणे प्रात्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्याये कर्मणि सम्पन्ने ततः प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात् भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्दसः सामवेदीय छन्दो ग्रन्थमात्रस्य 'अभ्रानध्यायः अभ्रनिमित्तकोवक्ष्यमाणलक्षणोऽनध्यायोभवति, अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं विचारादिकञ्च वर्जनीयम् ॥ १७ ॥ उक्ताभ्रानध्यायमेव स्फुटयतिः—

भाषा—यों 'प्रत्युपाकरण कर्म, सम्पन्न होने तक पुनः उपाकरण न होने तक, इन कई एक महीने नया पाठ तो होगा नहीं अधिकन्तु मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा,इस अनध्यायमें पुरातन पाठका अभ्यास या विचारादि भी त्याज्य है। किन्तु "आभ्रानध्याय" छन्दोग्रन्थ मात्रके लिये है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्तनयित्नुपृषितेष्वाकालम् ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्यज्योतिः, स्तनयित्नुर्मेघमाला, पृषितावृष्टिविन्दवः, एतत्त्रितयमेकदैव दृश्येत चेत् तदा आ कालम् यत्कालिकी घटना, तत्परदिवसीयतावत्कालं यावत् अनध्यायच्छन्दोऽध्ययनस्येति । अयमेवाभ्रानध्याय उच्यते । १८

भाषा—विजुली, मेघमाला, और वृष्टि देखने पर आ-काल अभ्रानध्याय होगा । अर्थात् अभ्रनिमित्तक (मेघके कारण०) उपद्रव जिस समय उपस्थित हो, उसके पर दिन उसी समय तक छन्दो ग्रन्थकी चर्चा भी न करे ॥१८॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु निर्घाते च ॥२०॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गे ग्रहणादौ च आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम् । 'च' अपि 'निर्घाते' मेघोदये विमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ.कालमेवानध्यायः२०अथ सार्वकालिकसाधारणानध्यायानाह;—

भाषा—उल्कापात,भूकम्प, सूर्य, चन्द्रग्रहणके पर दिवसीय उसी समय तक अनध्याय होगा यह अनध्याय सबही ग्रन्थोंका जानो । वज्र गिरने पर भी उसके पर दिनके उसी समय तक ग्रन्थोंके अनध्याय होगा ॥२०॥

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् ॥२१॥ पौर्णमासीषु च ॥२२॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वास्वेव वेदं वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानाध्यायः । २१ 'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥२२॥

भाषा—प्रति अमावास्या, प्रत्येक अष्टमीको सब प्रकार अनध्याय होगा । २१ प्रति पूर्णिमामें इसीप्रकार जबतक तिथि रहे अनध्याय होगा ॥ २२ ॥

तिसृषुकार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामाषाढ्यांश्चाहोरात्रम् ।२३

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आषाढ्याम्'—इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्दिनं तद्रात्रिश्च नाधीयीरन्नित्येव । २३ अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते;—

भाषा—विशेषतः कार्त्तिकी, फाल्गुणी और आषाढ़ी पूर्णिमा को एक दिन एवं एक रात्रि सब प्रकार अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

सब्रह्मचारिणि च प्रेते ॥२४॥ स्वे च भूमिपतौ ॥२५॥

'सब्रह्मचारिणि' सतीर्थे 'प्रेते' 'च' मृते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥२४॥ 'च' अपि 'स्वे' भूमिपतौ भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २५ ॥

भाषा—एक गुरुके शिष्य के मृत्यु होने पर भी एक दिन रात सब प्रकार अनध्याय होगा ॥२४॥ और भूस्वामी के मरने पर भी अनध्याय रहेगा ॥२५॥

त्रिरात्रमाचार्ये ।२६। उपसन्ने त्वहोरात्रम् ।२७। गीतवादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् ।२८। शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र ।२९।

'आचार्ये' स्वे एव प्रेते 'त्रिरात्रम्' नाधीयीरन् ।२६। 'उपसन्ने' शिष्ये प्रेते 'तु' 'अहोरात्रम्' एव नाधीयीरन् ।२७। गीतं, वादित्रं, रुदितं, अतिवातो झञ्झा, एषु सत्सु 'तत्कालम्' यावत् स्यात् तावदेव नाधीयीरन् ।२८। 'अतः' उक्तेभ्य एभ्यः हेतुभ्यः 'अन्यत्र' 'शिष्टाचारः' अपरेकोऽनध्यायहेतु; तथाहि शिष्टेऽपि कस्मिंश्चित् समागते नाधीयीरन् ।२९। गतमिदं वेदाध्ययनप्रकरणम् । अथाद्भुतप्रकरणम्;

भाषा-आचार्य के मृत्यु होने पर, तीन रात तक सबप्रकार अध्ययन, न करे और र अन्य आचार्य सेपढ़े ॥ २६॥ शिष्य के मरने पर एक दिन और एक रात अनध्याय होगा । उस दिन रात में उस मठ में किसी का पाठ न होगा ॥ २७ ॥ गीत, वाद्य, रोना, आन्धी उपस्थित होने पर जब तक उपद्रव शान्त न हो, सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त' विशेष प्रतिबन्धक होने पर और भी अनध्याय होंगे जैसे शिष्ट व्यक्ति मठ में आवें, तो उनके आदरार्थ अनध्याय होगा ॥ २६ ॥

अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् ॥३०॥ वंशमध्यमयोर्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥

'अद्भुते' कस्मंश्चिदपि उपस्थिते 'कुलपत्योः' यस्मिन् कुले समुपस्थित मद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यम् भवेत् । ३० कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमित्याह ;--वंशः स्थूणोपरिस्थः, मध्यमाश्च स्तम्भाः, एतयोः 'भिन्ने' 'भिन्नयोः अनिमित्ततएव विदीर्णयोः सतोः 'वा' अथवा 'मणिके' जलाधारबृहद्भाण्डे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतदद्भुत दोषप्रशमनाय 'व्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रैः 'जुहुयात्' आज्यहवनं कुर्यात् ॥ ३१ ॥

भाषा—कोई अद्भुत् बात हो पड़े तो गृहस्वामी और उस की स्त्री प्रायश्चित्त करे ॥ ३० ॥ क्यार होने पर सो कहते हैं कि—जिस वांस के ऊपर सम्पूर्ण घर का ठाठ हो वह, या घर के खम्भे सब हठात् फट जावें, या जल का घड़ा, वा मांट फूट जावे, तो व्याहृति मन्त्रों से आज्याहुति देवे ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत् ३२ अथापरम् ३३

'दुःस्वप्नेषु 'अद्यनोदेवसवितः (छ० आ० २, १, ५, (७)-'इति' एताम् 'ऋचं' 'जपेत्' । एतज्जपादेव एतदद्भुतदोषप्रशमनं भवेन्नाम । गतमिदमद्भुतप्रकरणम् । ३२ । 'अथ' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्ति कमस्ति तद्व वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भाषा—बुरा स्वप्न देखने पर 'अद्यनोदेवसवितः' (छ० आ० २,१, ५, ७) मन्त्र पढ़े ३२ और भी कुछ घटानाके अनुसार कर्त्तव्य कहा जाता है ३३

चित्ययूपोस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्य्याभ्युदितः सूर्य्याभिनिम्लुस इन्द्रियैश्च पापस्पर्शे पुनर्म्मामैत्विन्द्रियमित्थे ताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

किन्तदित्याह;—'चित्ययूपः' बौद्धयूपः तस्य उपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्ष्णोः वेपनं कम्पनम् ; एषु निमित्तेषु;—किञ्च सुप्ते एव सूर्योऽभ्युदितः अपिवा सुप्ते एव सूर्योऽस्तं गतश्चेत्;—इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परवधूरोजादीनां स्पर्शे "पुनर्मां मैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः। पुनर्द्रविणं मैतु मा पुनर्ब्राह्मणं मैतु मा ॥ ३३ ॥ पुनर्मनः पुनरात्मा म आगात् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगात्। वैश्वानरो अदब्ध स्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा)' ॥ ३४ ॥ (म० ब्रा—१, ६, ३३-३४)—'इति' एताभ्याम् ऋग्भ्याम्' आज्याहुती' आज्यास्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

भाषा—दैवात् बौद्धरूप प्रकट होने, कान में किसी प्रकार के शब्द होने, आंखके स्फुरन होने, एवं सूर्योदय के पीछे जागने, या सूर्यास्त समय नींद आने, और भी हाथ आदि इन्द्रियों के द्वारा पराई स्त्री के स्तन आदि स्पर्श करने पर, "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इत्यादि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति देवे ॥३४॥

आज्यलिप्ते वा समिधौ। ३५। जपेद्वा लघुषु ॥३६-३॥

'वा' अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते 'आज्यलिप्ते' समिधौ' समित्काष्ठद्वयमात्रं जुहुयात्। तथैव तत्पापप्रशमनं भवेन्नाम। ३५ 'वा' अथवा 'लघुषु' ततोऽप्यल्पनिमित्तेषु उक्तमृग्द्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेति शम् ॥ ३६ ॥

इतिगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेतृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥३,३॥

भाषा—यदि अतिरिक्त पाप स्पष्ट न हो जावे तो घी से लपेटी लकड़ी (दो) अग्नि में हवन करे ॥ ३५ ॥ बहुत छोटा दोष होने पर उक्त दोनों मन्त्र मन ही मन जप करे, परन्तु आहुति प्रदान न करे ॥ ३६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयअध्यायकेतृतीयखण्डका अनुवादपूराहुआ ॥३,३॥

—❀—

अथ स्नातकप्रकरणम् । कृतब्रह्मचर्यो गार्हस्थ्यानुप्रवेशायाचार्यानुमतः विधिविशेषेण स्नातः सन् पितृकुलं प्रतिगच्छति। एतदेव स्नातकव्रतमुच्यते । तदेवास्मिन् खण्डे यथाक्रमं विधत्ते,—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातो दारान् कुर्वीतासगोत्रान् ॥ १, २, ३, ४ ॥

'ब्रह्मचारी' आद्याश्रमीद्विजः 'वेदम्' वेदैकम् आद्यन्तम्। 'अधीत्य' गुरुमुखादनुश्रुत्य यथाशक्ति बुद्ध्वाच (१) 'उपनीं' उपनीः उपनयनं तद्दक्षिणाप्युपचारादुपनीरित्युच्यते; ततो द्वितीयैकस्य सुपांसुरिति लुकि उपनीति; उपनयनदक्षिणामिति यावत् 'गुरवे' तस्मै वेदाध्यापकायाचार्याय 'आहृत्य' निवेद्य (२) ततस्तेनैव गुरुणा 'अनुज्ञातः' द्वितीयाश्रमग्रहणे लब्धानुज्ञः सन् 'दारान्' पत्नीं 'कुर्वीत' (३)। दारांश्च कीदृशान् कर्त्तव्यानित्याह;—'असगोत्रान्' समानगोत्रातिरिक्तान् स्वगोत्रजभिन्नानिति यावत् (४) ॥ ४ ॥

भापा—ब्रह्मचारी एक वेद को आद्योपान्त अध्ययन कर, गुरु को उपनयन की दक्षिणा दे, और उनकी आज्ञानुसार अपना विवाह स्थिर करे, जिस कन्यासे विवाह करे उसका और अपना एकही गोत्र न हो ॥ १, २, ३, ४ ॥

मातुरसपिण्डा ।५। अनग्निका तु श्रेष्ठा ।६। अथाप्लवनम् ।७

तत्र दारकर्म्मणि 'मातुः असपिण्डा' मातृसमानपिण्डा कन्या न ग्राह्या ॥५॥ तत्र च 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना उलङ्गापि विचरितुं शक्नुयात्, सा नग्निका, तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्तयौवना, सैव 'श्रेष्ठा' प्रशस्ता; कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्व मुपयुज्यते, तदैव च 'सोमो ददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते नान्यथेत्येव दारकर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएवाह मनुरपि 'देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः (९, ९५)'—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् अलब्धयौवनापि नोद्वाह्येति फलितम् (६)। ६ 'अथ' दारकरणे गुर्वनुमतिप्राप्त्यनन्तरम् 'आप्लवनम्' ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तिसूचकं विधिविशेष विहितं स्नानम् उपदेक्ष्याम इति शेषः॥७॥

भापा—और वह कन्या ब्रह्मचारी की माता के पिता के सात पीढ़ी में

न हो ॥ ५ ॥ जिस कन्या का मासिक धर्म प्रकाश हो चुका हो, ऐसी प्राप्त 'यौवना' को 'अनग्निका' कहते हैं। अग्निका ही विवाहने योग्य होती है। विवाह के निमित्त गुरु की आज्ञा पाकर व्रत समाप्ति सूचक स्नान करे ॥७॥

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्य्यकुलस्य परिवृतम्भवति ॥८॥

'आचार्यकुलस्य' आचार्यकुलसम्बन्धिन्येव स्थाने 'उत्तरत- पुरस्तात् वा' उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि 'परिवृतं' सर्वतः आवृतं स्नानागारं 'भवति' भवेत् ॥८॥

भाषा-आचार्य परिवार सम्बन्धी स्थान की उत्तर, या पूर्व दिशा में अच्छे प्रकार आच्छादित एक स्नान घर बनावे ॥ ८ ॥

तत्र प्रागग्रेषु दर्भेषूदङ्ङाचार्य उपविशति । प्राग् ब्रह्मचार्य्युदगग्रेषुदर्भेषु ॥ ९ ॥ १० ॥

'तत्र' स्नानागारे 'आचार्य' 'प्रागग्रेषु दर्भेषु' 'उदङ्मुखः सन् 'उपविशति' उपविशेत् । 'ब्रह्मचारी' 'उदगग्रेषु दर्भेषु' 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् उपविशेदित्येव ॥९-१०॥

भाषा-'स्नानागार' में पश्चिम की ओर जड़ और पूर्व की ओर शिर इस प्रकार डाले हुये कुशाओं पर आचार्य उत्तराभिमुख होकर बैठे एवं 'उत्तराग्र रक्खे हुये कुशाओं पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ९ ॥ १० ॥

सर्वौषधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिराचार्य्योऽभिषिञ्चेत् ॥ ११ ॥

कुत्सितद्रव्याण्युष्णजले निक्षिप्य वस्त्रादिना पूतीकृतं तज्जलं फाण्टमुच्यते । सर्वौषधिविफाण्टाभिः' सर्वौषधिद्रव्यैस्तथाविधकृताभिः 'गन्धवतीभिः' सुगन्धद्रव्यमिश्रिताभिः 'शीतोष्णाभिः' शीतलजलमिश्रिताभिः कदुष्णाभिर्वा 'अद्भिः' 'आचार्यः' 'अभिषिञ्चेत्' ब्रह्मचारिणं प्रथममिति ॥ ११ ॥

भाषा-सुगन्ध, कच्चा पक्का मिला * सर्वौषधि-फाण्ट जल से आचार्य प्रथम ब्रह्मचारी को अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

* सब द्रव्यों को कूट कर गरम जल में छोड़ कपड़े से ढांक देवे ऐसे जल को 'फाण्ट' कहते हैं। कूठ, जटामान्सी, हरिद्रा, वच, शिलाजित, चन्दन, मुरामान्सी, लालचन्दन, कपूर, भद्रमोथ इन का नाम सर्वौषधि है।

स्वयमिव तु ॥ १२ ॥ मन्त्रवर्णो भवति ॥ १३ ॥

'तु' अप्यर्थः। अनन्तरम्, 'इव' तद्वत् आचार्याभिषिञ्चनप्रकारेण 'स्वयम्' अपि ब्रह्मचारी आत्मानम् अभिषिञ्चेदित्येव ॥ १२ ॥ अत्र स्वयमभिसिञ्चनकाले 'मन्त्रवर्णः' मन्त्रोच्चारणं कर्त्तव्यं 'भवति' भवेत् ॥ १३ ॥ स्वयमभिषिञ्चनकाले आदौ तावत् पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाञ्जल्युदकानां व्यवहारस्ततोऽवशिष्टानामेकदैव तूष्णीम्। तत्र चाद्यमन्त्रद्वयाभ्यामुदकाञ्जलिद्वयं भूमौ क्षिप्त्वा तृतीयादिभिरुदकाञ्जलिभिः शिरःप्रभृत्यङ्गानां सिञ्चनमभिमतम्। तदेव यथाक्रमं विधत्ते;—

भाषा—तब ब्रह्मचारी स्वयं मंत्र से आपे को अभिषिञ्चित करे ॥१२।१३॥ [स्वयं अभिषिञ्चित होते समय पहिले पांच मन्त्रोंसे जलांजलिसे जल व्यवहार कर अन्तमें बाकी जल एकही वारमें मस्तक पर ढार लेवे। उनमें प्रथम दो मन्त्रोंसे लिया शेष अञ्जलि जल भूमि पर डारकर तृतीय आदि तीनों मन्त्रोंसे मस्तक आदि सब शरीर सिंचन करे।

ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति।१४।

"ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्योमरूको मनोहाः। खलो विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अतितान्त्सृजामि" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अपामञ्जलिम्' 'अवसिञ्चति' त्यजति भूमाविति ॥ १४ ॥

भाषा—"ये इत्यादि" मन्त्र से एक अञ्जुलि जल पृथ्वी पर गिरावे।१४।

यदपां घोरं यदपाङ् क्रूरं यदपामशान्तमिति च ।।१५।।

ततः, "यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमति तत्सृजामि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ७, २)—'इति' अनेन 'च' अपि अवसिञ्चत्येव ॥ १५ ॥

भाषा—पश्चात् 'यदपां घोर' से एक अञ्जलि जल भूमि पर डाले॥१५॥

यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति॥१६॥

'ततः' "यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि" ॥३॥ (म०ब्रा०१,७,३)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'आत्मानं' शिरःप्रभृतिकम् 'अभिषिञ्चति' स एव ब्रह्मचारी १६

भाषा—"यो इत्यादि" मन्त्रसे एक अञ्जलि जल से मस्तकादिसिञ्चित करे॥

यशसेतेजसइतिचायेनस्त्रियमकृणुतमितिचातूष्णीञ्चतुर्थम् १९

ततः "यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय बलायेन्द्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पोषाय अपचित्यै" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ४)-'इति' अनेन 'च' अपि आत्मानमभिषिञ्चेत् । १७ ततः येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृषत ँ सुराम् । येनाक्षानभ्यषिञ्चतं येनेमां पृथिवीं महीम् । यद्वान्तरश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम्" ॥५॥ (म० ब्रा० १, ७, ५)—'इति' अनेन 'च' आत्मानमभिषिञ्चेत् ॥ १८ ॥ ततोऽवशिष्टान्युदकान्येकदैवगृहीत्वा 'तूष्णीं' मन्त्रशून्यम् आत्मानमभिषिञ्चेत् । तदिदं चतुर्थम् १९

भाषा—तब "यश से तेज से" मन्त्र से एक अञ्जलि जल से मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ अन्त में "येन स्त्रिय" से तृतीय जलाञ्जलि से पुनः मस्तकादि सिञ्चित करे ॥ शेष जल को विना मन्त्र माथे पर ढार देवे ॥ १७-१९ ॥

उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेतोद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्रभृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

'ततश्चोपोत्थाय' स्नानासनादुत्थानं प्रकृत्य "उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थात् । दशसनिरसि दशसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ६ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सान्तपनेभिरस्थात् । शतसनिरसि शतसनिं कुर्वा त्वा विशाम्या माविश ॥ ७ ॥ उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् । सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं माकुर्वा त्वा विशाम्या माविश" । ८ (म० ब्रा० १, ७, ६ वा ७ वा ८) 'इत्येतत् प्रभृतिना' एवम्प्रकारेण षष्ठाद्यन्यतमेन 'मन्त्रेण' 'आदित्यं सूर्यम् 'उपतिष्ठेत' आराधयेत् ।२०

भाषा–और नहाने की जगह पर खड़े होकर "उद्यन् भ्राज भृष्टिभिः" (६, ७, ८,) तीन मन्त्रों में से किसी एक से सूर्य की आराधना करे ॥२०॥

यथालिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

'वा' अयं शब्दोऽत्र व्यवस्थायाम् । 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गानुसारतएव व्यवस्थां 'विहरन्' व्यवहरन् मन्त्रेण आदित्यमुपतिष्ठेतेत्येव । तथा च षष्ठे मन्त्र "प्रातर्यावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् प्रातस्तस्यैव प्रयोगः, सप्तमे पुनः सान्तपनेभिरिति

मन्त्रलिङ्गदर्शनात् मध्याह्ने तस्यैव प्रयोगः, अष्टमे तु सायंयावभिरिति मन्त्रलिङ्ग-दर्शनात् तस्यैव सायं प्रयोगः इति व्यवस्था" ॥ २१ ॥

भाषा—पूर्वोक्त ३ मन्त्रों में से जिसमें 'प्रातः' शब्द पठित है उसको प्रातःकालके उपस्थान में, जिसमें मध्यान्ह 'सान्तपन' शब्द है उसको मध्यान्ह उपस्थान में और 'सायं' जिसमें पढ़ा है उसको सायंकाल उपस्थानमें पढ़े।२१

चक्षुरसीत्यनुबध्नीयात् ॥ २२ ॥

"चक्षुरसि चक्षुष्ट्व मस्यवमे पाप्मानं जहि। सोमस्त्वा राजावतु नमस्तेऽस्तु मामा हिꣳसीः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ९)—'इति' इमं मन्त्रम् 'अनु' पश्चात् कालत्रये एव मन्त्रत्रयस्य 'बध्नीयात्' बन्धनं कुर्यात्। उद्यन् भ्राजभृष्टिभि-रित्येतदनरं सर्वत्रैव पाठ्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥

भाषा-'चक्षुरसि' मन्त्र को प्रातःकालादि समय पढ़ने योग्य (उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः आदि) मन्त्रोंके बाद इन मन्त्रोंके साथ-यह मन्त्र सदैव पढ़े २२

मेखलामवमुञ्चत उदुत्तमं वरुणपाशमिति ॥ २३ ॥

तदनन्तरञ्च ब्रह्मचर्यकाले गृहीतां 'मेखलां' 'अवमुञ्चते' अधस्तान्मोचनं कुर्वीत। तत्र मन्त्रः"उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमꣳश्रथाय। अथादित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम" ॥ १० (म०ब्रा०१,७,१०)-'इति'अयं बोध्यः२३

भाषा—पश्चात् "उदुत्तमं वरुण पाशम्" मन्त्र पढ़ कर, ब्रह्मचर्य ग्रहण समय की पहनी हुई मेखला को नीचे छोड़ देवे ॥ २३ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयम्भुक्त्वा केशश्मश्रुरोम-नखानि वापयीत शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

एवं स्नानं समाप्य मेखलात्यागानन्तरं स्नातकव्रतं समाप्तं मन्यमान आश्रमसन्धौ स्थितः सः 'ब्राह्मणान्' कतिपयान् 'भोजयित्वा' ततः'स्वयं भुक्त्वा च 'शिखावर्जं' शिखाव्यतिरिक्तं 'केशश्मश्रुरोम' सर्वं 'नखानि' च 'वापयीत' नापितेनेति ॥२४॥

भाषा-यों स्नान कर मेखला त्यागने और स्नातक व्रत की समाप्त बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश समय ब्रह्मचारी कई ब्राह्मणों को भोजन करावे एवं

पीछे आप भी भोजन करे। और २ नापित से मूंछ, रोम, नख आदि बनवावे ॥२४॥

स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्रजमाबध्नीत श्रीरसि मयि रमस्वेति ॥ २५ ॥

पूर्वोक्तवापनानन्तरं पुनः स्नायात्, स्नात्वा', 'अलङ्कृत्य' स्वदेहम्, 'अहते' अखण्डे 'वाससी' उपसंव्यानोत्तरीये 'परिधाय' "श्रीरसि मयि रमस्व" ॥११॥ (म० ब्रा० १,७,११-('इति' अनेन मन्त्रेण 'स्रजम्' 'आबध्नीत' स्वमूर्ध्नीतिशेषः ।२५।

भाषा—उक्त प्रकार और कर्म कराने पश्चात् भूषणादि पहन, अखण्ड दोनों वस्त्र नीचे ऊपर (धोती अङ्गोच्छा) पहन कर "श्रीरसि मयि रमस्व" इस मन्त्रका पाठ करता हुआ अपने मस्तक में माला * पहने ॥ २५ ॥

नेत्र्यौ स्थो नयतम्मामित्युपानहौ ॥ २६ ॥

"नेत्र्यौ स्थो नयतं माम्" ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ७, १२),-'इति' मन्त्रेण 'उपानहौ' चर्मपादुके परिधायेत्येव ॥ २६ ॥

भाषा—पीछे 'नेत्र्योस्थ' मन्त्र पढ़कर जूता पहने ॥ २६ ॥

गन्धर्वोऽसीति वैणवन्दण्डङ्गृह्णाति ॥ २७ ॥

'गन्धर्वोऽस्युपाव उपमामव' ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १३)—'इति' मन्त्रेण 'वैणवं' वेणुवंशभवं 'दण्डं' 'गृह्णाति' ॥ २७ ॥

भाषा—और 'गन्धर्वोऽसि' मन्त्रसे यथा नियम वांस की वनी यष्टि ग्रहण करे ॥ २७ ॥

आचार्य्यं सपरिषत्कमभ्येत्याचार्य्यपरिषदमीक्षते यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति ॥ २८ ॥

---

* शरीर के किस २ अङ्ग में माला पहनने से माला की विशेष सँज्ञा क्या २ होती है सो कहते हैं—जो मस्तक में धारण कियी जावे उसे 'स्रक्' एवं उसी को माला भी कहते हैं। केश के भीतर पहनने से 'गर्भक' नाम होता है, शिखा में लटकने से 'प्रभ्रष्टक' कहते हैं, सम्मुख भाग में ललाट पर जो भूलती हो उसे 'ललामक' कहते हैं। जो कण्ठ में पहिनी जावे उसे 'प्रालम्ब' इतेयकही 'उपवीत, वा प्राचीनीवीति की नाईं काँख तक लटकती हो उसे 'वैकचिक' कहते हैं॥

'सपरिषत्कं' शिष्यादिमण्डलिविराजितम् 'आचार्यम्' 'अभ्येत्य' "यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्" ॥१४॥ (म० ब्रा० १, ७, १४) 'इति' मन्त्रमुच्चरन् 'आचार्यपरिषदं' तम् 'ईक्षेत' पश्येत ॥ २८ ॥ अथ यात्राप्रकारः।

भाषा—तब शिष्यों से घिरे हुए आचार्य्य के पास बैठकर "यक्षमिव भूयासं" मन्त्रसे शिष्य युक्त आचार्य का दर्शन करे ॥ २८ ॥

उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् सम्मृशन्नोष्ठापिधाना नकुलीति ॥ २९ ॥ अत्रैनमाचार्य्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

'उपोपविश्य' अर्द्धोपवेशनं प्रकृत्य 'मुख्यान्' मुखागतान् 'प्राणान्' वायून् 'सम्मृशन्, पवित्रीकुर्वन्, "ओष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमितः पविः। जिह्वे मा विह्वलो वाचं चारुमाद्येह वादय" ॥ (म०ब्रा०१,७,१५) 'इति' मन्त्रं पठेदिति ॥'अत्र' अस्मिन्नेव समये 'आचार्यः' 'एनं' स्नातकम् 'अर्हयेत्' आशिषेति भावः।२९-३०।

भाषा—अर्द्धोपवेशन कर अपने मुखमें आये हुए श्वास वायुका अनुभव करते हुए "ओष्ठापिधाना नकुली" मन्त्रको पढ़े ॥ २९ ॥ इस समय आचार्य उस ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर प्रसन्न करे ॥ ३० ॥

गोयुक्तᳪरथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूबरबाहू वाऽभिमृशेद्वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया इति ॥ ३१ ॥

ततश्च 'गोयुक्तं' गोभ्यां युक्तं रथं' यानम् 'उपसङ्क्रम्य'-तत्समीपगमनेन प्राप्य, तस्यैव रथस्य 'पक्षसी' चक्रौ 'वा' अथवा 'कूबरबाहू' युगन्धरपार्श्वे। "वनस्पते वीड्वङ्गोहि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धोअसि वीडयस्व आस्थाता ते जयतु जेत्वानि" ॥ (म०ब्रा०१,७,६) 'इति' मन्त्रेण'अभिमृशेत्' स्पृशेत्॥

भाषा—इस प्रकार यात्राके लिये जिस रथमें सवार होना हो, उसके चक्र या जूआ छूकर 'वनस्पते वीड्वङ्गोहि' मन्त्रको पढ़े ॥ ३१ ॥

आस्थाता ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

तथा स्पर्शनम् कृत्वा "आस्थाता ते जयतु जेत्वानि" (म० ब्रा० १,७,१७) इति' मन्त्रं पठन् तदुपरि 'आ' आभिमुख्येन 'तिष्ठति' आरोहतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भाषा—उसके बाद "आस्थाता ते" मन्त्र पढ़कर, रथके ऊपर चढ़े ॥३२॥

प्राङ्वोदङ् वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्योपयाति ॥ ३३ ॥

'प्राङ्' पूर्वाभिमुखस्तत्रोपविष्टः 'वा' अथवा 'उदङ्' उत्तराभिमुखएवोपविष्टः 'अभिप्रयाय' सर्वतश्चालयित्वा तद्रथमिति शेषः। प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'आवृत्य' आवर्त्तनेन गत्वा स्ववासमिति ॥३३॥

भाषा—इस रथपर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे अपनी वास भूमिको दक्षिण में रखकर आवर्त्तन करते हुए वहां बैठे ॥ ३३ ॥

उपयातायार्घ्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

'उपयाताय' स्वावासप्राप्ताय तस्मै स्नातकाय 'अर्घ्यम्' देयं पुरजनैरात्मजनैर्वा 'इति' एवं 'कौहलीयाः' आहुः। तत्राप्यस्माक नासम्मति रिति भावः॥ ३४ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३,४ ॥

भाषा—बहुत दिन तक गुरु गृहमें वास पूर्वक कृत ब्रह्मचर्य्य, अधीतवेद, स्नातक को घर में आनेपर परिवार के लोग आदर के साथ ग्रहण करें ॥३४॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीय अध्यायके चतुर्थखण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥३,४॥

अत ऊर्द्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥ १ ॥

'अतः' ब्रह्मचर्यात् 'ऊर्द्ध्वं' परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीलीस्यात्' वृद्धानां मात्रादीनां शुश्रूषापर आज्ञानुवर्त्ती च भवेत्। अथवा वृद्धः पक्वबुद्धिः तत्स्वभावको भवेत्। 'इति' एतन्मात्रेणैव 'समस्तोद्देशः' समग्राणामेव धर्माणाम् उपदेशः सिद्धो भवेदिति ॥१॥

भाषा—ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विवाह के पहिले आश्रम सन्धि समय तक गृहधर्म्म करना चाहिये। उससे पिता माता प्रभृति वृद्ध जनोंकी सेवामें परायण एवं सुपक्व बुद्धि होवे। यह सब उपदेशों का मूल है ॥ १ ॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्चक्षते ॥ २ ॥

'तत्र' ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, 'आचार्याः' गोभिलादयः

'एतानि' बुद्धिस्थानि अनुपदं वक्ष्यमाणानि 'परिसञ्चक्षते' परिसंख्यानानि कुर्वन्ति। परिसंख्यानञ्च निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य विशेषत्वम्।२। भाषा-ब्रह्मचर्य से आये व्यक्तियों के लिये आचार्यों के उपदेश हैं-जैसे-॥२॥

नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् नायुग्वा न रजस्वलया न समानर्ष्या ॥ ३-६ ॥

'आजातलोम्न्या' रसानभिज्ञया बालिकया 'उपहासम्' अपि 'न' 'इच्छेत्' अपि॥ 'अयुग्वा' अयोग्यया अपि 'न' तथा॥ 'रजस्वलया' अपि 'न' तथा॥ 'समानर्ष्या' समानः योग्यः ऋषिः पतिः यस्या अस्ति, तया सधवया अपि 'न' तथा ॥३-६॥

भाषा—अन्तर्लोमवाली कन्या तथा रससे अनभिज्ञा बालिका से उपहास न करे ॥ यों आयु रूप गुण प्रभृतिमें सर्वथा अयोग्या नारीके साथ भी उपहास न करे ॥ रजस्वला पत्नीसे अलग रहे ॥ परस्त्रीके साथ मजाक न करे।६।

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत ॥ न द्विःपक्वम् ॥ न पर्युषितम् ॥ अन्यत्र शाकमांसयवपिष्टविकारेभ्यः ।७-१०।

'अपरया' गुप्तया 'द्वारा' 'प्रपन्नम्' प्राप्तम् 'अन्नम्' 'न भुञ्जीत' ॥७॥ 'द्विःपक्वम्' पक्वं पुनःपक्वम् अन्नं 'न' भुञ्जीतेत्येव।८। 'पर्युषितम्' अन्नम् 'न' भुञ्जीत।९। तत्रास्ति विशेषः—शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेयः तथा च शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युषितत्वं न दोषायेति ॥१०॥

भाषा—अन्य किसी गुप्त रीतिसे प्राप्त अन्न भोजन न करे ॥७॥ दोबारका पका अन्न भोजन न करे ॥ ८ ॥ बासी भात भी न खावे ॥ ९ ॥ कन्द, मूल फलादि से तैयार किया हुआ मांसकी नाईं यव आदि अन्नसे समुत्पन्न जलेबी आदि या अन्य किसी प्रकारका खाद्य मिष्टान्नादि बासी खावे ॥१०॥

नवर्षति धावेत् नोपानहौ स्वयं हरेत् नोदपानमवेक्षेत ।११-१३।

'वर्षति' पर्जन्ये 'न' धावेत् ॥ 'उपानहौ' स्वस्यापि 'स्वयं' 'न आहरेत्' हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा ॥ 'उदपानम्' कूपं 'न' 'अवेक्षेत' तथावेक्षणे तत्र पतनसम्भवात्१३

भाषा—पानी बरसते समय या बरसने पर कीचड़ भरे मार्गमें दौड़ कर

न चले ॥ ११ ॥ अपना जूता स्वय हाथमें लेकर न चले और न स्वयं अपना जूता बनावे ॥ १२ ॥ वहुत गहरे कूप आदि में एक टक से न देखे ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत ॥ नागन्धाᳬस्रजं धारयेत् ॥ अन्याᳬहिरण्यस्रजः ॥ नामालोक्ताम् ॥१४-१७॥

'फलानि' आम्रपनसादीनि 'स्वयं' 'न प्रचिन्वीत' वृक्षशाखादिभ्य इति यावत् ॥१४॥ 'अगन्धां' गन्धशून्यां 'स्रजं' मालां 'न धारयेत्' मस्तके इति यावत् ॥१५॥ तत्राप्ययं विशेषः-'हिरण्यस्रजः' सुवर्णमालातः अन्यां' न धारयेत् स्वर्णमालाभरणन्तु धारयेदित्येव ॥ १६ ॥ गृहस्थाश्रमतः प्राक् आमालोक्तां माला व्यतिरिक्तां प्रालम्बादिकां 'न' धारयेत् ॥१७॥

भाषा--आम आदि कोई फल स्वयं पेड़ोंसे तोड़कर न जमा करे ॥१४॥ माथेपर विना गन्धकी माला न धारण करे ॥ १५ ॥ किन्तु सोने की माला धारण करे ॥१६॥ माला शब्दसे जिस मालेका व्यवहार हो, उसीको धारण करे, गृहाश्रमके पहिले आश्रम सन्धिमें प्रालम्ब आदि का व्यवहार न करे १७

स्रगिति वाचयेत् ॥ भद्र मित्येतां वृथावाचंपरिहरेत् ॥ भद्र मिति ब्रूयात् ॥ तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति १८-२१

स्रग्लक्षणं शिरोवेष्टमिकां मालां तु धारयेदेव । १८ 'भद्रम्'—'इति' वृथा वाचं' अभद्रेऽपि भद्रोक्ति 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत । १९ 'भद्रम्'-इति' 'ब्रूयात्' सत्य मेव तद्ध भद्रं चेत् । २० अथ स्नातक विभागान् दर्शयति,-'तत्र' समावर्त्तितेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यव्रतान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥ तत्त्रिविधत्वमेवे स्फुटयति—

भाषा—जिस का नाम स्रक् है, उसी को धारण करे ॥ १८ ॥ जो वस्तु अच्छी न हो, उसे अच्छी है ऐसा न कहे ॥ १९ ॥ इस प्रकार, जो वस्तुतः अच्छी हो उसे ही अच्छी कहै ॥२०॥ समावर्त्तित द्विज तीन प्रकार के होते हैं २१

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥२२॥

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समग्रामवाप्यैव

अपूर्णेऽपि काले स्नातः 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपाल्यापि समग्रवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्णे काले स्नातः 'विद्याव्रतस्नातकः' विद्यां समग्रां प्रगृह्य,व्रतं च यथावत् प्रतिपाल्य,यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयःस्नातकाः ॥२२॥

भाषा—प्रथम, विद्यास्नातक अर्थात् जितने नियमों का ब्रह्मचर्य्य में प्रतिपालन करना पड़ताहै, उतने नियमों का पालन न कर सकने पर, एवं जितने काल तक ब्रह्मचर्य्य कर्त्तव्य हैं, उतने काल तक न करके वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचर्य्य समाप्ति सूचक स्नानकारी होता है। द्वितीय, व्रतस्नातक अर्थात् जितने समय तक ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य हो, एवं जिस२ नियम से कर्त्तव्य हो, उस२ प्रकार वेदाध्ययन समाप्त न करके भी 'व्रतस्नातक' होता है। तृतीय-'विद्याव्रतस्नातक' नियमसे यथोक्त काल तक ब्रह्मचर्य करके सम्पूर्ण वेदाध्यायीहोता है

तेषा मुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ॥नार्द्रं परिदधीत॥नैकं परिदधीत। न मनुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत। नादृष्टंदृष्टतोब्रुवीत॥२३-२७।

'तेषां' त्रिविधानां स्नातकानां मध्ये 'उत्तमः' तृतीयः विद्याव्रतस्नातकएव'श्रेष्ठ' 'पूर्वौ' विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावेव 'तुल्यौ' समानमर्य्यादौ ॥ २३ ॥ पुनरपि स्नातकव्रतान्याह,-'आर्द्रं' वासः 'न' 'परिदधीत' ॥ २४ ॥ 'एकं' वासः 'न' 'परिदधीत' एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखण्डं व्यवहरेदेव । २५ मनुष्यस्य स्तुतिं' न प्रयुञ्जीत चाटुवादं परित्यजेदिति । २६ 'अदृष्टं' किमपि कर्म 'दृष्टतः' परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा 'ब्रुवीत' ॥ २७ ॥

भाषा—उक्त ३ स्नातकों में से 'विद्याव्रतस्नातक' ही सब से अच्छा है, अन्य दो समान हैं ॥ २३ ॥ भींगा कपड़ा, ॥ २४ ॥ केवल एक ही वस्त्र, न (भीतर काच्छा, या कौपीन) पहने ॥ २५ ॥ मनुष्य की झूठी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥ जिसे अपनी आंखों न देखे, उसे अपनी आंख देखा न कहे ॥

नाश्रुतꣳश्रुततः ॥ २८ ॥ स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत् ॥ २९ ॥ तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् ॥ ३० ॥

'अश्रुतं' किमपि वाक्यं, श्रुततः' परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् मन्वानो

वा न ब्रुवीत । २८ 'स्वाध्यायविरोधिनः अर्थान्' स्वाध्यायः पञ्चधा उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् छात्रेभ्योदानाच्च तदेषामन्यतमस्यापि विरोधिनो येऽर्था विषयाः तान् 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् । २९ 'तैलपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं पर्णद्रोण्यादिकम् 'इव' आत्मानं' जीवात्मानं 'दिधारयिषेत्' देहे धारयितुमिच्छेत् । तैलपूर्णपात्रहस्तः कश्चिद् यथा पथि अतीव सावधानो गच्छति, अन्यथा वेगगमनेन वक्रगमनेन मनसोऽप्रणिधानेन च पात्रस्थतैलानामुच्छलनं सपात्राणां भूमौ पतनं ततश्च पुनरापादनासम्भवः, भूम्याः कथञ्चिदापादितेष्वपि तेषु मालिन्यादिकं परिमाणाल्पत्वञ्च अनिवार्यं भवेत् । तथैव देहस्थमिमात्मानं मतियत्नेनैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्षणं त्वसम्भवमेव, परिमिच्छेत् तादृशेच्छेया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत् किञ्च यावत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽक्लेशोऽपि स्यात्, अन्यथा यावत् स्थेयं तावत्कालमपि न तिष्ठेत्किञ्चिस्थतोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशीभवेन्नामेति ॥ २८ ॥

भाषा—जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कान से सुना है ऐसा न कहे ॥ २८ ॥ पांच प्रकार के (स्वीकार, विचार, अभ्यास, जप, और छात्रों को देना) स्वाध्यायों में से किसी में बाधा न हो, ऐसा वर्त्ते । अर्थात् ऐसा कार्य न करे जिससे स्वाध्याय को बाधा पहुंचे ॥ २९ ॥ मार्ग में चलता पुरुष जिस प्रकार तेल से भरा, तेल का वर्तन अपने हाथ में रक्खकर, उस के गिरने के डर से बहुत सावधानी से चलता है; नहीं तो असावधानता से शीघ्रता, या टेढी चाल चलने से, तेल पृथिवी पर गिरकर नष्ट हो जावे, यदि भूमि पर से गिरा तेल उठा लेवे, तो भी उसकी मलीनता एवं न्यूनता अनिवार्य है । इसी प्रकार इस शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे, नहीं तो अकाल हीमें, यह शरीर च्युत या दुःखीहो जावेगा । यद्यपि यह, एक शरीर में चिरस्थायी और दुःख रहित नहीं रह सकता, तथापि यत्न करने पर अपेक्षाकृत स्थायी और अपेक्षाकृत सुखी हो सकता है ॥ ३० ॥

नवृक्षमारोहेत् । नप्रतिसायंग्रामान्तरंव्रजेत् । नैकः ॥ ३१-३३ ॥

'वृक्षं' 'न आरोहेत्' । तदारोहणेन ततः पतनमनु मरणमङ्गहानि वा भवे-

ग्राम । ३१ 'प्रतिलायं ग्रामान्तरं' 'न व्रजेत्' । तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं तथा-च ततएव प्राणहानि रपि सम्भवति । ३२ 'एकः' एकाकी एव ग्रामान्तरं 'न' व्रजेद् तथा च ग्रामान्तरगतोविपन्नश्चेत् यः सहायो भवेत् अथवा यथास्थानं संवा-दमपि नयेदेवं कश्चनापरो द्वितीयः सङ्गोऽतोवावश्यकः ॥ ३३ ॥

भाषा—पेड़ पर न चढ़े (क्योंकि इससे गिर कर मर जावे, चोट लगने आदि की शङ्का है) ॥ ३१ ॥ प्रतिदिन सन्ध्या के पीछे दूसरे गांव में भ्रमणार्थ न जावे (इससे गुप्त प्रणय आदि दोष होनेका डरहै) ।३२। अकेला दूसरे गांव में न जावे (एकाकी विपन्न होने पर, सहायकारी, या संवाद दाता का अभाव होताहै । इसलिये ग्रामान्तर जातेसमय एकसाथी सदा सङ्ग रक्खे)३३

न वृषलैः सह। न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत्। न चाननुचरश्चरेत्। एतानि समावृत्तव्रतानि।यानि च शिष्टा विदध्युः।३४-३८

'वृषलैः' दुर्नीतिकैः 'सह' 'न व्रजेत्' । तथाच 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'। ३४ 'कासृत्या' कुपथेन 'ग्रामं न प्रविशेत्' अपितु प्रसिद्धेन पथा दूरतरेणापि प्रवि-शेत् तथाच निर्भयगमनं भवेत् । ३५ 'च' अपि 'अननुचरः' भृत्यशिष्यात्मीया-न्यतमपरिचारकविहीनः 'न चरेत्' प्रवासं न गच्छेत् । अतएवोक्तं 'भृत्याभावे भ-वति मरणम्' । ३६ 'एतानि' उक्तानि समावृत्तव्रतानि' समावृत्तानां स्नातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥ 'च' अपि 'यानि' उक्तान्यानि 'शिष्टाः' गुर्वादयः विदध्युः तानि च कर्त्तव्यान्येवेति ॥ ३८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठके पञ्चमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ३,५

भाषा—दुष्ट लोगों का संसर्ग न करे (संसर्गसे दोष गुण उत्पन्न होते) ॥३४॥ प्रसिद्ध मार्ग रहने पर भी, जल्दी पहुंचने के विचारसे प्रसिद्ध मार्गको छोड़ कुपथसे न जावे ॥३५॥ एवं प्रवास जाते समय नौकर छात्र, या किसी एक अपने अनुचरको अवश्य सङ्गले लेवे ॥३६॥ ये सब कर्म स्नातकके लिये कहेगये हैं ॥३७॥ और भी जो कुछ शिष्टगण स्नातकों के हितार्थ नियम कहें, उन २ का प्रतिपालन अवश्य करे ॥३८॥ गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठक के पञ्चम खण्ड काअनुवाद पूरा हुआ ॥ ३।५ ॥

गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयतेमा मे विश्वतो वीर्य्य इति ॥ १ ॥ प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ॥ २ ॥

"प्रकाल्यमानाः" चरणभूमौ गमनार्थं गृहान्निष्काश्यमाना गाः, "इमा मे विश्वतो वीर्यो भव इन्द्रश्च रक्षतम् । पूषꣳस्त्वं पर्यावर्त्तयानष्टा आयन्तु नो गृहान्" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १, ८, १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' । १—। 'प्रत्यागताः' चरणभूमितो गृहागता स्ता गाः "इमा मधुमती मह्य मनष्टाः पयसा सह । गाव आज्यस्य मातर इहेमाः सन्तु भूयसीः" ॥ २ (म० ब्रा० १, ८, २) 'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

भाषा—चारण भूमि में चराने के लिये गौ आदि को घरसे बाहर ले जाते समय "इमामे विश्वतो वीर्यः" यह मन्त्र पढ़े॥ १ ॥ और जब गौ आदि चरकर घर आवें तो "इमा मधुमती मह्यम्" यह मन्त्र पढ़े ॥ २ ॥

पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहनाज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवाꣳश्लेष्मासीति ॥३॥

'पुष्टिकामः पुरुषः, 'प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेहनात् प्राक्' एव तस्य 'ललाटं' जिह्वया' स्वकीयया 'उल्लिह्य' आस्वाद्य लेहनेन मुखागतं श्लेष्माणं "गवाꣳ श्लेष्मासि गावो मयि श्लिष्यन्तु" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ८, ३)—'इति' इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत्' गलाधः कुर्यात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं कार्य्यम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्नेहः प्रतिपालकस्यावश्यकस्तथासत्येव यथाभिलषितपुष्टिर्भवतीति सूचितम्) ॥ ३ ॥

भाषा—जो लोग, पुष्टि की कामना करें, वे गौ के वत्स, को जन्म के साथ ही, जबतक उसकी अपनी मा उसे चाटे, या न चाटे, पुरुष अपनी जिह्वा से, वत्सका ललाट चाटे (अर्थात् मा के स्नेह से भी पालक का स्नेह कुछ अधिक होना आवश्यक है)। इस प्रकार चाटते समय मुंह में आया हुआ लारको "गवां श्लेष्मासि" मन्त्र मन ही मन पढ़कर निगल जावे ॥३॥

पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपस-

माधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ॥ ४ ॥

'पुष्टिकाम एव' पुरुषः, 'निशायां' रात्रौ 'सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; 'गोष्ठे' तत्रैव गोस्थाने, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वाल्य, तत्र, "संग्रहण संगृहाण ये जाताः पशवो मम । पूषैषाᳫं शर्म्म यच्छतु यथा जीवन्तो अप्ययात्" ॥४॥ (म० ब्रा० १, ८, ४)–'इति' एतेन मन्त्रेण 'विलयनं' अर्द्धमथितं दधि 'जुहुयात्' स्रुवेणेति । (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्यम् । एतेन, गवां प्रसवक्लेशरुज मपनीतं स्यात्) ॥ ४ ॥

भाषा—जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे रात में गौ के बच्चा जनने पर, घर में अच्छे प्रकार आग जला कर "संग्रहण संगृहण" यह मन्त्र पढ़ते हुए "विलयन" (आधा महा हुआ दधि) होम करे ॥ ४ ॥

पुष्टिकामएवसंजातास्वौदुम्बरेणासिना वत्समिथुनयोर्लक्षणं करोति पुᳫंसएवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसिसाहस्रमिति ॥५॥

'पुष्टिकामएव' पुरुषः, 'सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु, 'वत्समिथुनयोः' द्वयोर्द्वयोर्वत्सयोः 'औदुम्बरेण' उदुम्बरकाष्ठीयेन असिना, चिह्नकविशेषेण 'लक्षणं' चिह्नम् उभयोः समरूपमेव 'करोति' कुर्य्यात् । तत्र, 'पुंसः एव' चिह्नम् 'अग्रे' कर्त्तव्यम्, 'अथ' तदनन्तरं च 'स्त्रियाः' । अत्र चिन्हकरणे मन्त्रौ "भुवनमसि साहस्रमिन्द्राय त्वा सृमोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम् ॥५॥ गो पोषणमसि गोपोषस्येशिषे गोपोषाय त्वा । सहस्र पोषणमसि सहस्रपोषस्येशिषे सहस्रपोषाय त्वा" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ८, ५, ६)–'इति इमौ ॥ ५ ॥

भाषा—जो लोग पुष्टि की इच्छा करें, वे गूलर की लकड़ी की बनी लाल तरवार से नवोत्पन्न प्रति बच्चे के दोनों कानों को इस प्रकार चिन्ह कर देवें कि (यदि जोड़ा उत्पन्न हो तो) प्रथम बाछ्छे को, फिर बच्छिया को । दोनों कानमें चिन्ह करते समय, "भुवनमसि साहस्राः" ये मन्त्र पढ़ें ॥५॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत लोहितेन स्वधितिनेति ॥ ६ ॥

'कृत्वा' अङ्कनं, 'च' ततः "लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृतम्' ।

(यावतीनां) भूयसीनां च एषमो लक्षणमकारिषम् । (भूयसीनां) भूयसीनां च उत्तरामुत्तराꣳसमां क्रियासम्" ॥७॥ (म० ब्रा० १, ८, ७)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' ताम् वत्सानिति शेषः । अत्र च मन्त्रे 'लोहितेन-इति पदलिङ्गात् स चौदुंबरोऽसिः लोहितः स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य ज्वलनेन सिन्दूरादिना वा भवितव्यम् । तथा च दाहने सिन्दूरादिरञ्जितेन वा वत्सयुग्माः चिन्हिताः स्युः किञ्चात्रैव 'कर्णयोः'-इति पददर्शनात् तेषां कर्णयोरेव चिन्हानि कर्त्तव्यानीति च गम्यते । (एतेन) चरणभूम्यादौ बहुस्वामिक वत्सानामेकत्र चरणेऽपि विभ्रमः सुपरिहार्यः, किञ्चैकविधचिन्हेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावङ्किताविति एकेऽपहृते तदन्वेषणं सुकरं भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्य्यम् ॥ ६ ॥

भाषा—उक्त प्रकार चिन्ह करने पर, "लोहितेन स्वधितिना" मन्त्र पढ़े (एक २ जोड़ा वत्स का एक २ प्रकार चिन्ह रहने से एक बच्चा भुलाने पर उसके मिलने का सुभीता होगा,) ॥ ६ ॥

तन्त्रींप्रसार्य्यमाणांबद्धवत्साञ्चानुमन्त्रयेतेयंतन्त्रीगवांमातेति

'प्रसार्यमाणां' शुष्कीभवनाय बद्धवत्साञ्च' गो दोहनादौ 'तन्त्रीं वत्सबन्धनरज्जुं "इयं तन्त्री गवां माता सवत्सानां निवेशनी। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराꣳसमाम्" ॥ ८ (म०ब्रा०१,८,८)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' ॥ ७ ॥

भाषा—इयं० मन्त्र पढ़ कर वत्स बान्धने की रस्सी को सुखावे ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति ॥ ८ ॥ निष्कालनप्रवेशने तन्त्रीविहरणमिति ॥६॥ गोयज्ञे पायसश्चरुः ॥१०॥

'तत्र' गोरोपणे 'एतानि' 'अहरहः कृत्यानि' प्रतिदिनं कर्त्तव्यानि 'भवन्ति' भवेयुः । ८ 'निष्कालन प्रवेशने' प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते 'तन्त्रीविहरणं' सप्तमसूत्रोक्तम् अपि 'इति' इमानि त्रीणि । ६ अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञः कार्यः तत्र द्रव्यदेवते विधत्ते; "गोयज्ञेपायसः" पयसा सिद्धः 'चरुः' परस्यः ॥१०॥

भाषा—गौ पोषण करने में प्रति दिन, ये नियम करना चाहिये ॥ ८ ॥ प्रथम, गौ आदिक को चारण भूमि में चरने देना, २ तीय, चर कर आने

पर उनको यत्न से ग्रहण करता और तृतीय, गौओं से विशेष बच्चों की सेवा करनी ॥ ६ ॥ गो-यज्ञ के निमित्त दूध में का पका चरु आवश्यक है ॥१०॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ऋषभपूजा । गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । यमवरुणौ देवतानामत्राधिकौ ११-१४

'अग्निं' 'पूषणम्' 'इन्द्रम्' 'ईश्वरम्'-इमान् चतुरो देवान् 'यजेत' अर्च्चयेत्। ११ 'ऋषभस्य' वृषभस्य पूजा अपि कार्या। १२ 'गोयज्ञेन' उक्तेनानेन 'एव' 'अश्वयज्ञः' व्याख्यातः विशेषेणोपदिष्टः। तथा च अश्वयज्ञेऽपि पायश्चरुर्द्रव्यम्; अग्नाद्या एव देवताः। ऋषभपूजास्थानेऽश्वपूजनम्। १३ 'अत्र' अश्वयज्ञे 'देवतानाम्' मध्ये 'यमवरुणौ' इमौ देवौ 'अधिकौ' पूज्याविति ॥ १४ ॥

भाषा-और अग्नि, पूषा, इन्द्र और ईश्वर, ये चार नाम वाले देव विशेष अर्च्चनीय हैं। (जिन मन्त्रोंके ये देवता हैं उन मन्त्रों से) ११ ऋषभ पूजा भी गोयज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥ १२ ॥ गोयज्ञ और अश्वयज्ञ दोनों ही एक प्रकारसे होंगे (इससे अश्वयज्ञमें भी दुग्ध सिद्ध चरु आवश्यक है और अग्नि प्रभृति उक्त चार देवता भी विशेष अर्च्चनीय हैं) १३। गो-यज्ञसे,अश्व-यज्ञमें विशेषता यह है कि अश्व यज्ञमें 'यम' एवं 'वरुण' देवताकी पूजा होती है ॥१४॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् ।१५ ॥ ६ ॥

'गन्धैः' धूपादिभिः 'गवाम्' 'अभ्युक्षणं' प्रहर्षणं कार्यमिति शेषः। वीप्सायाञ्च द्विर्वचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायंप्रातः सायमेव वा गोगृहे अग्निं प्रज्वाल्य तत्र गुग्गुलादिगन्धद्रव्यक्षेपणेन च तद्गृहं धूपायितं कार्य्यम्। एतेन मशकादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिति ॥ १५ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम् ॥ ३, ६ ॥

भाषा-गौ-शाला में प्रतिदिन सायं प्रातः काल, अन्ततः सायंकाल भी आग जलाकर उसमें धूना, गुग्गुल प्रभृति से धूप देकर, घरको साफ रक्खे ॥ गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठकके छठेखण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥ ३।६ ॥

अथातः श्रवणाकर्म्म ।१ पौर्णमास्यां कृत्यम् ।२ पुरस्ताच्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

'अथ' अधिकारार्थः । 'अतः' ऊर्ध्वं 'श्रवणाकर्म' अधिकृतं वेदितव्यम् ।१। तच्च श्रवणाकर्म 'पौर्णमास्यां' तिथौ 'कृत्यं' करणीयं भवति आरब्धव्यमिति । श्रवणाकर्मेति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादन्वर्थतः श्रवणानक्षत्रयुक्तायामेव पौर्णमास्यामिति । २ 'शालायाः' अग्न्यागारस्य 'पुरस्तात्' पुरोभागे 'उपलिप्य' गोमयेत्यादिना, 'शालाग्नेः' अग्न्यागारस्थिताग्नितएव 'अग्निं' गृहीत्वा 'प्रणयन्ति' यथाविधि प्रज्वालयन्ति प्रज्वालयेयुः गृहस्था अविशेषेणेति ॥ ३ ॥

भाषा-अब श्रवणा कर्म का आरम्भ जानो ॥ १ ॥ यह कर्म्म श्राविणी पूर्णिमा से आरम्भ करे ॥ २ ॥ जिस घर में नित्य अग्निहोत्र का अग्निस्थापित हो उसी के पुरो भाग में गौ के गोवर से लीप कर अग्निहोत्र से अग्नि लेकर पृथक् यथा विधि अग्नि प्रज्वलित करे ॥ ३ ॥

अभितश्चत्वार्युपलिम्पन्ति । ४ प्रतिदिशम् ५ । साधिके प्रक्रमे । ६ । अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं भृज्जस्यनुपदहन् ॥ ७ ॥

'अभितः' तस्याभिनवस्याग्नेः, 'चत्वारि' स्थानानि 'उपलिम्पन्ति' गोमयेत्यादिनैव । ४ 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति 'साधिके प्रक्रमे' अन्यूनं प्रक्रमपरिमितस्थाने तल्लिम्पनं कर्त्तव्यम् । 'त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः' । ५,६ । 'अग्नौ' तत्र 'कपालं' घटार्द्धप्रायं भाजनम् 'आधाय' स्थाप्य, तस्मिन्नेवोत्तप्ते आष्ट्रे 'सकृत्सङ्गृहीतं एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमितं यवान्नम् 'अनुपदहन्' दग्धं यथा न भवेत् तथा कृत्वा 'भृज्जति' भर्जयेत् ॥ ७ ॥

भाषा-उस नये स्थापित अग्नि की चारो ओर चार स्थान भी गोवर से लीपे ॥ ४ ॥ प्रत्येक दिशा में कम से कम तीन पग स्थान लीपे ॥ ५, ६ ॥ उस नये अग्नि पर एक खपरी (घड़े का अद्धा) रक्ख उस में एक मुठी यव एकवार डाल कर उसे ऐसा भूने जिस में यव भस्म न हो जावे ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृꣳहयित्वाऽवहन्त्युद्रेचम् ॥ ८ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' भागे 'उलूखलं' 'दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र उद्रेच, तुष मुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा 'अवहन्ति' मुष्टिमितान् तान् भृष्टयवान्, मुसलेनेति।८।

भाषा—उस अग्नि के पीछे दृढ़ता से उलूखल रक्ख, इस में उक्त भूने यव आदि को साफ करने के लिये रख कर मूसल से छांट देवे ॥ ८ ॥

सुकृतान्सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय निदधाति ॥ ९ ॥ दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

एवञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' भृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषे 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेण' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥९॥ क दिशि रक्षेत्! इत्याशङ्कामपनोदितुमाह;—दक्षिणपश्चिमे' द्वे दिशौ 'अन्तरेण मध्ये 'सञ्चरः' गमनागमनमार्गः । तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रक्षेदित्यभिप्रायः ॥१०॥

भाषा—यों भूने यव आदि की भूसी निकाल और चूर्ण कर सुन्दर सत्तू प्रस्तुत कर उसे चमसे में रख कर, सूप से ढांक कर यत्न से रक्खे ।९। नैर्ऋत्यकोण में जाने आने का रास्ता छोड़ कर, जहां चाहे वहां सत्तू को रक्खे १०

अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पञ्चातिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति । ११ । शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते ।१२।

'अस्तमिते' सवितरि 'चमस-दर्व्यौ शूर्पं च' 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्रणीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य, नित्याग्नितः पृथक् कृत्वा द्वितीयता स्थापितस्य 'अभिनवस्य, तस्यैवाग्नेः 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति । ११ । चमसे रक्षितान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' आवपति 'च' अपि शून्ये तत्र चमसे 'उदकम्' 'आदत्ते' गृह्णीयात् ।१२।

भाषा—सूर्यास्त होने पर, चमस, दर्वी, सूप, लेकर नित्य स्थायी अग्नि से भिन्न नये अग्नि के पास होम करने के लिये जावे ॥ ११ ॥ पहिले चमसे में रक्खा सत्तू आदि सूप में डाल कर, उस चमसे में जल ग्रहण करे ॥१२॥

सकृत् संगृहीतान् दर्व्यां सक्तून् कृत्वा पूर्व उपलिप्त उदकं निनीय बलिं निर्वपति यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिरिति १३ उपनिनयत्यपाᳬ शेषं यथा बलिं न प्रवक्ष्यतीति १४

ततः 'दर्व्या' तया 'सक्तून्' 'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतान्' कृत्वा, गृहीत्वा, किञ्च 'पूर्वे' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीतं 'निनीय' निषिच्य, तदुपरि "यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" १ (म०ब्रा० २,१,१)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भागं 'निर्वपति' संस्थापयति १३ 'अपां शेषं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जलं 'उपनिनयति' उपनिनयेत् स्थापितबलेरुपरि किञ्चित् क्षिपेत् । तथा कृत्वा क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवक्ष्यति' न प्रवहेत् १४

भाषा-फिर उस दर्वी से एक ही बार में पूरा सत्तू उठाले और पूर्वदिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में चमस पात्र में रक्खा जल सींचकर उसके ऊपर यथा क्रम से "प्राच्यां" मन्त्र से बलिभाग रक्खे १३ चमस पात्र के बचे जल को बलि पर छीटे। जल को ऐसे छीटे जिसमें ये बलि आदि वह न जावे १४

सव्यं बाहुमन्वावृत्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः। शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति ॥१५॥१६॥

ततश्च 'अव्यावर्त्तमानः' तत्रैकत्रैवस्थितौ 'सव्यं बाहुम्' 'अन्वावृत्य' वामभागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् संगृहीतादि प्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षिणस्यां दिशि देया बलिः 'यथालिङ्ग' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गानुसारतएव मन्त्रं "यो दक्षिणस्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥२ यः प्रतिच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥३ यः उदीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥४ (मं०ब्रा०२,१, २-४) पठित्वा हर्त्तव्येति॥'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या। 'एवम् उदीची' बलिः च हर्त्तव्या । ततश्च 'चमसदर्व्यौ' 'अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य' तस्मिन्नेवाग्नौ, 'शेषं' अवशिष्टसक्तुभागम् 'अग्नौ' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रक्षिप्य 'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिनएव तस्य, यतो गृहीत्वा एषोऽतिप्रणीतः तस्य 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' व्रजेत् ।१५,१६।

भाषा-इसी एक स्थान में रहते हुए थोड़ा बाईं ओर हटकर, इसी प्रकार दक्षिण ओर एक बलि पश्चिम ओर एक और उत्तर ओर भी एक बलि, रक्खे और उस २ बलि देते समय अर्थानुसार यथा वत् ३ मन्त्रों का व्यवहार करे । पीछे चारो ओर चार बलि प्रदान करे और उसके ऊपर बचा जल छिड़के।

पीछे खाली चमस और दर्वी जल में धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुखाकर और अवशिष्ट सत्तू आदि उसी अग्नि में डालकर जिस अग्नि से कुछ आग लेकर यह अग्नि प्रस्तुत हुआ है, उसी चिरस्थायी अग्निके निकट जावे १५,१६

पश्चादग्ने र्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या-इत्येतं मन्त्रं जपति ॥ १७ ॥ प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ १८ ॥

'अग्नेः' चिरस्थापितस्य अनतिप्रणीतस्य तस्य 'पश्चात्' भूमौ 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "नमः पृथिव्यै दꣳष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम ॥ सꣳहतं माविवधी विंहतं मा भिसंवधीः" ॥५॥ (मं०ब्रा०२,१,३) 'इति एतं मन्त्रं जपति॥१७॥ ततः प्रदोषे' रात्रिप्रथमयामे 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥१८॥

भाषा—उस अनति प्रणीत चिरस्थापित अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे कर "नमः पृथिव्यै" मन्त्र को पढ़े ॥ १७ ॥ तब रात्रि के पहिले अध पहरे में पायस चरु पकावे ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥ १९ ॥

'तस्य' चरो; एकैकं भागं गृहीत्वा 'श्रवणाय स्वाहा' 'इति' इत्येवं पञ्चभिर्मन्त्रैः 'जुहुयात्' पञ्चहोमान् कुर्यादिति ॥ १९ ॥

भाषा—उस चरु में से एक २ भाग लेकर 'श्रवणाय स्वाहा' प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति देवे ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत्। उत्तरतोऽग्नेर्दर्भस्तम्बꣳसमूलं प्रतिष्ठाप्य सोमोराजेत्येतंमंत्रंजपतियाꣳसंधाꣳसमधत्तेतिच २१

'अन्यत्' कर्मशेषं 'स्थाली पाकावृता' स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति शेषः ।२० 'अग्नेः' तस्यैव 'उत्तरतः' 'समूलं दर्भस्तम्बं' 'प्रतिष्ठाप्य' "सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो स्माकꣳ राजा सोमस्य वयꣳस्मः॥ अहिजम्भन मसि सौमस्तम्बꣳ सौमस्तम्ब महिजम्भन मसि" ॥६॥ (मं० ब्रा० २, १, ४) 'इति' 'एतं' 'मन्त्रं' 'च' अपि "याꣳ सन्धाꣳ समधत्त यूयꣳ सप्तऋषिभिः सह। ताꣳ सर्पामात्यक्रामिष्ट

नमो वो अस्तु मानो हिꣳसिष्ट" ॥७॥ (म०ब्रा०२,१,५)'इति' मन्त्रं 'जपति २०-२१

भाषा—अपर शेष कर्म्म सब स्थाली, पाकयज्ञ जिस प्रकार सिद्ध करना होता उसी प्रणालि से करे २० उस अग्निके उत्तर भाग में मूल के साथ कुश पुञ्ज स्थापन कर 'सोमो राजा' यह मन्त्र और 'याꣳसन्धाꣳ'मन्त्र पढ़े २१

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति । अहरहस्तूष्णींबलीन्हरेत्सायंप्राग्घोमादाग्रहायण्याः।२२-२३

'ततः' तदनन्तरं 'श्वः' परदिने 'अक्षतसक्तून्' यवसक्तून् कारयित्वा' पुत्रपुरोहितादिना 'नवे पात्रे' 'अपिधाय' आच्छाद्य 'निदधाति' स्थापयति। तैरेव सक्तुभिः 'अहरहः' प्रतिदिनं 'सायं होमात्' सायङ्कालीनहोमतः पुरस्तादेव 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'बलीन् हरेत्' । 'आ आग्रहायण्याः' अग्रहायणमासीयपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्राग्दिनपर्यन्तमिति । समाप्तं श्रवणाकर्म ॥ २२–२३ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठके सप्तम खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥३–७॥

भाषा—उस के दूसरे दिन अपने पुत्र, या पुरोहित आदि द्वारा यव का सत्तू तय्यार कराकर नये पात्र में ढाक कर रक्खे और इसी से प्रतिदिन होम के पहिले पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान में प्रदान करे । अग्रहण महीने की पूर्णिमा के पूर्वदिन तक इसी प्रकार करे ॥ २२, २३ ॥ *

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के सप्तम खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥३,७॥

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरूरौद्रः ॥ १ ॥

'आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां' आश्विनपूर्णिमायां 'पृषातके आज्यमिश्रिते पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) 'रौद्रः' रुद्रदेवताकः 'पायसः चरुः'पक्तव्यः इति शेषः ॥१॥

भाषा—आश्विन मास की पूर्णिमा को, पृषातक अर्थात् घी मिला दूध तय्यार कर रुद्र देवता की तुष्टि के लिये पायस चरु पाक करे ॥ १ ॥ *

* आज इसी "श्रवणाकर्म" के बदले स्रावन की पूर्णिमा को सलोनो 'राखी' वा 'रक्षाबन्धन' ब्राह्मण लोग अपने २ जजमानों को "येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलस्तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे माचल माचल" इस श्लोक को पढ़ राखी-रङ्गीन धागा बान्ध कर दक्षिणा पाते हैं।

* इसी के बदले "कौजागरी कृत्य" अर्थात् कौजागर पौर्णमासी को लक्ष्मी पूजा हुआ करती है.

तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक इति द्वितीयाम् ॥ २ ॥

'तस्य' चरोः एकैकमंशं गृहीत्वा 'आनोमित्रावरुणा' (छ०आ०३,१,३,७) 'इति' 'प्रथमाम्' आहुतिं किञ्च "मानस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामिनो बधी हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा०२, १,८) 'इति' 'द्वतीयाम्' 'आहुतिं' 'जुहुयात्' ॥ २ ॥

भाषा—उक्त चरु का एक २ भाग लेकर "आनो मित्रा वरुणा" (छ० आ० ४, १, ३, ७) मन्त्र से प्रथम और "मान स्तोके तनये" मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥ २ ॥

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः ॥ ३ ॥ स्थालीपाकावृताऽन्यत् ॥ ४ ॥

'च' अपि 'काम्यासि इत्येतत् प्रभृतिभिः' यजुर्वेद प्रसिद्धैः (य०वे०सं०८,४३) 'गोनामभिः' एकादशभिः 'पृथक्' नामशः एकादशाहुती जुहुयात्तस्यैव चरोरंशं गृहीत्वेति। 'अन्यत्' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति।३-४।

भाषा—'काम्यासि' आदि यजुर्वेद के प्रसिद्ध ११ (य० वे० सं० ८,४३) गौ के नामों का उच्चारण करे, इस चरु के भाग को लेकर भिन्न २ * ग्यारह आहुति देवे ॥३॥ और अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक की नाईं करे ॥४॥

पृषातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वास्वयमवेक्षेत तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

ततः 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा पृषातकम्' आज्य मिश्रितं पयः 'पर्याणीय' स्वसमीपं गृहीत्वा तच्च 'ब्राह्मणान्'तत्रागतान् 'अवेक्षयित्वा दर्शयित्वा तच्चक्षुर्देवहितम्'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'स्वयम् अवेक्षेत ॥ ५ ॥

भाषा—उसके अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिणा कराकर उस पृषातक को अ-

* इडा रम्भा, हव्या, काम्या, चन्द्रा, जयोता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति, अघ्न्या, ये ११ यजुर्वेदोक्त गौ के नाम हैं।

पने निकटस्थ लेकर स्थानीय ब्राह्मणों को देखावे एवं 'तच्चक्षुर्देवहितं, इत्यादि मन्त्र पढ़ २ कर उसमें अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुषान्मणीन् सर्वौषधिमिश्रानाबध्नीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'भोजयित्वा' भोजनदानेन तर्पयित्वा ततः 'स्वयं भुक्त्वा' 'सर्वौषधिमिश्रान्' व्रीहिशालिमुद्गगोधूम-सर्षप-तिल-यव-मिश्रपोट्टलिसहितान् 'जातुषान्' जातुपनामकीन् लाक्षाकृतान् 'मणीन्' 'स्वस्त्ययनार्थं' कल्याणाय 'अबध्नीरन्' स्वबाह्वादाविति ॥ ६ ॥

भाषा—इस प्रकार कर्म्म की समाप्ति में, निमन्त्रित ब्राह्मणादिकों को भोजन करा कर, आप भी भोजन करे और १ व्रीहि, २ धान्य, ३ मूंग ४ गेहूम, ५ सर्षप, ६ तिल, ७ यव, इन सात अनाज की पुटली बना इसके साथ * जातुष नामक कई एक मणि के साथ बाहु पर, या दूसरे किसी कमर से ऊपर के ** अंगो में बान्धे। इससे कल्याण की वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत ॥ ७ ॥

स्वस्ति ह्यासां भवति ॥८॥ नवयज्ञे पायसश्चरुरैन्द्राग्नः ॥९॥

'सायं' समुपस्थिते 'गाः' 'पृषातकं' तत् 'प्राशयित्वा' पाययित्वा 'सहवत्साः' वत्सैः सहिताः ताः 'वासयेत' तां रात्रिमिति। एतेन कर्म्मणा 'आसां' गवां 'स्वस्ति' 'सुखं' 'भवति'। 'नवयज्ञे' नूतनशस्यनिमित्तोत्साहादिप्रकाशनाय परमदेवा-

---

* आज इसीं के बदले ब्राह्मण गण जई, (जयन्ती) बान्धा करते हैं। यद्यपि ये लोग उक्त सात ७ अनाज से रक्षा बन्धन नहीं करते, किन्तु आश्विन मास के शुक्लपक्ष की नवमी की रात्रि में काली के पूजार्थ जो कलश रक्खा जाता, उस वेदी में जो यव बोया रहता है, उसको जन्मने पर दशमी के दिन ब्राह्मण लोग कलशे में से उखाड़ कर अपने २ यजमानों को श्लोक—(जयन्ती मङ्गला काली, भद्रकाली कपालिनी दुर्गे क्षमा क्षमा धात्री, भद्रकाली नमोस्तु ते) पढ़ कर उनकी शिखा में जयन्ती बान्धकर दक्षिणा पाते हैं।

** जिसका रंग माणिक्य की नाईं, लाह सदृश होता है उसी को जतु कहते। द्रुमामय भी इसी का नामान्तर है। जतु खण्ड को जातुप कहते हैं।

यर्चनं कर्त्तव्यं भवति, तत्र । 'पायसः पयसा दुग्धेन सम्पादितः 'चरुः' पक्तव्यः । स च चरुः 'ऐन्द्राग्नः' इन्द्राग्निदेवताको भवेदिति नवयज्ञद्रव्यदेवतानिर्द्देशः ।७-९।

भाषा—सायंकाल में, जब गौयें चर कर बाहर से वापस आवें, उनको प्रपातक पिलावे और रात्रि में बच्चों को अलग २ न बान्धकर, अपनी २ माके पास ही रक्खे । इससे गौ आदिक प्रसन्न रहेंगी ॥ ७, ८ ॥ नूतन शस्य निमित्तक उत्साह आदि प्रकाशनार्थं परम देवताच्चर्चन यज्ञ करना होता है । नवान्नेष्टि में इन्द्राग्नी कहकर प्रसिद्ध दोनों देवता के नाम से आहुति दी जावेगी और वह उसी नये शस्य के पायस चरुसे होगी ॥ ९ ॥

तस्य मुख्याꣳ हविराहुतिꣳ हुत्वा चतसृभिराज्याहुतिभि रभिजुहोति शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिः ॥१०॥ स्थाली पाकावृताऽन्यत् ॥ ११ ॥

'तस्य' नवयज्ञस्य 'मुख्याम् आहुतिं' इन्द्राग्निदेवताकां 'हुत्वा' ततः परं "शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेऽभिमातिषाहे । शतं यो नः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदतिदुरितानि विश्वा ॥९। चत्वारः पथयो देवयाना अन्तराद्यावापृथिवी वियन्ति । तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे ।१०। ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु । तेषा मृतूनाꣳ शत शारदानां निवात एषा मभये स्याम ।११। इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानां ज्योगजीता अहताः स्याम" ॥१२॥ (म०ब्रा०२,१,९,१२) 'इत्येतत्प्रभृतिभिः' 'चतसृभिः' मन्त्रैः 'आज्याहुतिभिः' अभिजुहोति' १० 'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव भवेन्नाम ॥ ११ ॥

भाषा—उस नूतन यज्ञ की मुख्य यह ऐन्द्राग्नि आहुति देने पर "शतायुधाय" इत्यादि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा और भी चार होम करे ॥१०॥ अवशिष्ट कार्य्य सब स्थाली पाकयज्ञ के विधि अनुसार करे ॥ ११ ॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

'उच्छिष्टशेषम्' उत्सर्गीकृतस्य हविषः शेषं 'हविः' 'यावन्तः' दर्शकाः परिजना निमन्त्रिताश्च 'उपेताः' तत्रागताः 'स्युः' तान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्राशयेत् ॥१२॥

भाषा—होम में की बची हुई शेष हवि, यज्ञ दर्शनार्थ आये परिजन, निमन्त्रण से आये हुए लोगों को यथा भाग खवावे ॥ १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य्य द्विश्चरोरवद्यति ॥१३॥ त्रिर्भृगूणाम् ॥१४॥

'चरोः' उपरि 'अपां' भागं 'सकृत्' एकवारम् 'उपस्तीर्य्य' प्रथमसिञ्चनं प्रकृत्य 'द्विः' द्विवारम् 'अवद्यति' तं चरुं मेक्षणेनेति ॥ १३ ॥ 'भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'त्रिः' त्रिवारमवदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥ १४ ॥

भाषा—होम से बचे हुए चरु के ऊपर एक वार जल छिड़क कर मेक्षण द्वारा, दो वार खण्ड २ करे अर्थात् उस चरु को तीन भाग करे ।१३॥ भृगु-गोत्र वाले उस चरु को चार भाग में बांटे, यही इसमें विशेषता है ॥१४॥

अपांचैवोपरिष्टात् ॥१५॥ असछंस्वादंनिगिरेद्भद्रान्नः श्रेय इति ॥ १६ ॥ एवं त्रिः ॥ १७ ॥

'च' अपि 'उपरिष्टात्' तस्यैवावदानस्य चरोः, 'अपां' प्रक्षेपः कर्त्तव्यः ।१५। एवं-कृत्वा ततः कियन्मात्रं तच्चरुं "भद्रान्नः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्वया वसेन समशीमहि त्वा । सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वै स्योनः (स्वाहा)" ।१३। (म० ब्रा० २, १, १३)' 'इति' इमं मन्त्रं पठित्वा 'असंस्वादं' तच्चरोः आस्वादं सम्यक् गृहीतं न भवति यथा तथाकृत्यैव 'निगिरेत्' दन्तैश्चर्वणमकृत्वैव गलाधः कुर्या-दिति॥१६॥'एवं' मन्त्रपाठपूर्वकमसंस्वादश्च 'त्रिः' त्रिवारम् निगरणं कर्त्तव्यम्॥१७॥

भाषा—उसी प्रकार कई भागों में बटे हुए चरु पर भी एक वार जल छिड़के ॥ १५ ॥ तब चरु में से कुछ लेकर "भद्रान्नः श्रेय" मन्त्र पढ़ कर स्वाद न लेकर तीन वार चरु भाग को निगल जावे ॥ १६-१७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् ॥ १८ ॥ भूय एवावदाय कामन्तत्र संस्वादयेरन् ॥१९॥ आचान्तोदकाः ॥२०॥ प्रत्यभिमृशेर-न्मुखछं शिरोऽङ्गानीस्यनुलोममसो सीति ॥ २१ ॥

'चतुर्थं'' निगरणं 'तूष्णीम्' 'अमन्त्रकमेवपरमत्राप्यसंस्वादमिति वर्त्तते 'भूयः' पुनरपि पूर्ववत् 'अवदाय' चरुच्छेदं प्रकृत्य 'तत्र' तस्मिन् पक्षे 'कामं' यथा स्यात् तथा

'संस्वादयेरन्' तं चरुभागमिति। ततः 'आचान्तोदकाः' भवेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति। ततश्च "अमोसि प्राण तदृतं ब्रवीम्यमाह्यसि सर्वमनु प्रविष्टः। स मे जराꣳ रोगमपमृज्य शरीरादपाम'एधि मा मृथा न इन्द्र (स्वाहा)' १४(म०ब्रा२, ०१,१४) 'इति' इमं मन्त्रं पठन्नेव मुखं 'ललाटादि चिबुकपर्यन्तं 'शिरः' ब्रह्मरन्ध्रम् 'अङ्गानि' कर्णमूलादीनि पादाग्रान्तानि प्रत्यभिमृशेरन्' उदकैः सिञ्चेरन्निति ॥ १८ — २१ ॥

भाषा—चौथी वार में मन्त्र न पढ़े स्वाद ग्रहण न करे ॥ १८ ॥ फिर उसी प्रकार मेक्षण द्वारा चरु को टुकड़ा २ कर भक्षण करे, एवं इच्छा हो, तो स्वाद भी ले सकता है ।१९। अनन्तर, जलसे आचमन करे मुख हाथ पैर धोवे ।२०। और "अमोसि प्राण" मन्त्र पढ़ ललाटसे डाढी तक और ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश एवं कान की जड़ से पैर तक अच्छे प्रकार धोवे ॥ २१ ॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानामग्निः प्राश्नातु प्रथम इति श्यामाकानामेतमुत्यं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् २२–२४। ३,८

'एतया एव आवृता' अनया नवव्रीहियज्ञोक्तरीत्या एव श्यामाकयवानाम् अपि नवानां यज्ञः कार्यः। विशेषस्तु ;—'श्यामाकानां' श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे "अग्निः पश्चात् प्रथमः स हि वेद यथा हविः शिवा। अस्मभ्य मोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः" (स्वाहा) १५ (म० ब्रा० २, १, १५) 'इति' एष मन्त्रोऽप्यवहार्यः किञ्च 'यवानां' यवसम्बन्धिनि यज्ञे "एतमुत्यं मधुना संयुतं य व ꣳ सरस्वत्या अधिवनाव चर्कृधि। इन्द्र आसीत्सीरपतिशतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः" (स्वाहा) (म० ब्रा० २,१,१६)—'इति' एष मन्त्रो व्यवहर्त्तव्यइति ॥२२-२३-२४॥

इतिगोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥३,८॥

भाषा—व्रीहि शस्य के विषय में पूर्व ही कहा गया। सामा, यव, शस्य के विषय में भी ऐसाही जानो। विशेषता यह है कि—नूतन इसी सामा यज्ञ में 'शतायुधाय' मन्त्र के बदले "अग्निः प्राश्नातु" प्रथम मन्त्र और नूतन यव यज्ञ में "एत मुत्यं मधुना" मन्त्र को पढ़े ॥ २२, २३, २४ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीय प्रपाठक के अष्टमखण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ३, ८

आग्रहायण्यां बलिहरणम्। तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम्॥१।२।

'आग्रहायण्याम्' अग्रहायणो मार्गशीर्ष इति पर्यायवचनम्। अग्रहायणस्येयमाग्रहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणं' कर्त्तव्यम्। एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेन एव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणे यद्यदुपदिष्टमिहापि तत्तदेव बोध्यमिति ॥१॥२॥

भाषा—जिस प्रकार श्रावण मास के बलिहरण का विधान पहिले कहा गया है-उसी प्रकार अगहन की पूर्णिमा को भी बलि प्रदान करे ॥१॥२॥ *

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै' (पृ० १५१).—'इति एतं मन्त्रं' 'न जपति' आग्रहायणबलिहरणकारीति श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति (पृ० १५१)' तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति ॥३॥ अपराण्यपि कानिचित् तद्दिनकर्त्तव्यान्याह;—

भाषा—श्रावण मास के बलिहरण में "नमःपृथिव्यै" मन्त्र का व्यवहार करने का विधि है। इस में उस को न करनाही विशेषता है ॥ ३ ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳ हुत्वा दर्भान् शमीं वीरणां फलवतीमपामार्गꣳ शिरीषमेतान्याहारयित्वा तूष्णीमक्षतसक्तूनामग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः सम्भारैः प्रदक्षिणमाग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहाननुपरीयात् ॥ ४ ॥ उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ॥५॥

'अथ' शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिन्नं द्योतयति। तद्दिने पूर्वाह्णे प्रातराहुतिं हुत्वा एव' 'दर्भान्' कुशतृणानि, 'शमीं' तद्वृक्षपत्रं, 'वीरणां' वीरणतृणं, फल- फलवतीं' सफलां बदरीशाखां, 'अपामार्गं' तच्छाखां, 'शिरीषं' तच्छाखां, 'एतानि' सम्भाराणि 'आहारयित्वा' येन केनचित् 'अक्षतसक्तूनां' यवसक्तूनां भागं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'अग्नौ' कृत्वा प्रक्षिप्य 'ब्राह्मणान्' तत्रत्यान् दक्षिणादाना-

* श्रावण की पूर्णिमा से प्रतिदिन जो स्वस्त्ययन होगा सो इसी बलिहरण में शेष होगा। प्राचीन समय में भी इन्हीं चार मासों में प्लेग का भय होता था।

दितोपणेन 'स्वस्ति' शब्दं कल्याणवचनं वा 'वाचयित्वा' 'एतैः' दर्भादिभिः 'सम्भारैः' सह 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अग्न्यागारात्' अग्निगृहात् 'प्रभृति' 'गृहान्' सर्वानेव 'अनु' लक्ष्य 'धूमं' प्रदाय 'शातयन्' निर्वापयंश्च 'परीयात्' सतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं फलितम् ॥ ४ ॥ तान् 'सम्भारान्' 'कृतार्थान्' निष्पन्नप्रयोजनान् इति 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् ॥ ५ ॥

भाषा—और भी,—उस दिन दो पहर के पीछे प्रातःकाल की आहुति दे कर, कुश, पीपर का पत्ता, खस फल सहित बेर का डाढ़, चिरचीरी का डाल और शिरीष की शाखा को लाकर अग्नि में बिना मन्त्र के सत्तू से होम कर, वहां उपस्थित ब्राह्मणों से 'स्वस्ति' कहवा दक्षिणा देकर प्रसन्न करे, इन दर्भ आदि सम्भार, को लेकर अग्नि गृह से आरम्भ कर सारे घर में धूम देवे और धूम को ठण्ढा भी कर और कुश आदि को फेंक देवे ॥ ४ ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पतइत्येतेनद्विकेन ॥ ६ ॥ पर्केण द्वावुदकुम्भौ मणिक आसिञ्चेत् ॥७॥ समन्न्यायन्तीत्येतयर्चा प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ ८ ॥

'जातशिलासु' उत्पन्नशिलासु शिलावद्दृढनिर्म्मितासु इष्टकासु इष्टकनिर्म्मित वेद्याम् 'वास्तोष्पते (गे० गा० ७, २, २०, २१),—'इति' 'अनेन द्विकेन' सामद्वयेन 'मणिकं' मृण्मयं ताम्रादिमयं वा बृहत् जलाधारं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥ ततः तस्मिन् 'मणिके' 'पर्केण' पर्कनाममन्त्रेण (गे० गा० १, १, १) 'द्वौ' 'उदकुम्भौ' उदकपूर्णकलशौ 'आसिञ्चेत्' ॥ ७ ॥ 'प्रदोषे' रजनी मुखे 'समन्न्यायन्ति' (अ०आ० ३, ३, ६) 'इति' एतया ऋचा' 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥८॥

भाषा—पत्थर की नाईं सुदृढ़ ईंटों से बनी, वेदी के ऊपर "वास्तोष्पते" (गे० गा०-७, २०-२१) दो साम मन्त्रों को पढ़ कर जल का घड़ा रक्खे फिर उस घड़े में 'पर्क्कसाम' (गे० गा० १, १, १) मंत्र पढ़ते हुए कलशे से जल डाले ॥ ७ ॥ रात्रि-को आरम्भ में "समन्न्यायन्ति" (अ० आ-३, ३, ६), मन्त्र से 'पायसचरु' पकावे ॥ ८ ॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवाससेति ॥९॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥१०॥ पश्चादग्नेर्बर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्यप्रतिक्षत्रइत्येताव्याहृतीर्जपति ॥ ११ ॥

'तस्य' चरोः अंशं गृहीत्वा "प्रथमा हव्युवास सा धेनु रभवद्यमे । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराꣳ समाम्" ॥ १ ॥ (मं० ब्रा० २, २, १)'–इति' मन्त्रेण 'जुहुयात्' ॥ ९ ॥ 'अन्यत्' अवशिष्टकार्य्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्याएव भवेन्नाम ॥ १० ॥ अग्नः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमे 'बर्हिषि' आस्तृतकुशोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे ॥ २ ॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ॥ ३ ॥ प्रतिप्राणे प्रतितिष्ठामि पुष्टौ ॥ ४ ॥ प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मनि ॥ ५ ॥ प्रतिद्यावा पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे" ॥ ६ ॥ (मं०ब्रा० २,२, २–६):–'इति एताव्याहृतीः जपति' ॥११॥

भाषा–उस चरुका कुछ अंश लेकर 'प्रथमाहव्युवाससा' मन्त्रसे एक आहुतिदेवे ९ बाकीकार्य पूर्वोक्त स्थालीपाककी रीतिसे होंगे १० अग्निके पश्चिममें कुशके ऊपर, दोनों हाथ नीचे रक्ख 'प्रतिक्षत्रे' आदि व्याहृति ३ मंत्रपढ़ करे ॥११॥

पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणम् । ॥१२॥ तस्मिन्नहतान्यास्तरणान्यास्तीर्य्य दक्षिणतो गृहपतिरुपविशति ॥१३॥ अनन्तरा अवरे याथाज्येष्ठम् ॥ १४ ॥

'अग्ने'; तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः तृणैः' उत्तराग्रीकृतैः कुशाशादिभिः 'उदक्प्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्यात्तथा 'स्रस्तरं' आसनं 'आस्तारयेत्' आस्तृतं कुर्य्यात् ॥१२॥ 'तस्मिन्' स्रस्तरे 'अहतानि' अखण्डितानि 'आस्तरणानि' तिर्य्यक्प्रक्षेपणीयतृणानि 'आस्तीर्य्य' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥ १३ ॥ "अनन्तराः' अव्यवहिता 'अनन्तराः' अव्यवहिताः' 'अवरे' गृहपतितः कनिष्ठाः याथाज्येष्ठं' ज्येष्ठानुक्रमेण उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्युरिति ॥ १४ ॥

भाषा–फिर अग्निके पश्चिम ओर उत्तराग्र कुशा आदि पर बैठनेके लिये

आसन बनाने में लग जावे यह स्थान उत्तर दिशा में गहरा होगा १२ उस पर अच्छिन्न आस्तरण आदि बिछाकर सबसे दक्षिण घर का मालिक बैठे १३ उनके बाईं ओर प्रथम बड़े बैठे, तब छोटे, इसी रीतिसे और लोग बैठें ॥१४॥

अनन्तराश्च भार्य्याः सजाताः ।१५। समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तयेत् ।१६। न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापथिविनोभवेत्येतामृचं जपति ॥ १७ ॥

'अनन्तराः' तदव्यवहिताः 'भार्य्याः' गृहपतिवध्वादयः 'च' अपि यथा ज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेयुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समानजातीयाः असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः॥१५॥ 'समुपविष्टेषु' स्वावरादि भार्य्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठाता 'स्वस्तयेत् स्वस्तिवाचनं कुर्य्यात् ॥१६॥ तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य' "संस्थाप्य स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छानः शर्म स प्रथान्तो देवान्मा भयादिति" ॥ ७ ॥ (म०ब्रा० २,२,७)-'इति एतां ऋचं जपति' ॥१७॥

भाषा—एवं अपने वर्णकी भार्या आदि भी उक्त प्रकार बड़े छोटे क्रमसे बैठे ॥१५॥ सबके ठीक २ बैठ जाने पर, घरका मालिक स्वस्त्ययन आरम्भ करे ॥१६॥ दोनों हाथ नीचे कर 'स्योनापृथिविनो भवा' मन्त्र पढ़े ॥ १७ ॥

समासायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः ॥ १८ ॥ एवं त्रिरभ्यात्मावृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् ॥१९॥

'समासायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण स्वावरादिभार्य्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः इति यावत् 'संविशन्ति' अग्निपरिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति ॥ १८ ॥ 'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम् अभ्यात्मं स्वोप वेशद नस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आवर्त्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि' वामदेव्यादीनि सा- मानि 'प्रयुज्य' गीत्वा "यथान्यायं पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं कार्य्यमिति ॥ १९ ॥

भाषा—मंत्र पढ़ लेने पर सब को प्रदक्षिणा कर अग्नि और परिजन के

बीच हो कर अपनी जगह आ बैठे १८ ॥ यों तीन वार प्रदक्षिणा कर 'वामदे-व्यादि' 'स्वस्त्ययन' सामगानके अन्त में पूर्वोक्तरीति से क्रिया शेष करे १९ ॥

अरिष्टसामसंयोगमेके ॥२०॥ उपस्पृश्य यथार्थम् २१ ॥ ३, ९

'एके' आचार्य्या अत्र 'अरिष्टसामसंयोगं' अरिष्टनामकसाम्नः संयोगमपि आहुः। "उपस्पृश्य" अप आचम्यक्रियासमाप्तिंमत्वा 'यथार्थं' स्वप्रयोजनानुगतंविहरेदिति ॥२१॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठकेनवम खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥३—९॥

भाषा—कोई २ आचार्य स्वस्त्ययन में अरिष्ट नामक साम को मिलाना चाहते हैं ॥२०॥ आचमन करके कर्म की समाप्ति मानकर यथेच्छ विचरे ॥२१॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३, ९॥

अष्टका रात्रिदेवता ॥ १ ॥ पुष्टिकर्म्म ॥ २ ॥

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्त्तव्येति शेषः "पुष्टिकर्म्म" पुष्टिः पोषणं फलमस्येति। पुष्टिकाम एवास्याधिकारी तथाचास्य काम्यत्वं स्थितम्। १-२॥

भाषा—"अष्टका" रात्रि में होती है ॥१॥ पुष्टि की इच्छा हो तो इसे करे ॥२॥

आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्त्तुदेवता वैश्वदेवीति देवताविचाराः ॥ ३ ॥ चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चिकीर्षेदिति कौत्सः ॥ ४ ॥

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा 'प्राजापत्या' 'प्रजापतिदेवताका' 'ऋतुदेवता' ऋतव एव देवता यस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेवता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीतिशेषः ॥ ३ ॥ 'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः' कार्त्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः 'चतुरष्टकः चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः 'इति' मन्यते। किञ्च 'ताः सर्वाः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः 'चिकीर्षेत्' कर्त्तुमिच्छेत् ॥४॥

भाषा—उक्त अष्टका के विषय में आचार्यों के भिन्न २ मत हैं कोई कहता इस की देवता अग्नि हैं, कोई पितृगण, कोई, प्रजापति को कहते हैं, किसी का मत है कि यह शीतऋतु के उपभोगार्थ प्रकृत रूप से क्रिया जाता है। सब देवताओं के प्रीतिके लिये इसका करना बतलाते हैं ॥ ३ ॥

परन्तु कौत्स नामक आचार्य अग्रहायण प्रभृति हेमन्त *-चार महीनों में चार 'अष्टका' करे और इस को मांस से करे ऐसा मानते हैं ॥ ४ ॥

त्र्यष्टकइत्यौद्गाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डी ॥ ५ ॥

'औद्गाहमानिः' 'तथा' 'गौतम—वार्कखण्डी' इमे आचार्याः, हेमन्तः त्र्यष्टकः तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यन्ते इति शेषः ॥ ५ ॥

भाषा—उद्गाहमानि नामक आचार्य एवं गौतम और वार्कखण्डी आचार्यगण-हेमन्त ऋतु में तीन ही ** अष्टका यज्ञ करना मानते हैं ॥५॥

योर्ध्वमाग्रहायण्यास्तामिस्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते६॥

'आग्रहायण्याः' पौर्णमास्याः, ऊर्ध्वम्' उपरि 'या' 'तामिस्राष्टमी' अन्धकारपक्षीया 'अष्टमी' 'तिथिः' 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका' 'इति' 'आचक्षते' आचार्या इति यावत्। एतेन तत्राऽष्टम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्त्तव्यम्, तच्च अपूपैः, साध्यमिति फलितम् ॥६॥

भाषा—अग्रहणमास की पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी को आचार्य लोग 'अपूपाष्टक' कहते हैं। उस तिथि में अपूप से अष्टका करना चाहिये ॥ ६ ॥

स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुꣳश्रपयति ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्त्या स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य' संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयान्नं 'श्रपयति' श्रपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

---

* "द्वादश मासाः पञ्चर्त्तवो हेमन्त शिशिरयोः समासेन" ऐ० ब्रा० १, १, १। इससे 'पाच ऋतुमें एकवर्ष पूरा होता है,—इस मतसे हेमन्त और शिशिर दोनों ही ऋतुको हेमन्त कहते हैं और वेदमें "शतँ हिमाः" "शरदः शतँ" इत्यादि अनेक प्रयोग रहते भी शरत् ऋतुमें वर्षकी पूर्त्ति और हेमन्त में ही वर्षारम्भ जान पड़ता है, अग्रहायण पदसे वर्षका पहिला महीना जान पड़ता है, सुतरां, अग्रहायण से हेमन्त ऋतु गिनना चाहिये ॥

** चार महीनों में तीन अष्टका कर्त्तव्य होने से, सुतरां एक मास छूट जावेगा। कौन महीना छूटेगा, सो स्पष्ट न कहने से जिस २ प्रकार अष्टका करनी होगी सो क्रमसे कहा जावेगा, तो जिस मासमें कुछ नहीं कहा जावेगा, वही मास छूटेगा ऐसा जानना चाहिये ॥

*** पूआ—का परिचय और उसके द्वारा अष्टका कृत्य· कस प्रकार करना होगा, सो सब क्रमसे कहा जावेगा।

भाषा—स्थालीपाककीभांति इसमें भी तण्डुल आदिसे 'चरु' पाक करे ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् ॥ ८ ॥

'च' अपि 'कपाले' एकस्मिन् मृत्कटाहे 'अष्टौ' अपूपान्' पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' मेक्षणादिना अस्पृशन्नेव श्रपयेत् ॥ ८ ॥

भा०—और एक बड़ी मट्टी की कराही में, आठ पूआ पकावे परन्तु पूआ टूटे नहीं । (एक समय में ८ पूआ के लिये आठ कराही आवश्यक होंगी) ॥८॥

एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः९त्रैयम्बकप्रमाणान् १०

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णमितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' 'औद्गाहमानिः' आचार्यः सन्यते इति शेषः। ९ त्रैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणानेव अपूपान् श्रपयेत् इत्यस्माकं मतमिति।

भाषा—उद्गाहमानि आचार्य के मतसे पूएको भिन्न २ कराहियों में विना मंत्र पढ़े बनावे ॥ ९ ॥ पूआ हथेली बराबर होगा ॥ १० ॥

श्रृतानभिघार्य्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ११ ॥

'श्रृतान्' पक्वान् तान् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' उत्तरतः अग्नेः, 'उद्वास्य संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव तान पूपानिति ॥ ११ ॥

भाषा—पूआ आदि पक जाने पर घी का ढार दे अग्निकी उत्तर में उसे उतार पुनः घी का ढार देवे ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाश्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥ १२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ १३ ॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपनाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कर्त्य गृहीत्वा "अष्टकायै स्वाहा"–'इति' अनेनमन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥१२ ॥ 'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्य मिति समाप्तापूपाष्टका ॥ १२ ॥ १३ ॥

भाषा—पूर्वोक्त स्थालीपाक के नियम से उस चरु और पूए आदि से कुछ २ अंश काटकर, इस काटे हुए अंशको "अष्टकायैस्वाहा"–मन्त्रसे अग्नि में डाले ॥ १२ ॥ स्थालीपाक के सब ही साधारण नियम यहां होंगे ॥ १३ ॥

तैष्याऊर्द्ध्वमष्टम्यां गौः।१४।तांꣳसन्धिवेलासमीपं पुरस्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायांजुहुयाद्यत्पशवःप्रध्यायतेति ॥१५॥

'तैष्याः' पौषपौर्णमास्याः 'ऊर्द्ध्वम्' पुरस्तात् 'अष्टम्यां' कृष्णपक्षीयायाम्, 'गौः' आलब्धव्येति शेषः ॥ 'सन्धिवेलासमीपं' सूर्योदयकालात् किञ्चित् पूर्वमेव 'तां' गां 'अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य' 'उपस्थितायां' तस्यां सन्धिवेलायाम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, 'यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदये न च। वाचा सहस्रपायथा मयि बध्नामि वो मनः" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, २, ८)—'इति' मन्त्रेण तत्रैवाग्नौ 'जुहुयात्' घृत मिति ॥ १४ ॥ १५ ॥

भाषा—पौष मास की पूर्णिमा के पीछे अष्टमी को गोमांस से मांसाष्ट का करे। सन्धिवेला के कुछ पहिले अग्निके पूर्व भाग में उस गौको लाकर रक्खे, और ठीक वेला पर "यत्पशव प्रध्यायत" मन्त्रसे घी की आहुति दे कार्य का आरम्भ करे ॥ १४–१५ ॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥ १६ ॥

'हुत्वा' कार्यारम्भद्योतिका माहुतिं पूर्वोक्ताम्, 'च' अपि 'तां' गाम् "अनु त्वा माता मन्यता मनुपितानुभ्रातानु सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, २, ९)'–इति' मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' संज्ञपानार्थं निमन्त्रयेदिति ॥१६॥

भाषा—पूर्वोक्त आहुति देने पर यव मिला जल पवित्र, क्षुर, शाखा, विशाखा, बर्हि', इध्म, आज्य, दो समिधा, और स्रुव, ये सब भी अपने पास ठीक रक्खे "अनुत्वा" मन्त्रसे गौ को मारने के लिये निमन्त्रण देवे ॥१६॥

यवमतीभिरद्भिःप्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति ॥१७॥

'अष्टकायै' अष्टकानामदेवतायाः तुष्टयर्थं 'त्वा' 'जुष्टां' प्रीति-सेवनीयां गाम् 'प्रोक्षामि' अहम्–'इति' मन्त्रं पठन् 'यवमतीभिः' अद्भिः 'प्रोक्षेत्" तामालब्धव्यां गामिति ॥ १७ ॥

भाषा—"अष्टका देवता की प्रीति के लिये प्रीति पूर्वक सेवनीय तुम्हें धोता हूं"-मन्त्रसे बध्य गौ को यव से भींगा जलसे धोवे ॥ १७ ॥

उल्मुकेन परिहरेत् परिव्राजपतिः कविरिति ॥ १८ ॥
अपः पानाय दद्यात् ॥ १९ ॥

"परिव्राजपतिः कविः (छ० ब्रा० १, १, ३, १०)"-'इति' मन्त्रम्पठन् 'उल्मुकेन प्रज्वलिताग्निना "परिहरेत् प्रदक्षिणीकुर्यात् तां गा मिति ॥ १८ ॥ तस्यै गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

भाषा..."परिव्राजपतिः" (छ० ब्रा० १, १, ३, १०) मन्त्र से एक मुट्ठीं खर जला कर, उस खर से गौ की प्रदक्षिणा करे ॥ और गौ को एक पात्र में जल पीने को देवे ॥ १८-१९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्चेदात्तंदेवेभ्योहविरिति ॥२०॥

'पीतशेषं' पानाववशिष्ट मुदकम् "आत्तं देवेभ्यो हविः। १० (म० ब्रा० २ २, १०)" 'इति' मन्त्रम्पठन् 'पशोः' तस्यैव 'अधस्तात् अवसिञ्चेत्' नीचेः सिञ्चनं कुर्वीत ॥ २० ॥

भाषा०—पीने से जो पानी बचे, उस में "आत्तं देवेभ्यो हविः" मन्त्र से गौ के अधोभाग को सींचे ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ॥२१॥ प्राक्शिरसमुदक्पदीं देवदेवत्ये दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये२२,२३

'अथ' अनन्तरम् 'एनाम्' गाम् 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेन नीत्वा 'संज्ञपयन्ति' हन्युः शासितार ऋत्विज इति ॥ तत्र च-'देवदेवत्ये' कार्यें तां 'प्राक्शिरसम् उपक्पदीं' किन्तु पितृदेवत्ये कार्यें 'दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं' संज्ञपेयुरिति ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

भाषा०—तब मारने के लिये तैयार ऋत्विक्गण, गौको अग्नि के उत्तर में ला कर काटें ॥ यदि देवकार्य निमित्त गौ मारी जावे, तो पशु का मस्तक पूर्वदिशा में रक्खे और चारो पैर उत्तर की ओर पितृकार्य के लिये हो, तो पशु का मस्तक दक्षिण में, और उसके पैर सब पश्चिम ओर रक्खे ॥२१-२३॥

संज्ञप्तायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

'संज्ञसायां' तस्यां "यत्पशुर्मायु मकृतोरीवापद्भिराहत। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १, २, ११)-'इति' मन्त्रेण जुहुयात् आज्य मिति शेषः ॥ २४ ॥

भाषा०—गौ मारे जाने पर "यत्पशु" मन्त्र से आज्य होम करे ॥२४॥

पत्नी चोदकमादाय पशोःसर्वाणि स्रोतांसि प्रक्षालयेत्॥२५॥

'च' अपि तदैव 'पत्नी' यजमानस्य, 'उदकम् आदाय 'पशोः' संज्ञसस्य 'सर्वाणि स्रोतांसि' चक्षुरिन्द्रियादीनि 'प्रक्षालयेत्' ॥ २५ ॥

भाषा०—एवं उस समय यजमान की स्त्री जल से, उस कटे हुए शिरवाली गौ के नेत्र आदि इन्द्रियों को अच्छेप्रकार धोते (माथे में नेत्र आदि सात, चार स्तन, नाभि, कटिदेश, गुह्यदेश, ये १४ स्थान हैं) ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोम माकृत्यवपा मुद्धरन्ति।

'अग्रेण नाभिं' नाभेरग्रतः नाभिसमीपे 'पवित्रे' 'अन्तर्द्धाय' 'अनुलोमं' यथा स्यात्तथा 'आकृत्य' क्षुरेण निम्नाभिगामि कर्त्तनं कृत्वा, ततः 'वपां' मेदसम् 'उद्धरन्ति' उद्धरेयुः ॥ २६ ॥

भाषा०—नाभि के समीप पवित्रद्वय छिपा कर लोमानुसरण क्रम से निम्न-नाभि चालन से काट कर उस में से वपा को निकाले ॥ २६ ॥

ताꣳशाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत् ॥२७॥ प्रश्च्युतितायां विशसथेति ब्रूयात् ॥२८॥

'शाखाविशाखयोः' एतन्नामकपात्रयोः 'काष्ठयोः' पलाशनिर्मितयोः ऊर्द्ध्वाधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये 'तां' वपां 'अवसज्य' संस्थाप्य अभ्युक्ष्य' जलपातैः श्रपयेत्' पचेदिति ॥२७॥ 'प्रश्च्युतितायां' प्रक्षारितायां तस्यां वपायां 'विशसथ' गां विगतचर्मां कुरुथ 'इति' ब्रूयात्' ॥ २८ ॥

भाषा०—और निकाली हुई वपा को, शाखा, विशाखा नामक पलाश की लकड़ी का बना हुआ ढक्कन के आधार पर रक्ख कर, जल से सामान्यरूप से धोकर, अग्नि से सिद्ध करे ॥ इधर, गौ के नाभि के समीप से काट कर, मेद निकाल, इस के चमरा निकालने की आज्ञा करे ॥ २७-२८ ॥

यथा न प्रागग्नेर्भूमिᳬंशोणितं गच्छेत् ।२९। शृता मभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ।३०। स्थालीपाकावृता वपा मवदाय स्विष्टकृदावृता वाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥३१॥

परं तत्र विशसने सातर्क्यं मिद मवलम्ब्यम्: 'अग्नेः' 'प्राक्' पुरतः भूमिं 'शोणितं' 'यथा न गच्छेत्' इति । 'शृतां' पक्वां वपाम् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेः उत्तरतः 'उद्वास्य संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनर्घृतेनैवाभिघारणं कुर्यात् । ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां 'वपाम्' स्थालीपाकरीत्या स्विष्टकृद्रीत्या वा अवदानेन 'अवदाय' कर्त्तयित्वा, कर्त्तितमंशं गृहीत्वा "अष्टकायै स्वाहा"-'इति' मन्त्रेण तत्र अग्नौ 'जुहोति' जुहुयात् ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

भाषा—परन्तु चमरा छुड़ाते समय, ऐसा न हो कि अग्नि के आगे हो कर रुधिर वह चले । इस वपा के तैयार होने पर, उसमें घी का ढार दे उसे अग्नि के उत्तर भाग में उतार कर रक्खे और पुनः उसमें घी का ढार देवे तब उस आग में पकी वपा, जो ठंढे के कारण जम जायेगी, 'स्थालीपाक' की रीति से, या स्विष्टकृत् की रीति से उसको चाकू से काट कर, "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्रसे होम करे ॥ २९॥३०॥३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ ३२ ॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्यादिति शेषः । द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिसूचक मिति ॥ ३ ॥ १० ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रेतृतीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्त ॥३॥१०॥

अध्यायश्च समाप्तः ॥ ३ ॥

भाषा—बाकी सब काम 'स्थालीपाक' के नियम से होंगे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठकके दशम खण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥३।१०॥

अनु प्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राची मेकशूलां प्रतीचीमितराम् १

'अनु' पश्चात्, वपाहोमानन्तर मिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वपाश्रपणसाधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखा-विशाखे 'प्रहरति' परिहरेत्, प्रक्षिपेत् । क? पूर्वोक्तन्यायात्

तत्रैवाग्नौ। तत्र च प्रहरणेऽयं नियमः,-'एकशूलां' शाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्राचीं' प्रागग्राम्, 'इतराम्' अपरां विशाखानामिकां वपाश्रपणीं 'प्रतीचीं' प्रत्यगग्राम्; प्रहरेदिति योज्यम् ॥ १ ॥

भाषा-वपा पाक कर्मकी समाप्ति पर उन दोनों * "वपाश्रपणी" को उसी अग्नि में इसप्रकार डाल देवे कि एक शूला पूर्वाग्रा हो एवं अपर पश्चिमाग्रा हो ॥१॥

अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्योऽन्यत्र वामाच्च सक्थ्नः क्लोम्नश्च ॥२॥ वामᳬं सक्थ्यन्वष्टक्याय निदध्यात् ॥३॥

'वामात्' सक्थ्नः, 'क्लोम्नः च,' अन्यत्र, वामसक्थि क्लोम च वर्जयित्वा अन्येभ्यः सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' क्षुरेण खण्डखण्डी कुर्वन्ति ॥ २ ॥ तदखण्डितं 'वामं सक्थि' अन्वष्टक्याय अनुपदवक्ष्यमाणायकर्मणे निदध्यात् संस्थापयेत् ॥ २ ॥ ३ ॥

भाषा—वाम सक्थि और क्लोम छोड़कर, सब अङ्गोंसे खण्ड २ करके मांस ग्रहण करे वाम सक्थि समस्त ही 'अन्वष्टका' कार्यके लिये रक्खे ॥२-३॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च माᳬं सचरुञ्चपृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिण मुदायुवन् ॥ ४ ॥ शृतावभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ५ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां पृथक्पृथक्स्थापिताभ्यां मेक्षणाभ्यां 'प्रदक्षिणं' दक्षिणावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्मिश्रयन् 'श्रपयति' श्रपयेत् पचेदिति। 'शृतौ' तौ चरू 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उद्वास्य' 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

* अर्थात् ऊपर नीचे भाव से जोड़ा पलाश काठ निर्मित, वपा पाक की सिद्धि के लिये दो पात्र। एक में वपा रख कर सिद्ध की जाती और उस के ऊपर ढका रहता है, उन मे से ऊपर वाले पात्र को "शाखा,, और 'एकशूला, भी कहते हैं) इस में वपा रक्षित होती है और उस के ऊपर ढाकने के लिये नीचे मुंह रक्खे पात्र को 'विशाखा, कहते हैं ॥

* यह उस अग्नि में डाला जाता, इस कारण इसे 'वपाश्रपणी, कहते है ॥

भाषा--उसी अग्निमें 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' पकावे, परन्तु दोनों में भिन्न२ चलौने से चलावे, एकही से नहीं। दोनोंके अच्छे प्रकार पक्क जाने पर, घो का ढार दे अग्निके ऊपर भागमें उतारलेवे और पुनः उसमें घीका ढारदेवे ४।५

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानिकृत्वा स्थालीपाकावृतावदानानां कᳶंसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक्

मांसचरुस्थालीतः निचोह्य 'रसं' मांसयूपं 'कसे' कांस्यपात्रे 'अवासिच्य' पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तरनिर्मितकुण्डे 'अवदानानि' यूपहीनमांसखण्डानि 'कृत्वा' स्थापयित्वा 'च' अपि 'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्यागार्थं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापितयूपाधारातिरिक्तकांस्यपात्रे 'स्थालीपाकरीत्या 'अवदानानां' मांसानांकिञ्चिदंशम् 'अवद्यति' सङ्कल्प्यंगृह्णाति ६

भाषा—मांस के यूष को, एक कांसेके वर्त्तन में ढार रक्खे मांस आदिक को एक पत्थरकी कुण्डीमें रक्खे और पुनः उस मांसमें से थोड़ा स्थालीपाक के नियमसे काट लेवे, एवं उसे स्विष्टकृत् यागार्थ दूसरे कांसपत्र में रक्ख छोड़े।६

चरोरुद्धृत्य बिल्वमात्र मवदानैः सह यूषण सन्नयेत् ॥७॥

ओदनचरुस्थालीतः 'बिल्वमात्रं' बिल्वप्रमाणं 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अवदानैः' प्लक्षशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः मांसखण्डैः 'सह' 'यूपेण' कांस्यपात्रस्थेन मांसरसेन 'सन्नयेत् एकीकुर्यात् तत्रैव यूषमध्ये एव स्थापयेदिति ॥ ७ ॥

भाषा—ओदन की हांड़ी से बेलकी बराबर चरु लेकर पत्थर की कुण्डी में रक्खे और मांस खण्ड के साथ कांसे पात्र में रक्खे हुए यूषको मिलावे ॥७

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नावग्निरिति

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चप्रथमया' अष्टाना ऋचां समाहारोऽष्टर्चम् (म० ब्रा० २, २, १२-१८), तत्र या प्रथमा ऋक् तया "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः। स नः स्योनः सुयजा यजा च यथा देवानां जनिमानि वेद" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, २, १२)--'इति' 'अनया जुहुयात्' गृहीतं तत् ॥ ८ ॥

भाषा—पूर्वोक्त रीतिसे चारवार ग्रहण किया हुआ आज्य लेकर 'अग्नावग्निः' आदि आठ मन्त्रों में से "अग्नावग्निः" मन्त्रसे हवन करे ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोत्युत्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येव मेवावरेचतुर्थीपञ्चमीभ्याᳪषष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेष मवदायसौविष्टकृतमष्टम्यां जुहुयात् ।९

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात्) यूषपात्रे नीतात् विल्वप्रमाणात् ओदनचरोः 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'अवदाय' कर्त्तयित्वा 'द्वितीया तृतीयाभ्यःम्' "औलूखलाः सम्प्रदन्ति ग्रावाणो हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम् । एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते ॥ १३ ॥ इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रतिहव्या गृभाय । ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषाᳪ सप्तानां मयि रन्ति रस्तु" (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, २, १३-१४) इत्येताभ्या मृग्भ्यां 'जुहोति' जुहुयात् । तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् "इडायास्पदम्" इत्येतस्याम् एव अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुंज्यात् । 'अवरे' अपरे द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थी-पञ्चमीभ्याम्' "एषैव सा या पूर्व्वा व्यौच्छत् से यमप्स्वन्तश्चरति प्रविष्टा । वधूर्जिगाय प्रथमा जनित्री विश्वे ह्यस्यां सहिमानो अन्तः ॥ १५ ॥ एषैव सा या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभद्विश्वरूपा । सम्वत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली" (स्वाहा) ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, २, १५-१६) इत्येताभ्याम् ऋग्भ्यां षष्ठीसप्तमीभ्यां 'यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रीं धेनु मिवायतीम् । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तराᳪ समाम् ॥ १७ ॥ सम्वत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रिं यजामहे । प्रजा मजर्यां नः कुरु रायस्पोषेण सᳪसृज" (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, २, १७-१८) इत्येताभ्यां जुहुयादिति । 'सौविष्टकृतम्' स्विष्टकृदर्थं 'शेषम्' इत्येताभ्या मृग्भ्यां 'च' एव मेव "उत्तरस्यां स्वाहाकार"-इत्येतन्नियमेनैव स्थालीपाकरीत्या यद्गृहीतम्, तत् 'अवदाय' गृहीत्वा अष्टम्या, "अन्वियन्नो अनुमतिर्यज्ञं देवेष मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनः स नोऽदाहादाशुषे मयः ॥१९॥ (म० ब्रा०२,२,१९) इत्यनयर्चा 'जुहुयात्' ॥९॥

भाषा—पूर्वोक्त विल्व की बराबर जो ओदन चरु मांस के साथ मिला

कर यूषमें रक्खा गया है, उसमें से एक तिहाई लेकर द्वितीय और तृतीय मन्त्रसे एक आहुति देवे, उसके तृतीय आहुति के अन्त में 'स्वाहा' शब्दका प्रयोग करे। अपर दो तिहाई भी चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रसे, एवं छठा और सातवां मन्त्र से, इसी नियम से अर्थात् शेष मन्त्र के अन्तमें 'स्वाहा' जोड़ कर यथाक्रम दो आहुति देवे। सबके अन्तमें अष्टम मन्त्र पढ़कर स्विष्टकृत् यागके लिये पूर्व गृहीत मांस खण्ड आदि से होम करे ॥९॥

यद्युवा अल्पस्वभारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीतापिवा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोग्रास माहरेदपि वारण्ये कक्ष मुपाधाय ब्रूयादेषा मेऽष्टकेति--न त्वेव न कुर्वीत न त्वेव न कुर्वीत १०

'यदि' 'उ' अपि 'वै' निश्चयेन 'अल्पस्वभारतमः' अत्याल्पप्रयोजनः पुरुषः स्यात्, 'अपि' तथापि 'पशुना' सप्तानां ग्राम्याणां पशूना मन्यतमेन येन केनापि 'कुर्वीत' 'एव' सम्पादयीतैव एतामष्टकाम्। 'अपि वा पशवभावेऽपि 'स्थालीपाकं' 'कुर्वीत' एव। अपि वा' स्थालीपाककरणसामर्थ्याभावेऽपि गोग्रासम् आहरेत्'- एतेनापि सिद्धेन्मामाष्टकाकृत्यम्। अपि वा 'अरण्ये' 'कक्षम् उपाधाय' कक्षं दर्शयित्वा, ऊद्ध्र्वबाहुर्भूत्वेति यावत्, एषा मे अष्टका'-'इति' 'ब्रूयात्' एतेनापि सिद्धेन्मामाष्टकाकृत्यम्। 'तु' प्रत्युत गोपश्वलाभे मांसाष्टकां 'न कुर्वीत'--इति 'न एव'। द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिद्योतकमिति समाप्ता मांसाष्टका ॥ १० ॥ १ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके प्रथम खण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥१॥

भा०--यदि विशेष शामग्री न कर सके,तथापि पशुसे ही मांसाष्टका करे। यदि पशुसे न कर सके तो स्थालीपाक से करे। दोनोंके अभाव में गौको ग्रास देने से भी हो सकता है। यदि वह भी न कर सके तो वनमें जाकर दोनों बाहू उठाकर कहे कि...'यही हमारा मांसाष्टका है' किन्तु 'मांसाष्टका' अवश्य करे ॥१०॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके प्रथमखण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥४-१॥

श्वस्ततोन्वष्टक्य मपरश्वां वा ॥ १ ॥ दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे परिवारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् ॥ २ ॥

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम् । 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः, तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥ १ ॥ स्वावासभूमौ 'दक्षिणपूर्वे' दक्षिणपूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोणे, 'अष्टमदेशे' स्वावासस्थानाष्टमे भागे, 'तथायतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम् , 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारादिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्तं कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥ २ ॥

भाषा—अष्टका कार्य के दूसरे दिन या उसके तीसरे दिन 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥ रहने के घर से अग्निकोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण पूर्वदिशा में विस्तृत, इस अग्निकोणाभिमुख स्थापित द्रव्यादि से कार्य सिद्ध करने के लिये रुकावट न हो, ऐसा एक उत्तम मण्डप बनावे॥२॥

चतुरवराद्ध्र्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परिवृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवराद्ध्र्यान्' अपरार्द्धेविदितान् 'चतुःप्रक्रमान्' अन्यूनान् द्वादशपदभूमिं विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमन मार्गः भवेत, 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणं' पूर्वोक्तं 'कृत्वा' 'अग्निं प्रणयन्ति' ॥ ३ ॥

भाषा—-उस मण्डप में ऊपर की ओर कमसे कम १२ बारह पग भूमि छोड़ कर, तत्पश्चात् जाने आने का रास्ता छोड़, नीचे के आधे भाग में रेखा कर वहाँ अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृꣳहयित्वा सकृत्संगृहीतं व्रीहिमुष्टिमवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ॥ ४ ॥

'अग्नेः पश्चात्' उलूखलं' दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र 'सकृत्' एकवारेणैव 'संगृहीतं' व्रीहिमुष्टिम्' कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्येत 'सव्योत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्यां' मुसलं गृहीत्वा 'अवहन्ति' अवहन्यात॥४॥

भाषा-अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल रक्ख कर, उस में एकही वार कईएक मुट्ठी धान्य लेकर, दोनों हाथ से मूसल पकड़ धान्य कूटे।४

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥५॥

तेनावघातेन 'यदा' ते धान्यसंघाताः 'वितुषाः' विगततुषाः 'स्युः' तदा 'सकृदेव' एकवारेणैव तान् अवहतधान्यसमूहान् 'सुफलीकृतान्' शूर्पादिना तुषान् पृथक् कृत्य तण्डुलरूपान् 'कुर्वीत' ॥ ५ ॥

भाषा—पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूसी न रहे, तब उसे सूपसे फटक कर, उस भूसी आदिको उड़ा कर तण्डुल तैयार करे ॥ ५ ॥

अथामुष्माच्च सक्थ्नो माꣳसपेशीमवकृत्य नवायाꣳसूनायामणुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिघाराः पिण्डा भविष्यन्तीति ॥६

'अथ' अपरत्र 'च' 'अमुष्मात्' अष्टकायै हतायाः गोः 'सक्थ्नः' रक्षितवामसक्थिभागात् 'मांसपेशीम्' 'अवकृत्य' कर्त्तनेन गृहीत्वा 'नवायां' 'सूनायां' व्यञ्जनकर्त्तन्यां तथा 'अणुशः' छेदयेत् 'यथा' कर्त्तिताः ते 'मांसाभिघाराः' घृतमिश्रिताः सन्तः 'पिण्डाः' पिण्डाकाराः भवेयुर्नाम ॥ ६ ॥

भा०—इधर, उस पूर्व-रक्षित वाम-ऊरु से मांस-पेशी आदि काट कर नये वर्त्तन में खण्ड २ कर काटे, इस प्रकार खण्ड २ करे, जिस में घी के ढार देते वह पिण्डाकार बन जावे ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रसव्य मुदायुवन् ॥ ७ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां' पृथक् पृथक् स्थापिताभ्यां मेक्षणद्वयाभ्यां 'प्रसव्यं' वामावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात् तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्मिश्रयन्- 'श्रपयेत्' पचेदिति

भाषा—एक ही अग्नि पर 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' को भिन्न २ रक्खेहुए मेक्षणद्वारा बांई ओर से चलावे और ऊपर को चलौना से उठा २ कर देखता हुआ उसे पकावे ॥ ७ ॥

शृतावभिघार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिघारयेत् ॥८॥

'श्रृतौ' तौ चरु 'अभिघार्य' घृतेन, 'दक्षिणा' अग्नेर्दक्षिणतः 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'न प्रत्यभिघारयेत्' अष्टकाया मिवात्र प्रत्यभिघारणं न कुर्वीतेति ॥ ८ ॥

भाषा—इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने पर, घी का ढार दे, अग्नि के दक्षिणभाग में उतारे, परन्तु उस में पूर्ववत् पुनः घी का ढार न देवे ।८

दक्षिणार्द्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्षूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाःप्रादेशयामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

'परिवृतस्य तस्य मण्डपस्य दक्षिणार्द्धे' दक्षिणेंऽशे 'तिस्रः कर्षूः त्रीन् गर्त्तान् 'खानयेत्'; ताश्च कर्षवः 'पूर्वोपक्रमाः' पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः, 'प्रादेशयामाः' प्रादेशपरिमितदीर्घाः, चतुरङ्गुलप्रशस्ताः, 'तथा अवखाताः' चतुरङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति ॥ ९ ॥

भाषा—उस मण्डप के दक्षिण भाग में तीन गढ़ा खुदवावे । इन गढ़ों की लम्बाई प्रादेशमात्र, चौड़ाई ४ अंगुल, चार ही 'अंगुल' गहराई भी होगी ।९

पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्त्यपरेण कर्षूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् ॥ १० ॥ ११ ॥

'पूर्वस्याः कर्ष्वाः' प्रथमस्य गर्त्तस्य 'पुरस्तात्' 'लक्षणं' पूर्वोक्तरूपं 'कृत्वा' तत्र 'अग्निं 'प्रणयन्ति' प्रणयेयुरिति । किञ्च, 'अपरेण कर्षूः' कर्षूणाम् अपरपार्श्वेऽदूरे एव अग्निं 'पर्याहृत्य' परित आहृत्य 'लक्षणे' पूर्वोक्ते 'निदध्यात्' स्थापयेत् ॥१०॥११॥

भाषा—पहिले गड़हे के सामने रेखा खींच कर अग्नि प्रणयन करे और इन दो लक्षणों से अग्नि लावे, और उसे गड़हों के निकट दूसरे बगल में रक्खे ॥ १०-११ ॥

सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिंस्तृणोति कर्षूश्च पूर्वोपक्रमाः १२।१३

'आच्छिन्नं' ईषच्छिन्नं किञ्चिन्मूलच्छिन्नं 'दर्भमुष्टिम्' 'सकृत्' एकवारं 'स्तृणोति' स्तृणुयात्, अग्नेश्चदिक्षु । 'च' अपि 'पूर्वोपक्रमाः' कर्षूः स्तृणुयादेव ।१२,१३

भाषा—कुछ जड़ काटी हुई कुश मुट्ठी एक ही वार में अग्नि के चारों ओर बिछादेवे और पूर्वादि क्रमसे उस गड़हे में भी वही कुशमुट्ठी बिछावे ॥

पश्चात् कर्षूणाᳪस्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्रैः कुशैर्दक्षिणाप्रवणम् ॥ १४ ॥ वृषीञ्चोपदध्यात्तत्र ॥ १५ ॥

'कर्षूणां' गर्त्तानां 'पश्चात्' 'दक्षिणाग्रैः कुशैः' 'दक्षिणाप्रवणम्' 'स्वस्तरम्' 'आस्तारयेत्' ॥ १४ ॥ 'तत्र' कर्षूणां पश्चादेव 'वृषीं' काष्ठासनं 'च' 'उपदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ १५ ॥

भाषा०—तीनों गढ़हेके पश्चिम भागमें दक्षिणाग्र कई एक कुश से दक्षिणा प्रवणस्वरूप स्वस्तरातरण करे, उसी स्थान में काठ का आसन रक्खे ॥१४।१५॥

अस्मा आहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ मेक्षणे कᳪसं दर्वी मुदक मिति ॥ १६ ॥

'अस्मै' अस्य यजमानस्य 'सव्यं बाहुम् अनु लक्षीकृत्य वामभागे इति यावत् 'चरुस्थाल्यौ' मांसौदनयोः 'मेक्षणे' अन्नाद्यावर्त्तनसाधने 'कंसम्' अन्नाद्याधारभूतं कांस्यपात्रम् 'दर्वीम्' परिवेशनसाधनम्' 'उदकम्' च 'एकैकशः' क्रमात् 'आहरन्ति' आहृत्य स्थापयेयुः ॥ १६ ॥

भाषा०—यजमान के बाईं ओर मांस, चरुकी दो हांढ़ी, दोनों के चलौने और जल ले रक्खे ॥ १६ ॥

पत्नी बर्हिषि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि तस्याञ्चैवाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भपिञ्जूलीरञ्जूति सव्यन्तरास्तैलञ्चोपकल्पयेत् क्षौमदशाञ्च ॥१७॥१८॥१९॥२०॥

'पत्नी' यजमानस्य 'बर्हिषि' कुशोपरि 'शिलां' पेषणाधारभूतां 'निधाय संस्थाप्य, तत्र 'स्थगरं चन्दनादिकं गन्धद्रव्यं 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात् । किञ्च 'तस्याम्' एव शिलायाम् 'अञ्जनं' सौवीरं 'निघृष्य' घर्षयित्वा तेन 'तिस्रः दर्भपिञ्जूलीः' 'सव्यन्तराः' व्यन्तरः पुनःपुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा 'अञ्जुति' अञ्जेत । 'च' अपि 'तैलम्' 'उपकल्पयेत्' करतलमर्द्दनादिना पेषणेनैव वा तिलानाम् । क्षौमदशां' क्षुमनिर्मित वसनस्य 'दशां' प्रान्तस्थितदशास्थसूत्रम् 'च' अपि 'उपकल्पयेत्' क्षौमवसनप्रान्ततो निष्कास्य रक्षेत् ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

भाषा०—यजमान की स्त्री बिछाए हुए कुश के ऊपर शिला रक्खे, उस पर चन्दनादि पीसे। एवं उस में 'अञ्जन' घिस कर, उस से तीन दर्भ-पिंजूली थोड़ी २ दूर पर रंगे। उसी शिला पर तेल भी तैय्यार करे एवं रेशमी कपड़े के किनारे से सूत निकाल कर रक्खे॥ १७, १८, १९, २०॥

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्मुखानुपवेश्य दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयाँश्च त्व मनु ते स्वधेति॥२१॥

'शुचौ देशे' पवित्रे स्थाने (कर्षूणां 'दक्षिणत एव, यथा च तेषामग्रत एव कर्षूपिण्डाः स्युः) 'अनिन्द्यान्' पाङ्क्तेयान्' 'अयुग्मान्' त्रीन् 'ब्राह्मणान्' 'उदङ्-मुखान्' 'उपवेश्य' तेभ्यो 'दर्भान्' आसनार्थं 'प्रदाय' 'पितुः' स्वस्य 'नाम' 'गृहीत्वा' "असावेतत्ते"-इत्यादिकमन्त्रेण 'उदकपूर्वं' उदकदानपूर्वम्, 'तिलोदकम्' तिलैर्मिश्रित मुदकं 'ददाति' दद्यात्॥ २१॥

भाषा०--गड्हे के दक्षिण में कुशासन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुंह बिठला कर अपने पिता का नाम धर, एक ब्राह्मण के हाथ में थोड़ा जल देकर "असावेतत्ते"—मन्त्र से तिल मिला जलदान देवे॥ २१॥

अथ उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः॥ २२॥

'इतरयोः' स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिब्राह्मणयोः अपि 'एव मेव' उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् 'अप उपस्पृश्य' जलस्पर्शनं कृत्वा। एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जल-स्पर्शनं हस्तधौतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामोच्चारणपूर्वक मुद-कदानं त मनु तिलोदकदानञ्च प्रकृत्य ततः पुनरपि जलस्पर्शं प्रकृत्य तृतीयब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वक मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कुर्यादिति२२

भाषा०--पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को इसी प्रकार हाथ धो २ कर प्रत्येक को तिल, जल दान करे॥ २२॥

तथा गन्धान्॥२३ अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रणँ होष्यतः॥२४

'गन्धान्' अपि तेभ्यः 'तथा' एव दद्यात् ॥ २३ ॥ 'होष्यतः' होमं करिष्यतो यजमानस्य "अग्नौ करिष्यामि" 'इति' उक्त्वा 'आमन्त्रणं' कर्त्तव्य मिति ॥२४॥

भाषा०—उन्हें उसी प्रकार गन्धादि भी देवे ॥२३॥ होम करने के पहिले यजमान उन तीनों ब्राह्मणों को पूछे कि—अग्निमें पितृगण की अर्चना करूं'

कुर्वित्युक्ते कꣳसे चरू समवदाय मेक्षणेनोपघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वाꣳस्वाहाग्नये कव्यवाहनायेत्युत्तराम् ॥ २५ ॥ २ ॥

तैः आमन्त्रितब्राह्मणैः "कुरु"-'इति' 'उक्ते' होमकरणे प्रवृत्तो यजमानः 'कंसे' कांस्यपात्रे 'चरू' ओदनचरुं मांसचरुञ्च 'समवदाय' एकीकृत्य 'मेक्षणेन' तदीयं किञ्चिद्द गृहीत्वा 'उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात् । तत्र 'पूर्वाम्' आहुतिं "स्वाहा सोमाय पितृमते"—इति, 'उत्तराम्' आहुतिं "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय"-'इति' ॥ २५ ॥ २ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥४।२॥

भाषा—तीनों ब्राह्मण एक वाक्य से 'करो' ऐसा कहें। तब यजमान कांसे के वर्त्तन में मांसचरु और ओदनचरु में से मेक्षण से थोड़ासा एकत्र लेकर उपघात होम करे। उनमें से "स्वाहा सोमाय पितृमते" मन्त्रसे प्रथम आहुति देवे और "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय" से दूसरी आहुति ॥ २५, २ ॥ गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके द्वितीय खण्डका अनुवाद पूरा हुआ ४।२

अत ऊर्द्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम् ॥ १ ॥

'अतः ऊर्द्ध्वम्' इत आरभ्य अन्वष्टक्यसमाप्ति यावत् । 'प्राचीनावीतिना' दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, 'वाग्यतेन' नियतवाग् भूत्वा 'कृत्यम्' एतदन्वष्टक्यं नाम कार्य मिति ॥ १ ॥

भाषा—इसके पश्चात् 'अन्वष्टका' कार्य की समाप्ति तक जो २ क्रियायें करनी हों उन में प्राचीनावीति' होकर करे और संयत् वाक् होकर रहै ॥ १ ॥

सव्येन पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखा मुल्लिखेदपहता असुरा इति ॥ २ ॥

'सव्येन, वामेन 'पाणिना' 'दर्भपिञ्जूलीं' स्वस्तरात् 'गृहीत्वा' दक्षिणे पाणौ "अपहता असुरा रक्षाᳬसि वेदिषदः" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ३)-इति मन्त्रेण 'दक्षिणाग्रां लेखाम्' तयैव पिञ्जूल्या 'उल्लिखेत्' तासु कर्षूष्विति ॥ २ ॥

भाषा-बायें हाथ में 'स्वस्तर' से एक 'दर्भ पिञ्जूली' लेकर दहिने हाथमें लेते हुए, "अपहता असुरा" से तीनों कर्षू से क्रमशः दक्षिण मुंह रेखा करे ॥२॥

सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणार्द्धे कर्षूणां निदध्याद्ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ॥ ३ ॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उल्मुकं ज्वलदग्निं 'गृहीत्वा' आनीय दक्षिणे पाणौ 'कर्षूणां' तासां मध्ये 'दक्षिणार्द्धे' (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) "ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात् प्रणुदत्वस्मात्" ॥४॥ (म० ब्रा० २, ३, ४) इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्थ मुल्मुकं 'निदध्यात्' स्थापयेत् ॥ ३ ॥

भाषा—बायें हाथ से जलती आग ले दहिने हाथ में रक्ख, कर्षू आदि के बीच रेखा पात के अगले भाग में "ये रूपाणि" मन्त्र से स्थापन करे ॥३॥

अथ पितॄनावाहयत्यैत पितरः सोम्यास इति ॥ ४ ॥

'अथ' अनन्तरम् । तत्रैव "एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः । दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रᳬ रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छत" ॥५॥ (म० ब्रा० २, ३, ५)-'इति' 'पितॄन्' पितामहप्रपितामहान् यथाक्रमेण 'आवाहयति' आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

भाषा—फिर उन्हीं तीन कर्षूओं से एक ही समय पिता, पितामह, और प्रपितामह, तीनों को "एत पितरः" मन्त्र पाठानुसार आवाहन करे ॥ ४ ॥

अथोदपात्रान् कर्षूषु निदध्यात् ॥ ५ ॥

'अथ' आवाहनानन्तरम्, 'कर्षूषु' 'उदपात्रान्' त्रीन् एकैकक्रमेण 'निदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

भाषा—इसके पश्चात् उन कर्षूआदि में एक २ जलपात्र रक्खे ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वासलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वा मनु याᳬंश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥ ६ ॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उदपात्रं' इतः पूर्वमेव स्थापित मुदकपात्रं 'गृहीत्वा' तदुदकपात्रस्थं जलम् 'अवसलवि' दक्षिणहस्तवृद्धाङ्गुष्ठमूलेन पितृतीर्थेन पथा 'पितुर्नाम गृहीत्वा' स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं "असाववनेनिक्ष्व"-इति मन्त्रं पठन् 'पूर्वस्यां कर्ष्वां' पातिता ये दर्भाः, तेषु 'दर्भेषु' 'निनयेत्' आहूतं पितरं प्रापयेदिति।६

भाषा—बांयें हाथ से कर्षूके पास रक्खे हुए जलपात्र को लेकर दहिने हाथके अंगूठे की जड़ से जल को पिता का नाम लेकर "असौ अवनेनिक्ष्व" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहिले से रक्खे हुए कर्षू के ऊपर दर्भ में आहूत अपने पिता को-प्राप्त करावे, इसी को 'निनयन' कहते हैं ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ७ ॥

'इतरयोः' पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् 'एवमेव' कार्यम् अपरयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति । तत्र च प्रतिवारम् अप उपस्पर्शनं कर्त्तव्यमिति ॥ ७ ॥

भाषा—पितामह और प्रपितामह के उद्देशसे भी इसी प्रकार 'निनयन' करे, परन्तु प्रतिवार जल स्पर्श करे। पितृ निनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह 'निनयन' करे, फिर हाथ धोकर प्रपितामह के लिये निनयन करे ॥७॥

सव्येनैव पाणिनादर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्र मवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेष ते पिण्डो ये चात्र त्वा मनु याᳬंश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥८।९॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृष्वेव कर्षूषु पिण्डदानञ्च कार्य मिति फलितार्थः । अत्र मन्त्रे "असावेष ते पिण्डः"—इत्येव विशेषः । पूर्वस्थापितां 'दर्वीम्' । 'सन्नीतात्' पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुर्मांसचरुश्च सन्नीतः, तस्मात् । 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांश मिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

भाषा—पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु दर्वी से काटकर तीन भाग करे और एक २ कर क्रम से हाथ धो २ कर कुश के ऊपर अपने पिता का नाम लेकर "असावेष ते पिण्डः"—मन्त्रसे क्रमसे तीन पिण्ड देवे ॥८।९॥

यदि नामानि न विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात् स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति द्वितीयꣳस्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति तृतीयम्॥१०॥

'यदि' 'नामानि' पित्रादीनाम्' 'न विद्यात'? तर्हि 'प्रथमं पिण्ड' "स्वधा०"—'इति'मन्त्रेण'निदध्यात' तत्र कर्षूमध्येपू र्ववदित्येव; 'द्वितीयं' पिण्डं "स्वधा०" 'इति' मन्त्रेण निदध्यादित्येव;-'तृतीयं' पिण्डं "स्वधा०"-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येव॥१०॥

भाषा—यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो पहिला पिण्ड पृथिवीस्थायी पितृगण के लिये, द्वितीय अन्तरिक्ष स्थायी पितृगण के लिये एवं तृतीय द्युलोकस्थ पितृगण के लिये कर्षूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार रक्खे ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्व मित्यपर्यावृत्त्य ॥११॥ पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिषतेति ॥१२॥

पिण्डान् त्रीनेव तिसृषु कर्षूषु यथोपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्य' पर्यावर्त्तनं वर्जयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वं" ॥६॥ (म० ब्रा० २, ३, ६) 'इति' मन्त्रं 'जपति' जपेदिति ॥११॥ 'उच्छ्वासात्' नासिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्तमानः' 'तिस्रः कर्षूः अभिव्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुलुम्फेनेति भावः) 'आवर्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः "अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" ॥७॥ (म० ब्रा० २,३,७) 'इति'इमं मन्त्रं जपेत् अभिपर्यावर्त्तनञ्चैतद्वामत एव पैत्रे सव्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥

भाषा—तीन गड़हों में पूर्वोक्त रीति से रखने पर यजमान एक स्थान में वैठ कर "अत्र पितरः" मन्त्र पढ़े । ११ एक निःश्वास के काल की वरावर वाईं ओर से गड़हे आदि की परिक्रमा कर "अमी मदन्त" मन्त्र को पढ़े ॥१२॥

सव्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्त आञ्जनं ये चात्र त्वा मनु याँश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ १३ । १४ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्' तथैव 'दर्भपिञ्जूलीं पत्न्या सौवीराञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमतोऽप उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति। तदत्र मन्त्रे "असावेतत्त आञ्जनम्"-इत्येव विशेषः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषा—वांये हाथमें उस अञ्जन से रंगे कुशकी तीन पिंजूली लेकर दहिने हाथके अंगूठे की जड़से पूर्व आदि तीन गड़हों में स्थित तीन पिण्ड पर एक २ क्रमसे "असावेतत् त आञ्जनम्" मन्त्रसे प्रदान करे। और प्रथम और २ रे पिण्ड पर पिञ्जूली देने पर एक २ वार हाथ धोवे ॥ १३,१४ ॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५ । १६ ॥

'तथा' पिञ्जलीदानोक्तप्रकारेणैव 'तैलं' पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूपु दद्यात्। किञ्च 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'सुरभि पत्न्या' पिष्टं स्थगरं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूपु दद्यात्। पर मुभयत्रैव 'असावेतत्ते तैलम्"-इति, "असावेतत्तेसुरभि"-इति चोहनं कर्त्तव्य मेव ॥ १५ ॥ १६ ॥

भाषा—तथ पिञ्जूली दानके अनुसार इस मन्त्र से उस २ के ऊपर तैल, सुगन्धि चन्दनादि प्रदान करे। मन्त्र में विशेषता यह होगी कि 'आञ्जन' शब्द के बदले 'तैल' और 'सुरभि' शब्द व्यवहृत होंगे ॥१५।१६॥

अथ निन्हुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणौ कृत्वा नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषायेति मध्यमायाᳬसव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यव इत्यथाञ्जलिकृतो जपति नमो वः पितरः पितरो नमो व इति॥१७।१८।१९।२०।२१॥

'अथ' सुरभिदानानन्तरं 'निन्हुते' निन्हवनं नमस्करणं कार्यमिति । तत्र 'पूर्वन्त स्याम्' 'उत्तमायां' च 'कर्ष्वां' 'दक्षिणोत्तानौ' 'पाणी' कृत्वा' 'मध्यमायां' तु 'सव्योत्तानौ' पाणी कृत्वा' ततो तिसृष्वेव कर्षूष्वेकदैव 'अञ्जलिकृतः' जपति जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् "नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषाय ॥८॥ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय ॥ ९ ॥ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यवे ॥ १० ॥ नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ८-११)-इत्यादिकानिति ॥ १७--२१ ॥

भाषा—अनन्तर पहिला पिण्ड पर दक्षिणोत्तान दोनों हाथ (दक्षिण कर तल ऊपर को रहे एवं उसके ऊपर वायां करतल नीचे को हो) फिर मध्यम पिण्ड पर वायां करतल ऊर्द्ध मुख और उस पर दक्षिण करतल अधो मुख और शेष पिण्ड पर, पुनः दक्षिणोत्तान दोनों हाथ पर सब के अन्त में समस्त पिण्ड लक्ष्य कर अञ्जलि पूर्वक "नमो वः" इत्यादि चार वार नमस्कार करे ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति ॥२२॥ पिण्डानवेक्षते सदो वः पितरो देष्मेति ॥ २३ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते; "गृहान्नः पितरो दत्त" ॥१२॥ (म०ब्रा० २,३,१२)—'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥ ततः सदो वः पितरो देष्म" ॥ १३ ॥ (म०ब्रा० २,३, १३)—'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव अवेक्षेतेति ॥ २३ ॥

भाषा—अनन्तर "गृहान्न" मन्त्र पढ़ कर गृहिनी को देखे ॥ २२ ॥ इसके अनन्तर 'सदोवः पितरो' मन्त्र से पिण्ड आदि देखे ॥ २३ ॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्ते वासो ये चात्र त्वा मनु याꣳश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ २४, २५ ॥

पत्न्या सम्पादिता क्षौमदशा, त एव एवैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा' पूर्वादिषु

कर्षूषु क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु "एतद्वः पितरो वासः" ॥१४॥–इत्येव विशेषः । अत्रापि द्वितीयतृतीययोरप उपस्पर्शनं कार्यं मेव। २४,२५

भाषा—पत्नी द्वारा वने रेशमी कपड़े के किनारे से एक २ सूत लेकर पूर्वादि गड्हे क्रम से पित्रा आदि के नाम ले २ कर "एतद्वः०" मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर प्रदान करे ॥ २४ ॥ २५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् परिषिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति ॥२६॥ मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्राश्नीयादाधत्त पितरो गर्भ मिति ॥ २७ ॥

'उदपात्रं' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा 'अवसलवि' पितृतीर्थेन "ऊर्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतᳪं स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्" ॥१५॥ (म० ब्रा० २, ३, १५)–'इति' मन्त्रेण 'पिण्डान्' त्रीन् एकदैव 'परिषिञ्चेत् ॥२६॥ 'पुत्रकामा पत्नी' "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषः स्यात् ॥१६॥ (म० ब्रा० २, ३, १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यमं पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्नीयात्' ॥२७॥

भाषा—पूर्व स्थापित जल पात्र को वायें हाथ में लेकर पहिले की नाईं 'पितृतीर्थ' मार्ग से अंगूठे से एक ही वार में तीन पिंड पर 'ऊर्ज्जं वहन्ती' मन्त्र से परिषिञ्चन करे ॥ २६ ॥ पुत्र की कामना वाली पत्नी 'आधत्त' मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सब, या थोड़ा भक्षण करे ॥ २७ ॥

यो वा तेषां ब्राह्मणाना मुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥२८॥ अभूत्रो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुक मद्भिरभ्युक्ष्य द्वन्द्वंपात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

'उच्छिष्टभाक्' दौहित्रः श्रद्धासमन्वितश्च । प्राश्नीयादित्येव ॥२८॥ "अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा अवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन् प्रजानन्नग्ने पुनरेहि योनिम्" ॥१७॥ (म० ब्रा० २, ३, १७) 'इति' मन्त्रं पठन् 'उल्मुकं' कर्षूदक्षिणार्द्धे स्थापितम् 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' तदीयेनैव भ-

स्मना 'द्वन्द्वं' यथा स्यात् तथा 'पात्राणि' चरुस्थाल्यादीनि 'प्रक्षाल्य' 'प्रत्यतिहारयेत्' आनयेत् शिष्यादिनेति ॥२९॥

भाषा—उन ब्राह्मणों के उच्छिष्ट खाने वाले जो कोई हों, वे भी इन २ पिण्डों को समस्त या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥ "अभून्नो" मन्त्र को पढ़ कर गड़हे आदि के दक्षिणार्द्ध में रखा इंगोरा पर जल छिड़के एवं उस भस्म पर चरुस्थाली पात्र आदि को धोकर लावे ॥ २९ ॥

अप्सु पिण्डान्त्सादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भोजयेद् गवे वा दद्याद् ॥३०, ३३॥ वृद्धिपूर्त्तेषु युग्मानाशयेत् प्रदक्षिण मुपचारः ॥३४, ३५॥ यवैस्तिलार्थः ॥३६॥३॥

तान् त्रीनेव 'पिण्डान्' भुक्तशेषान् वा पिण्डांशान् 'अप्सु' नद्यादिषु 'सादयेत्' निक्षिपेत् । 'वा' अथवा 'प्रणीते अग्नौ' तत्रैव सादयेदित्येव, 'वा' अथवा ब्राह्मणं' यं कमपि क्षुधातुरं 'भोजयेत्' । 'वा' अथवा 'गवे' यस्यै कस्यै चिद् दद्यादिति समास मन्वष्टक्यम् । ३०—३३ । श्राद्धप्रसङ्गात् वृद्ध्यादिषु विशेष मुपदिशति:—वृद्धिः शरीरवृद्ध्यनुसारतः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्त्तास्तु वापीकूपतड़ागादयः, तेष्वपि कर्त्तव्येषु तत्तत्कर्मणः प्रागेव अन्वष्टक्यवत् पित्रर्चनं कर्त्तव्य मिति । विशेषतस्तु तेषु 'युग्मान्' ब्राह्मणान् 'आशयेत्' इह तु 'अयुग्मान्—इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे 'प्रसव्यम्' इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० ७) वृद्ध्यादिषु तु 'प्रदक्षिणम्' यथा स्यात् तथा 'उपचारः' कर्त्तव्यः इति । ३४, ३५ अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते । तिलैः यः अर्थः प्रयोजनं भवेत्, यवैः अपि स एवार्थः सिद्धेदिति । ३६ ॥ ३ ॥

इतिगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥ ३ ॥

भाषा—उन सब पिण्डों को जल में फेंक देवे, या उसी अग्नि में डाले* या किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन करावे, या किसी गौ को खिलावे । वृद्धि और पूर्त्त ** के उपलक्ष में पितृलोक की अर्चना समय भी पूर्वोक्त सब अनुष्ठान करे । विशेषतः—अन्वष्टका कार्य में १, ३ आदि बेजोड़ ब्राह्मण

* शरीर वृद्धि अनुसार अन्नप्राशन आदि संस्कार ॥ ** वापी, कूप, तालाब आदि का खोदवाना ॥

की व्यवस्था है, यहां २, ४ आदि जोड़े ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्ट का कार्य में वामावर्त्त में चरु पाक करने का नियम है, यहां दक्षिणा वर्त्त में चरु पाक करे॥ तिलसे जो २ कार्य कहे गये हैं, यवसे भी वे कार्य होंगे ॥३४-३६॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थप्रपाठक के तृतीयखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ ॥३६॥

अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥१॥

'पिण्डपितृयज्ञः' पिण्डं शरीरं, भस्मीभूतं तदुपलक्ष्य यत् पितृपुरुषस्यार्चनम्, तदेव कर्म पिण्डपितृयज्ञइत्युच्यते । स च यज्ञोऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अन्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनैव 'व्याख्यातम्' । तत्र स्थालीपाकनियमो यथा विहितः, अत्रापि तथैवेत्यतिदेशः ॥ १ ॥

भाषा—अन्वष्टका कार्य में स्थाली पाक की व्यवस्था के समान पिण्ड पितृ यज्ञ में भी जानना ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥२॥ इतरदन्वाहार्यं मासीनम् ।३। दक्षिणाग्नौ हविषः सश्ंस्करणं ततश्चैवातिप्रणयः।४,५

'तत्' पिण्डपितृयज्ञं कर्म 'श्राद्धम्'—इत्याचक्षते, 'अमावास्यायाम्' पित्रादिमरणानन्तरं प्रथमाया मेव वर्षमध्ये यस्यां कस्याञ्चिद्वा कर्त्तव्यम् ॥२॥ 'इतरत्' अपर मपि श्राद्धम्, 'मासीनम्' मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् 'अन्वाहार्यम्' प्रथम मनु प्रथम मिव व्यवहार्यम् ॥ ३ ॥ आहिताग्नेरिति ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषा—उस पिण्ड पितृयज्ञ-श्राद्ध को पिता आदि के वियोग होने पर, प्रथम अमावास्या को करे, ॥ २ ॥ न होने से वर्षकी किसी अमावास्या को करे अपर ११ अमावास्या को भी ११ श्राद्ध इसी प्रकार करे ॥ ३ ॥ आहिताग्नि यजमानगण, इस श्राद्ध के हवि को, दक्षिणाग्नि में संस्कृत करें और उसी में पूर्वोक्त अग्नि प्रणयन करें ॥ २-३-४-५ ॥

शालाग्नावनाहिताग्नेः ॥ ६ ॥ एका कर्षूः ॥७॥ तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

अनाहिताग्नेः 'शालाग्नौ' गृह्याग्नौ एव ॥६॥ नात्रान्वष्टक्यवत् कर्षूत्रयमिति भावः ॥७॥ 'तस्याः' कर्ष्वाः । नान्वष्टक्यवत् पूर्वत इति भावः ॥८॥

भाषा—अनाहिताग्नि के गृह्यअग्नि में वह कर्म होगा ॥ ६ ॥ यहां अन्वष्टका कार्य की नाईं तीन कर्षू न होंगे, ॥७॥ किन्तु एक ही कर्षू होगा कर्षू के दक्षिण में अग्निस्थान होगा; अन्वष्टका की नाईं कर्षू के पूर्व भाग में ८

नात्रोल्मुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि न निन्हवन मुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् ॥ ६-१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उल्मुकनिधानं' 'स्वस्तरः', 'अञ्जनाभ्यञ्जने', 'सुरभि' 'निह्नवनं' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्त.' एवासौ यज्ञः, 'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशासूत्रमिति समाप्ता प्रासंगिकीकथा९-१५

भाषा—इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य की नाईं "उल्मुक निधान," "स्वस्तर," "अञ्जनाभ्यञ्जन," "सुरभिदान," और "निह्नवन" न करे सुतरां यह उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इस में पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य की नाईं सूत न देकर वस्त्र डालना चाहिये ॥ ६-१५ ॥

माघ्या ऊर्द्ध्व मष्टम्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघमासीयपौर्णमास्याः परस्ताद् कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकाख्या कर्त्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्तव्यः ॥ १६ ॥

भाषा—माघी पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी तिथिको "शाकाष्टका" नामक तृतीय अष्टका करे और उसमें भी पूर्ववत् स्थालीपाक करे ॥ १६ ॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यच्छाकं व्यञ्जन मन्वाहार्यम् ॥ १७, १८, १६, २० ॥

सर्वं पूर्ववत् , विशेषतस्त्विह 'शाकं' नाम 'व्यञ्जनं' भोजनोपकरणम् 'अन्वाहार्य्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७—२० ॥

भा०—स्थालीपाकको कुछ अंशसे "अष्टकायै स्वाहा" से होम करे; अन्यान्य कार्य स्थालीपाकके से होंगे । विशेषतः इसमें शाक व्यञ्जन लावे ॥१७-२०॥

अथ पितृदैवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति वपां जुहुयाद्देवदेवत्येषुजातवेदो वपयागच्छ देवानित्यानाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ २१, २२, २३, २४ ॥

'अथ' अष्टकाविधानसमनन्तरम् । सर्वत्रैव 'पितृदैवत्येषु पशुषु' "वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्थ निहितान् पराचः । मेदसः कुल्या अभितान्त् स्रवन्तु सत्या एषा माशिषः सन्तु कामात्" (स्वाहा) ॥१८॥ (म० ब्रा० २, ३, १८) इति मन्त्रेण,—'देवदेवत्येषु' पशुषु "जातवेदो वपया गच्छ देवाꣳस्त्वꣳहि होता प्रथमो बभूव । सत्या वपा प्रगृहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिदं करोमि" ॥१९॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) इति मन्त्रेण,—'अनाज्ञातेषु' यत्र संज्ञप्यमानपशौ देवता 'आ' सम्यक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदेवत्येषु बहुदैवतेषु वा पशुषु 'तथादेशं' तत्र तत्रैव यथा विहितं तथा विहितानुरूपेणैव मन्त्रेण 'वपां जुहुयात्'। अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति'—'यथा' "अष्टकायै स्वाहा"—'इति' मन्त्रेण 'जुहोति' अष्टकाकर्मणि अष्टकापशोश्च बहुदेवतात्वात् विवदमानदेवतात्वाद्वा अनाज्ञातदेवदैवत्यत्वम् । वपाहोमे 'अन्यत्' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१—२४ ॥

भाषा—जहां पितृगण के निमित्त पशु हनन करे, वहां "वह वपां" मन्त्र से वपाहोम करे । जिस स्थान में किन्हीं देवता के लिये पशुहनन करे, वहां "जात वेदो वपया" मन्त्र से वपा होम करे । जहां कर्त्तव्य कार्य के देवता निश्चय में सन्देह हो कि यहां कौन देवता होवे वहां के लिये विशेष मन्त्र कहा जाता है । ऐसे स्थानों में जो मन्त्र कहा जावे उसी मन्त्र से वपा होम करे । जैसे 'अष्टका' "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्र वपा होम में व्यवहृत होगा । अन्यान्य सब कार्य स्थाली-पाक के नियम से होंगे ॥ २१, २२, २३, २४ ॥

ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयात्कुसीद मिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

'ऋणे प्रज्ञायमाने' स्वल्प सूक्ष्मम्, ऋण मिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र, बहूणे जाते इति यावत् । 'गोलकानां' पलाशानां (?) 'मध्यमपर्णेन' "यत् कुसीद मप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्तो ददानि" ॥ २० ॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) 'इति' मन्त्रेण जुहुयात् ॥ २५ ॥ 'अथ' अनन्तरम् । 'अतः' आरम्भ 'हलाभियोगः' हलप्रयोग-उपदिश्यते इतिशेषः ॥ २६ ॥

भाषा—जब यह जाने कि ऋण बहुत हो गया, तो "यत् कुसीदम्" मन्त्र का पाठ करके ऋण संख्यानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम पलाश पत्रका होम करे ॥ २५ ॥ अब हलप्रयोग का विधि कहा जाता है ॥ २६ ॥

पुण्ये नक्षत्रे स्थालीपाकꣳश्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय ।२७। सीतामाशामरडामनघाञ्च यजेत ॥ २८ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥ सीतादीनि चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत् ॥ २८ ॥

भाषा—पुण्य नक्षत्र में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहिले स्थालीपाक कर वक्ष्यमाण देवता आदि को आहुति देवे; "इन्द्राय स्वाहा" मन्त्र से देवराट् को, *'मरुद्भ्यः स्वाहा,' से मरुद् गण ** को, 'पर्यन्याय स्वाहा' से पर्जन्य देव को *** अशन्यै स्वाहा' से अशनि देवता को **** और 'भगाय

* जो वृत्र (मेघ) के साथ युद्ध कर, बहुत वज्र फेंक, उस असुर के (बलवान् जलाधार के) शरीर को खण्ड २ करते एवं शची (सब कर्मों के) पति, जिनके प्रभाव से सब क्रिया सिद्ध होती है (ऐश्वरीय बल विशेष)

** जो देवगण वृत्रासुर के साथ युद्ध काल में इन्द्र की सहायता करते हैं और पीछे वृत्र देह को खण्ड २ होने पर पृथिवी पर वेग पर वेग के साथ गिराते हैं (वायु समूह) ॥

*** जो वेद में वृत्रासुर नाम से परिचित हैं (मेघ) ॥

**** वज्र—। वस्तुतः मेघाश्रित तेज मात्र को अशनि कहते, जिसके प्रकाशमान् ज्योति को 'विद्युत, कहते हैं ॥

स्वाहा' से भग देवता को ॥ २७ ॥ सीता, * (हल का फाला) आशा, अरडा, अनघा की पूजा करे ।२८। ****

एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवणप्रलवनपर्य्ययणेषु । २९ । आखुराजश्चोत्करेषु यजेत ॥ ३० ॥

यदा 'सीतायज्ञः' सीतायाः लांगलपद्धतेश्चालनम्, 'खलयज्ञः' खले शस्यादीनां मर्द्दनम् , 'प्रवपणम्' शस्यवीजानाम् , 'प्रलवनम्' पक्वानां शस्यानां छेदनम् , 'पर्ययणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम् ; अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः ॥ २९ ॥ 'उत्करेषु' मूषिकास्थानेषु 'आखुराजश्च' 'यजेत' तत्खाद्य दानेन तोषयेत् ॥ ३० ॥

भाषा—जब हल चलावे, खलिहान में दौनी करे, खेत में बीज बोये, पके शस्य काटे जावें, एवं जिस समय तैयार अनाज घर में लावे; तब २ पूर्वोक्त इन्द्रादि देवता को स्मरण करे ॥ २९ ॥ पीछे शस्य आदि घर में रखने पर चूहे के बिल में भी मूस की तुष्टि के लिये कुछ अनाज देवे ॥३०॥

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा तप्यमानेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ ३३ ॥ ४ ॥

इन्द्राणीदेवतातोषणाय 'स्थालीपाकः' पक्तव्यः । पक्वस्य च 'तस्य' स्थालीपाकस्य अंशं गृहीत्वा "एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमान मिन्द्रम् । तेन देवा असहन्त शत्रून् हन्ता सुराणा मभवच्छचीभिः" ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० २, ३, २१)—'इति' मन्त्रेण जुहुयात" । ३१, ३२ । 'अन्यत्' सर्वं यदत्रानुपदिष्टं तत, 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् , न तत्र कश्चिदपि विशेष इति भावः । द्विरुक्तं खण्डसमाप्तिसूचक मिति हलाभियोगः ॥३३॥४॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेचतुर्थखण्डस्यव्याख्या.नंसमाप्तम् ॥४॥४॥

**** भग शब्द ऐश्वर्य वाचक और कृषिही सब प्रकार के ऐश्वर्य की जड़ है अतएव जिस देवता के अनुग्रह से कृषि सुफल हो, उन्हीं को 'भग, देवता कहते (सूर्य) ॥

* सीता प्रभृति चार ही खेती के यन्त्र होते हैं ।

भाषा—अनन्तर इन्द्राणी देवता की प्रसन्नता के लिये स्थालीपाक करे और परिपक्व स्थालीपाक में से थोड़ा लेकर "एकाष्टका तपसा"–से आहुति देवे ॥ ३१।३२ ॥ अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक केसे करे ॥ ३३ ॥ गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थप्रपाठकके चतुर्थखण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥४, ४॥

काम्येष्वत ऊर्ध्वम्पूर्वेषु चैके ॥ १, २ ॥

'अत ऊर्ध्वं' यत् किञ्चिद्वक्ष्यमाणं तत्सर्व मेव 'काम्येषु' वेदितव्यम् । 'एके' प्रधानाः, गोभिलादयः पुनराचार्याः वक्ष्यमाण मपि किञ्चित् विरूपाक्षजपादिकम् 'पूर्वेषु' नित्यनैमित्तिकेषु 'च' स्वीकुर्वन्ति ॥ १, २ ॥

भाषा—अब काम्य कर्म को कहेंगे प्रधान आचार्यों के मत में वक्ष्यमाण विरूपाक्ष जप आदि कार्य्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य्य में भी करे॥१,२॥

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदम्भूमेर्भजामह इति ॥ ३ ॥ वस्वन्तꣳरात्रौ धन मिति दिवा ॥ ४ ॥ इमꣳस्तोम मिति तृचेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

'अग्नेः पश्चाद्' 'भूमौ' 'पाणी' स्वकीयौ 'न्यञ्चौ' आत्माभिमुखौ वक्रौ 'प्रतिष्ठाप्य' "इदम्भूमेर्भजामह इदं भद्रꣳ सुमङ्गलम् । परा सपत्नान् बाधस्वान्येषां विदन्ते वसु ॥ (अन्येषां विदन्ते धनम्)" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २,४,३) 'इति' मन्त्रं जपेदिति भूमिजपः ॥३॥ 'रात्रौ' भूमिजपं चेत् 'वस्वन्तं' वसुपदान्तं मन्त्रं जपेत् 'दिवा' अहनि चेत् 'धनम्'—इत्यन्तं जपेदित्येव ॥ ४ ॥ "कृत्वाग्न्यभिमुखौ हस्तौ स्वस्थानस्थौ सुसंहितौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात् परिसमूहनम्"—इति कर्मप्रदीपः । तिसृणा मृचां समाहारः तृचः तेन । एष च तृचः उ० आ० ४, १, ७, १–२–३ । "इमꣳ स्तोम मर्हते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया । भद्रा हि नः प्रमतिरस्य सꣳसद्यग्ने सख्ये मारिषामा वय तव ॥ ॥ २ ॥ भरामेध्म कृणवामा हवीꣳषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम् । जीवातवे प्रतराꣳसाधय धियोऽग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव ॥ ३ ॥ १ केनत्वा

समिधᳪं साधया धियस्त्वे देवा हविरदयन्त्या हुतम्। त्वमादित्याᳪं आवह ताᳪं ह्य ृ श्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव" ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० २, ४, २-४) ५

भाषा—अग्नि के पश्चिम भाग में, अपने दोनों हाथोंको अपने सम्मुख वक्रभाव से रक्खे "इदं भूमेर्भजामहे" मन्त्र का जप करे। इसी को 'भूमिजप' कहते हैं ॥ ३ ॥ रात्रि काल में इस मन्त्र को अन्त में 'वसु' इस पदका प्रयोग करे और दिन में, 'धनम्' पढ़े ॥४॥ "इमं स्तोम" प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूह न करे (ये तीनों मन्त्र उ० आ० ४, १, ७, १—२—३, और मं० ब्रा० के २ । ४ । २-४ मंत्र हैं) ॥ ५ ॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाङ्काम्येषु च प्रपदस्तपश्चतेजश्चेति ६,७

नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वत्रैव 'होमानां' पुरस्तात्' वैरूपाक्षः "विरूपाक्षोऽसि दन्ताञ्जिस्तस्य ते शय्यापर्णों गृहा अन्तरिक्षे विमितᳪं हिरण्यं तद्देवानाᳪं हृदयान्ययस्मये कुम्भे अन्तः सन्निहितानि तानि बलभृच्च बलसाच्च रक्षतोऽप्रमनी अनिमिषतः सत्यं यत्ते द्वादश पुत्रास्ते त्वा सम्वत्सरे सम्वत्सरे कामप्रेण यज्ञेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मचर्यमुपयन्ति त्वं देवेषु ब्राह्मणो ऽस्यहं मनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मण मुपधावत्युप त्वा धावामि जपन्तं मामा प्रतिजापी र्जुह्वन्तं मामा प्रतिहौषीः कुर्वन्तं मामाप्रतिकार्षीस्त्वां प्रपद्ये त्वया प्रसूत इदं कर्म्म करिष्यामि तन्मे राध्यतां तन्मे समृध्यतां तन्म उपपद्यतां समुद्रो मा विश्वव्यचा ब्रह्मानुजानातु तुथो मा विश्ववेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानातु श्वात्रो मा प्रचेता मैत्रावरुणो ऽनुजानातु तस्मै विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये समुद्राय विश्वव्यचसे तुथाय विश्ववेदसे श्वात्राय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः ॥ ६ ॥ (मं० ब्रा० २, ४, ५)—इति मन्त्रः पठितव्यः। 'काम्येषु' कर्मसु 'प्रपदश्च' "तपश्च तेजश्च श्रद्धा च ह्रीश्च सत्यञ्चाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्मश्च सत्वञ्च वाक्च मनश्चात्मा च ब्रह्म च तानि प्रपद्येतानि मा मवन्तु भूर्भुवः स्वरोम्महान्त मात्मानं प्रपद्ये" ॥ ५ ॥ (मं० ब्रा० २,४,५)—'इति' प्रपदमन्त्रोऽपि पठितव्यः ॥ ६, ७ ॥

भाषा—नित्य, नैमित्तिक और काम्य, कर्मों के होम के पहिले "विरूपाक्षोसि" मन्त्र पढ़ें। सब काम्य कर्मों में "तपश्च" आदि मन्त्र को भी पढ़े ६।७

जपित्वा प्राणायाम माथम्यार्थमना वैरूपाक्ष मार भ्योच्छ्वसेत् ॥ ८ ॥

काम्येषु प्रपदवैरूपाक्षयोरुभयोरेव जपो विहितः। तत्र प्रपदजपानन्तरं प्राणायामः कर्त्तव्यः। "पूरककुम्भरेचकाख्यः प्राणायामः"—इति सन्ध्यासूत्रोक्त एवात्र ग्राह्यः। तत्र पूरककुम्भकयोः प्रपदमन्त्रार्थमननं कर्त्तव्यम्, रेचकारम्भत एव वैरूपाक्षमन्त्रं जपेदिति ॥ ८ ॥ अथ भोजनग्नियमः।—

भाषा—काम्य कर्मों में 'प्रपद' मन्त्र और 'वैरूपाक्ष' मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उन में प्रपद मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं इस प्राणायाम काल में 'पूरक' और 'कुम्भक' प्रपद मन्त्र के अर्थ का विचार कर 'रेचक' प्राणायामानुसार वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे ॥ ८ ॥

काम्येषु त्रिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि ।९,१०।

'काम्येषु' कर्मसु कर्त्तव्येषु 'तिरात्राभोजनं' कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्त्तव्यम्। 'वा' असमर्थश्चेत् तेषु दिवसेषु त्रीणि' एव 'भक्तानि' भोजनानि कर्त्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं नैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम्; न तु यथानियमं वारद्वयम् ॥९-१०॥

भाषा—काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन मध्यान्ह और दो रात का भोजन छोड़ देवे, यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम से कम, एक भोजन छोड़ देवे। दिनरात में केवल एकवार भोजन करे ॥ ९।१० ॥

नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु ॥ ११ ॥ उपोष्य तु यजनीयप्रयोगेषु ॥ १२ ॥

कञ्चित् काम मभिलक्ष्य यत् कर्म द्विवार मनेकवारं वा क्रियते, तदेव नित्यप्रयुक्त मित्युच्यते; तादृशानान्तु कर्मणां 'प्रथमप्रयोगेषु' एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्त्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥ यानि कर्माणि बहुदिनं यावत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते, तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य प्रातराशादिक मल्पाहार मेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

भाषा-जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक वार करना पड़े, उसमें एकही वार, प्रथम वारमें पूर्वोक्त पहिला तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रतिवार कार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे,या एक भोजन न करे ॥११॥ जो सब कर्म बहुत समयमें समाप्त हो, उनमें प्रति दिन प्रातराशादि थोड़ा * खा २कर काम में प्रवृत्त हो ॥१२॥

उपरिष्टाद्द् दैत्तथंसान्निपातिकम् ॥ १३ ॥

'सान्निपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, उपरिष्टाद्दैक्षं' निमित्त घटनात् पर मेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्य मिति भोजननियमः ॥ १३ ॥ अथ ब्रह्मवर्च्चसकामकर्म-

भाषा—निमित्त घटना के पीछे नैमित्तिक कर्म्म समूह की दीक्षा कर्त्तव्य है, वही वैसे कार्यों के लिये निर्दिष्ट काल है, उस के पूर्व अभोजन, या एक भोजन, या 'उपवास' यथा सम्भव व्यवस्थित होंगे ॥ १३ ॥

अरण्ये प्रपदं प्रयुञ्जीत दर्भेष्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्म-वर्चसकामः ॥ १४ ॥ उदक्कूलेषुपुत्रपशुकामः ॥ १५ ॥

यः कश्चन 'ब्रह्मवर्च्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' सन् 'प्रपदं' (तपश्च पृ० १८९)-इति मन्त्रं 'प्रयुञ्जीत' ॥१४॥ यः कश्चन पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु दर्भेषु आसीनः त मेव प्रपदमन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥ १५ ॥ अथ ब्रह्मवर्चस-पुत्रपशुकामकर्म—

भाषा-जो कोई 'ब्रह्मवर्च्चस' की इच्छा करे, वह वनमें जा कर पूर्वाग्र रक्खे हुए कुश पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्रसे पठित मन्त्रोंसे साधना करे ॥१४॥ और जो कोई पुत्र, या पशुकी इच्छा करे, वह वनमें जाकर उत्तराग्र कुश पर बैठकर इस "प्रपदः' मन्त्रसे साधना करे ॥ १० ॥

उभयेषूभयकामः ॥ १६ ॥ पशुस्वस्त्ययनकामो व्रीहि-यवहोमं प्रयुञ्जीत सहस्रवाहुर्गौपत्य इति ॥ १७ ॥

* प्राचीन समय में 'प्रातराश, आदि थोड़े खाने को 'उपवास' कहते थे, इदानी 'उपवास, शब्दसे एक मात्र भोजन नहीं करना समझा जाता है, जो उस समय 'अभोजन' शब्द से व्यवहृत होता था ।

'उभयकामः' प्रथमसूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्च्चसं द्वितीयसूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स खलु अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषुः' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, त मेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥ १६ ॥ पशूनां गृहपालितानां गवादीनां स्वस्त्ययनं कामयेत चेत् "सहस्त्रबाहु गौंपत्यः स पशून-भिरक्षतु। मयि पुष्टिं पुष्टिपति र्दधातु मयि प्रजां प्रजापतिः" (स्वाहा) ॥ ७५ ॥ (म० ब्रा० २, ४, ७)–'इति' मन्त्रेण 'व्रीहियवहोमं' व्रीहिणा यवेन च आहु-तिमग्नौ 'प्रयुञ्जीत' ॥ १७ ॥

भाषा—प्रथम सूत्रोक्त 'ब्रह्मवर्च्चस' एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह बन में जा कर, पूर्वाग्रकुश बिछा कर उस पर उत्तराग्र कुश रक्ख, उस पर बैठ 'प्रपद' मन्त्र से साधना करे ॥१६॥ जो पालतू गौ भेड़ आदि की भलाई चाहे, वह "सहस्रबाहुः" मन्त्र से धान्य और यव का होम करे॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्या-त्मनि प्रसाद मिच्छेत्तस्मा एकभूयाꣳस्यात्मनायुग्मानि कु-र्यात् ॥ १८ ॥ १९ ॥ वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ॥ २० ॥

अथ प्रसादकामकर्म—'यस्य' कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा 'प्रसादम्' प्रसन्नताम् 'इच्छेत्', 'तस्मै' 'कौतोमतꣳ संवननꣳ सुभागं करणं मम नाकुली नाम ते माताथाहं पुरुषानयः। यन्नौ कामस्य विच्छिन्नं तन्नौ सन्धे ह्योषधे" ॥८॥ (म०ब्रा०२,४,८) महावृक्षफलानि गुवाकानि आम्राणि वा 'परिजप्य' 'प्रयच्छेत्'। तानि च फलानि 'एकभूयांसि' एकस्मिन्नेव गुच्छे बहूनि विद्यन्ते चेत्, तर्हि दानात् पूर्वमेव 'आत्मनः' आत्मना स्वयमेव 'अयुग्मानि' विच्छिन्नानि 'कुर्यात्' ॥१८–१९॥ अथ पार्थिवं कर्म–(म० ब्रा ०२, ४, ९–१३) अधिकृतो वेदितव्यः ॥ २० ॥

भाषा—किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ की इच्छा हो तो उस व्यक्ति को "कौतोम" मन्त्रसे पठित कई एक* महावृक्षफल प्रदान करे, इन फलों

* इससे महावृक्ष फल शब्द से यहां 'आम् और गुवाक (सुपारी) इत्यादि जानना ॥

को गुच्छासे स्वयं एक २ कर तोड़ लेवे ॥१८,१९॥ "वृक्ष इव" इत्यादि जो पांच मन्त्र हैं, उन का व्यवहार, यथाक्रम से कहा जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ॥ २१ ॥ अर्द्धमास मभुक्त्वाऽशक्तौ वा पेयः मन्यतरं कालम् ॥ २२ ॥ २३ ॥

'तस्मिन्' अधिकृते पञ्चर्चे, तेनैव पञ्चर्चेन समुदितेन 'प्रथमम्' एकं 'कर्म' 'पार्थिवं' क्षेत्राद्यर्थं कुर्वीतेति ॥ २१ ॥ तच्च पार्थिवं कर्म 'अर्द्धमास मभुक्त्वा' एव कार्यम् । अभोजनेऽसमर्थश्चेत् 'अन्यतरं कालं' दिवा रात्रौ वा एकवार मेव 'पेयां' मण्ड-दुग्धादिकं पिवेदिति ॥ २२ ॥ २३ ॥

भाषा—उन्हीं पांच मन्त्रों से पहिले पार्थिव कर्म खेत को ऐसा करे कि जिस से उस में सब प्रकार के शस्य अच्छेप्रकार उत्पन्न हों) इत्यादि सिद्धि के लिये एक क्रिया का अनुष्टान किया जाता है ॥ २१ ॥ यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रह कर करे, यदि विना खाये न रहा जावे, तो एक समय केवल पेय पान करे ॥ २२ ॥ २३ ॥

यत्रात्मानं परिपश्येत् ॥२४॥ एतद्व्रत मर्द्धमासव्रतेषु ॥२५॥

'यत्र' पेयायाम् 'आत्मानं' आत्मच्छायां दर्पणादाविव 'परिपश्येत्' तादृशीमेव तरलां पेयां पिवेदिति २४ 'एतत्' पार्थिवं कर्म 'व्रतम्' उच्यते, तच्च 'अर्द्धमासव्रतेषु' गण्यते । तथाच शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धा ॥२५॥

भाषा--जिस 'पेय' वस्तु में अपना मुंह दीख पड़े ऐसा तरल पदार्थ पीवे ॥ २४ ॥ यह पार्थिवकर्म एक व्रत विशेष है, यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है । यह व्रत शुक्लपक्ष की परिवा से आरम्भ कर पूर्णिमा को पूरा करे ॥२५॥

पौर्णमास्यांᳪरात्रावविदासिनि ह्रदे नाभिमात्र मवगाह्याक्षततण्डुलानृगन्तेष्वास्येन जुहुयात् स्वाहेत्युदके २६

'पौर्णमास्यां रात्रौ' 'अविदासिनि' 'ह्रदे' निदाघेऽपि यस्य विदासः शोषो न, तादृशे जलाशये 'नाभिमात्र मवगाह्य' 'अक्षततण्डुलान्' आस्ये कृत्वा तेनैव 'आस्येन अधिकृतानां पञ्चानामेकैकेनर्चा 'उदके' तत्रैव 'जुहुयात्'; 'ऋगन्तेषु'

तासां पञ्चाना मृचा मन्त्रेषु च 'स्वाहा–इति' ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥

अथ भोगादिकामकर्माणि ।—

भाषा—पूर्णिमा की रात में अविदासी जलाशय में (जिस का जल ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे) नाभि मात्र जलमें पैठ, स्नान कर, मुंहमें अक्षत तण्डुल ले कर उन्हीं पांच मन्त्रों से, उसी जल में एक २ कर पांच आहुति देवे एवं मन्त्रों में से, प्रत्येक के अन्त में "स्वाहा" शब्द को भी जोड़ताजावे॥२६॥

अथापरम् ॥२७॥ प्रथमयाऽऽदित्यमुपतिष्ठेत भोगकामोऽर्थपतिचक्षुर्विषये सिद्धत्यर्थः ॥ २८ ॥

पञ्चाना मधिकृताना मृचां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम उक्तम्; 'अथ' अनन्तरम्, तासामेवर्च्चा मसमुदितानां व्यवहारेण 'अपरम्' द्वितीयं कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥ 'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' "वृक्ष इव पक्वस्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुवस्पते । यस्त्वैवैवं वेद तस्मै मे भोगान् धुक्ष्वाक्षतान् बृहन्" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ४, ९)--इत्यनयर्च्चा 'आदित्य मुपतिष्ठेत' । क्वोपतिष्ठेत ? इत्याह,--'अर्थपतिचक्षुविषये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्यैव चक्षुर्गोचरे प्रदेशे तथाच 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्ध्यति' ॥२८॥

भाषा—उक्त पांच मन्त्रों से पहिले पार्थिव कर्म कहा गया है, अब उन्हीं पांच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक २ अपर कर्म कहा जाता है ॥ २७ ॥ भोग चाहने वाला वह "वृक्ष इव" मन्त्र से सूर्य्योपस्थान करे । प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, वहीं करने से मनोरथ सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

द्वितीययाऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद् बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः ॥ २९ ॥

पत्रं वाहनम्, बृहत्पत्रं हस्त्यश्वादि, 'बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' "ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह । आकाश उपनिरज्जतु मह्यामन्न मथोश्रियम्" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ४, १०)--इत्यनयर्च्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' 'अक्षत तण्डुलान्' 'जुहुयात्' "वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभा व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु सः स्मृतः" । इति ॥२९॥

भाषा-हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थ "ऋतं सत्ये" द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हवन करे। यह कर्म सूर्य मण्डलमें परिवेष समय करे॥२६॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययन कामः ॥ ३० ॥ चतुर्थ्यादित्य मुपस्थायार्थान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थवानागच्छति ॥ ३१ ॥

क्षुद्रपशवो गोमेषादयः, तत्स्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया "अभिभागोऽसि सर्वस्मिꣳ स्तदु सर्वं त्वयिश्रितम्। तेन सर्वेण सर्वो मा विवासन विवासय" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ४, ११)--इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव काले 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥ २८ ॥ 'चतुर्थ्या' "कोश इव पूर्णो वसुना त्वं प्रीतो ददसे। अदृष्टोदृष्ट माभर सर्वान् कामान् प्रयच्छ मे" ॥ १२ ॥ (मा० ब्रा० २, ४, १२)--इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाय' 'अर्थान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान् सन् आगच्छति' गृहानिति ॥ ३१ ॥

भाषा-गौ, भेड़ आदि छोटे २ पशुओं के कल्याण चाहने वाले "अभिभगोऽसि" मन्त्रसे तिल तण्डुल होम करे,चन्द्रमण्डलमें परिवेष कालमें यह कर्म्म करे ॥ ३० ॥ "कोश इव" से सूर्य्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने से प्रयोजन सिद्ध कर घर वापस आवेगा ॥ ३१ ॥

पञ्चम्यादित्य मुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहानागच्छति स्वस्तिगृहानागच्छति ॥ ३२ ॥ ५ ॥

'पञ्चम्या' "आकाशस्यैष आकाशे यदेतद्ध भाति मण्डलम्। एवं त्वा वेद यो वेद वेदेशानेशान् प्रयच्छ मे" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १३)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाय' 'गृहान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः प्रवासात् प्रतिचलितः 'स्वस्ति' यथा स्यात्तथा 'आगच्छति' प्रत्यायाति। द्विर्वचनं खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् ॥ ३२ ॥ ५ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥४,५॥

भाषा—"आकाशस्यैष" इस पञ्चम मन्त्र से सूर्य्योपस्थान कर अपने

घर को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आवेगा ३२।५।
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ अध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ।५

भूरित्यनकाममारं नित्यंप्रयुञ्जीत न पापरोगान्नाभिचाराद्भयम्

भूर्भुवः स्वरो३ म् सूर्य इव दृशे भूयासमग्निरिव तेजसा वायुरिव प्राणेन सोम इव गन्धेन बृहस्पतिरिव बुद्ध्याऽश्विनाविव रूपेणेन्द्राग्नी इव बलेन ब्रह्मभाग एवाहं भूयासं पाप्माभागा मे द्विषन्तः १४ (म० ब्रा० २, ४, १४) 'इति' अनकाममारं; इच्छामरणसाधनं मन्त्रं 'नित्यं' सततमेव प्रतिदिनं वा 'प्रयुञ्जीत' तेन 'न' 'पापरोगात्' कुष्ठादितः, न च 'अभिचारात, शत्रुकृतात् 'भयम्' स्यात ॥१॥

भाषा—जो विना कष्ट उचित समय मृत्यु की इच्छा करें। (अकाल मृत्यु न हो,) वे "भूः" मन्त्र को सतत जप करें, मन्त्र के प्रभावसे शत्रुकृत मारण आदिसे भय नहीं रहता कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया २

मूर्ध्नोऽधि मे वैश्रवणाच्छिरसोऽनुप्रवेशिनः। ललाटाद्ध घस्वरान् घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो मेऽनुप्रवेशिनः। मुखान्मे वद्वदान् घोरान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥२॥ बाहुभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि। उरस्तो वद्वदान् घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ३ ॥ वङ्क्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पञ्जिहानधि। ऊरुभ्यो निश्लिपो घोरान् विघ्नान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ जङ्घाभ्यां मे यतो यतः पाष्ण्योरुत्तु तानधि। पादयो विंकारान् विवृहामि वः (स्वाहा) ॥ ५ ॥ परिबाधं यजामहेऽणु जङ्घ३म् शबलोदरम्। योनोऽयं परिवाधते दानाय च भगाय च (स्वाहा) ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १-८) 'इति' अष्टर्चस्य सूक्तस्य 'एकैकया' ऋचा एकैका आहुतिर्होतव्या। अय मेव पूर्वोक्तो यजनीयप्रयोगः'—इत्युच्यते। एतस्यहि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्णोदः दारिद्र्यनाशः भवेदिति ॥२॥

भाषा—"मूर्ध्नोधिमे" इत्यादि मन्त्रों से एक २ आहुति प्रदान करे। यहयजनीय प्रयोग में गणनीय है। इस क्रिया के फल से दारिद्रता दूर होती है ॥२॥

या तीरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजापत इत्युत्तमया ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, सा मन्त्रपाठक्रमात् "अपेहि त्वं परिबाध मा विबाध विग्याधथाः । सुग पन्थानं मे कुरु येन मा धन मेष्यति" (स्वाहा) (म० ब्रा० २, ५, ७)—इत्यनया प्राप्ता' परं न तथाभीष्टा; अपि तस्याः स्थाने "या तिरश्ची (?)"—इत्येषा प्रयोक्तव्या । किञ्च; ततो 'वामदेव्य-र्च्चः (उ० आ० १, १, १२, १)'—महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयꣳस्याम पतयो रयीणाꣳ" (स्वाहा) ॥८॥ (म० ब्रा० २, ५ ८) इत्यनया अष्टम्या ऋचा अष्टमी आहुतिर्होतव्येति ॥३-६॥ अथ यशस्कामकर्म ।

भाषा—इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होंगी, उनमें सप्तम मन्त्र से सप्तम आहुति न दे कर "या तिरश्ची" मन्त्र से सप्तम आहुति होगी एवं उस के पश्चात् 'वामदेव्य' आदि (उ०आ० १, १, १२ १) तीन मन्त्रों से और उसके पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे इस के पश्चात् "प्रजापते" इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देवे ॥ ३-६ ॥

यशोऽहं भवामिति यशस्काम आदित्य मुपतिष्ठेत पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णेषु प्रातरह्नस्येति सन्नामयन् ॥ ७ ॥

'यशस्कामः' पुरुषः, "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम्। यशः सत्यस्य भवामि भवामि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्मा यन्तु देवता या मदपचक्रमुः । महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥ १० ॥ रूपं रूपं मे दिशः प्रातरह्नस्य तेजसः । अन्नमुग्रस्य प्राशिष मस्तु मयि । मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥११॥ यदिदं पश्यामि चक्षुषा त्वया दत्तं प्रभासया तेन मा भुञ्ज तेन भुक्षिषीय तेन मा विश ॥ १२ ॥ अहर्नो अत्यपीपरद्रात्रिर्नो अतिपारयत् । रात्रिर्नो अत्यपीपरदहर्नो अतिपारयत्" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ५, ९-१३)—'इति' पञ्चर्च्चं सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं 'प्रातरह्न-

स्येति' पदं 'सन्नामयन्' यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्त्तयन्, पूर्वाह्णपराह्णेषु, त्रिष्वेव कालेषु' 'आदित्य मुपतिष्ठेत'॥७॥अथ स्वस्त्ययनकामकर्म—

भाषा—जिन्हें यश की कामना हो, वे "यशोऽहं" इन पांच मन्त्रों से प्रातः मध्याह्न, और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करें 'प्रातरह्णस्य' यह पाठ यथा काल परिवर्त्तन करें। अर्थात् मध्याहन काल में उस के स्थान में "माध्यन्दिनस्य" और सायं समय 'अपराह्णस्य' ऐसा कहें ॥ ७ ॥

सन्धिवेलयोरुपस्थानꣳस्वस्त्ययन मादित्यनाव मिति ॥८॥

'सन्धिवेलयोः' उभयोरेव "आदित्यनाव मारोक्षं पूर्णामपरिपारिनीम्। अच्छिद्रां पारयिष्णीꣳ शतारित्राꣳस्वस्तये ॥ (ओंनम'आदित्याय नम आदित्याय नम आदित्याय) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १४) 'इति' मन्त्रं पठन् 'उपस्थानं' कर्त्तव्यम् तथा च 'स्वस्त्ययनं' सिध्येत् ॥ ८ ॥

भाषा—प्रातः और सायं दोनों सन्धि वेला में आदित्यनाव"–मन्त्र से उपस्थान करे, इससे कल्याण होगा ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानूदियांस मिति पूर्वाह्णे प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठास मित्यपराह्णे॥ ९॥ १०॥ आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः॥ ११॥

तत्र, पूर्वाह्णे' उद्यन्तन्त्वादित्यानूदियासम् ॥ १५ ॥ (म० २, ५, १५) 'इति' यजुश्च प्रयोक्तव्यम्। 'अपराह्णे' च 'प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासमु ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २५, १६)--इति' च यजुः प्रयोक्तव्यमेव ॥ ९॥१० ॥ अथ आचितशतकामकर्म। 'आचितशतकामः पुरुषः, 'अर्द्धमासव्रतः' स्यात् ॥ ११ ॥

भाषा— उपस्थान काल में विशेषतः प्रातः सन्धि काल में "उद्यन्तं" मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में "प्रतिष्ठन्तं" मन्त्र भी पढ़े। ९, १०। जो कोई १०० आचित (२५ मन, वा एक गाड़ी बोझ) की कामना करे, वह अर्द्धमास-व्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा

तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्नि मुपसमाधायादित्य मभिमुखो जुहुयाद्भलाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति १२ एतयैवावृतापरौ तमिस्रौ ॥१३॥

'तामिस्रादौ' कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां 'व्रीहिकांसौदनं' पक्त्वा, तेन च 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा' 'अपरासु' द्वितीयादिषु 'सन्धिवेलासु' 'तस्य' व्रीहिकांसस्य 'कणान्' "भलाय स्वाहा ॥ १७ ॥ भल्लाय स्वाहा ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १७, १८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात् । कुत्र प्रदेशे ! 'प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे 'अग्निमुपसमाधाय, आदित्य मभिमुखः' सन् ॥ १२ ॥ 'एतया एव आवृता' पूर्वोक्तया एव रीत्या 'अपरौ' द्वौ 'तामिस्रौ' कृष्णपक्षौ व्यवहर्त्तव्यौ । तदेवं त्रिभिः कृष्णपक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

भाषा—कृष्ण पक्षकी परिवा तिथिको सन्धि वेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, कई ब्राह्मणों को भोजन करावे । इसके अनन्तर अमावास्या तक प्रतिसन्धिवेला में गांवके बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जला कर उसमें 'भलाय' दोनों मन्त्रोंसे, सूर्यके सम्मुख होकर तण्डुलके कणा आदिसे होम करे ॥ १२ ॥ पूर्वोक्त रीतिसे और भी दो कृष्ण पक्षमें अनुष्ठान करे । तीन कृष्णपक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होगा ॥१२,१३॥

तामिस्रान्तरेषुब्रह्मचारीस्यादासमापनादासमापनात् ॥१४॥

'तामिस्रान्तरेषु' कृष्णपक्षमध्येष्वहोरात्रेषु व्रती पुरुषः 'आसमापनात्' व्रतसमाप्ति यावत् 'ब्रह्मचारीस्यात्' ॥ १४ ॥ ६ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थं प्रपाठके षष्ठखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥४।६॥

भाषा—जिन तीन कृष्णपक्षों में यह "अर्द्धमास व्रत" अनुष्ठान किया जावे, उसमें व्रतकी समाप्ति तक व्रती ब्रह्मचर्य से रहे ॥ १४, ६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थअध्याय के छठे खण्डका अनुवाद पूरा हुआ ।४।६॥

अवसानं ज़ोषयेत ॥१॥ समं लोमश मविभ्रंसि प्राच्य

उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तेरन्नक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका यत्रौषधयः स्युः ॥ २ ॥

'अवसानं' विरामलक्षणं अन्यवास्तुभिरवेष्टितं वक्ष्यमाणलक्षणं भूखण्डं 'जोषयेत' सेवेत वासायेति ॥ १ ॥ तच्च अवसानं 'समं' समतलं स्यात् । तच्च 'लोमशं' घासविशिष्टं स्यात् । तच्च 'अविभ्रंसि' विभ्रंशोऽधः पतनं न यत्र सम्भाव्यते तादृशं स्यात् । 'यत्र' 'प्राच्यः उदीच्यः वा' 'आपः' नद्यादिकाः 'प्रवर्त्तेरन्' विद्येरन् । 'यत्र' च समीपे एव 'अक्षीरिण्यः 'अकण्टकाः 'ओषधयः' 'स्युः' ॥ २ ॥

भाषा—दूसरे मकानों से यथा सम्भव अलग अपने रहने का मकान बनाने के लिये उपयोगी अच्छी भूमि लेवे ॥ १ ॥ उक्त वास भूमि समतल होवे, घासों से छिपी रहे, तालाब आदि से हठात् गिर जाने का भय न हो, उसके पास पूर्व या उत्तर दिशा में बड़ा जलाशय हो, एवं जिस भूमि के पास क्षीरी, कण्टकी, और कटु औषधि वृक्ष न हों, यह वास योग्य है ।१,२।

गौरपांꣳसु ब्राह्मणाय लोहितपांꣳशु क्षत्रियस्य कृष्णपांꣳसु वैश्यस्य । ३।४।५ । स्थिराघात मेकवर्ण मशुष्क मनूषर ममरुपरिहित मक्लिन्नम् ॥ ६ ॥

पांसवो रेणवः । एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तुनिर्माणं कारयेयुरिति भावः ॥ ३-५ ॥ 'स्थिराघातं' स्वल्पाघातेनैव यन्नावटीभवेत् तत् । 'एकवर्णं' क्वचिद्गौर मेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम् । 'अशुष्कं' यत्रोत्पद्यमाना ओषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम् । 'अनूषरं' यत्रोप्तं बीजं प्ररोहेदेव, तादृशम् । 'अमरुपरिहितम्' मरुभूमिभिः अवेष्टितम् । 'अक्लिन्नम्' क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम् । एवम् अवसानं जोषयेतेत्येव ॥ ६ ॥

भाषा—जहां धूलि का रंग गौर, वह ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय के लिये लाल रंग की धूली वाली एवं वैश्यगण काली मट्टीवाली वास भूमिमें बनावें। ॥ ३-५ ॥ जहां थोड़े चोट वा आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान की धूलि अनेक रंग की न दीख पड़े, जहां किसी वृक्ष के पेड़ रोपने से सूख

जावे, जहां शस्य आदिके उपजने की शक्ति भी हो, जिस के प्राय चारो ओर मरु भूमि न हों.एवं जहां जल न हो,-ऐसी भूमि वासार्थ के लिये लेवे ॥६॥

दर्भसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्बलकामस्य मृदुतृणैः पशुकामस्य ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

'ब्रह्मवर्चसकामस्य' ब्राह्मणस्य 'दर्भसम्मितं' कुशाबहुलं स्थानं स्यात तथाच दैवं पित्र्यं वा कर्म कर्त्तुं कुशाहरणाय क्लेशो न भवेत् । 'बलकामस्य' क्षत्रियस्य 'बृहत्तृणैः' आकीर्णं स्थान मुचितम्, तथाचाश्वादीनां भोजनं सुलभं स्यात् । 'पशुकामस्य' वैश्यस्य मृदुतृणैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच पशुचारणं सुकरं भवेदित्ति ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

भाषा—जहां समधिक कुश जन्मता हो, ऐसी भूमि ब्राह्मण के लिये जहां घोड़ा आदि के खाने योग्य बड़ी घास आदि बहुत पाई जावे, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य है । और जहां कोमल २ घास हों, चारण भूमि के लिये चिन्ता न करनी पड़े, वह भूमि वैश्य के लिये उपयुक्त है ॥७॥८॥९ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः ।१०। अनुद्वारञ्च ।११।

शादा इष्टका उच्यते, 'तत्सम्मितम्' चतुष्कोण मित्यर्थः । मण्डलं वर्त्तुल मुच्यते, मध्योन्नतं क्रमादभितो निम्नं यत्र, तद्द्वीप मुच्यते । तथाच द्वीपमिव मध्योच्चं वर्त्तुल मपि स्थानं दोषावहम् । अपि 'वा' 'यत्र' स्थाने 'स्वयं' 'खाताः' अकृत्रिमाः 'सर्वतोऽभिमुखाः' 'श्वभ्राः' गर्त्ताः 'स्युः' तत् अचतुरस्र मद्वीपवर्त्तुल मपि वासार्हं मिति ॥ १० ॥ 'अनुद्वारञ्च' गृहे मनुष्यादिप्रवेशाय वायुप्रवेशाय वा यावन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषा मेव समसूत्रपातानुकूतानि द्वाराणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्वीतेत्येव । नात्र नेत्यनुवर्त्तते अप्रसक्तस्य निषेधाप्रवृत्तेः ॥ ११ ॥

भाषा—रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण हो; गोल होने से भी हानि नहीं; किन्तु उसका मध्य भाग क्रम से ऊंचा हो । यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण, प्रभृति स्थान भी मकानके लिये स्वीकार करे, परन्तु यदि ऐसे स्थान के चारो ओर अकृत्रिम कोई गड़हा हो ॥१०॥

घर में चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिये जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि के समसूत्रपात से, उस के समान अन्य द्वार भी रहना चाहिये ॥११॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीतोदग्द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारꣳसर्वकामो न प्रत्यग्द्वारं कुर्वीत ॥१२॥ गृहद्वारं यथा न संलोकि स्यात् ॥ १३ ॥

'तत्र' तादृशे स्थाने 'यशस्कामः' 'बलकामः' पुरुषः 'प्राग्द्वारम्' 'अवसानं' वासगृहं 'कुर्वीत' । पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः 'उदग्द्वारम्' अवसानं कुर्वीत 'सर्वकामः' पुरुषः 'दक्षिणाद्वारम्' अवसानं कुर्वीत । 'प्रत्यग्द्वारं पश्चिमद्वारमवसानं न कोऽपि कुर्वीतेति ॥ १२ ॥ तथा कुर्वीतेति ॥ १३ ॥

भाषा—पूर्वोक्त स्थानों में घर बनावे । उन में से जो विशेषतः यश और बल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्व मुख, जो विशेषतः पुत्र और पशु की इच्छा करें, वे उत्तर मुख, जिनको विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही कामना हो, वे दक्षिण मुख द्वार करें, परन्तु पश्चिम मुख दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥ मकान के भीतर के घर के द्वार आदि ऐसे हों जहां से घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीख पड़े ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधमपराद् देशादुत्तराच्चाप्युदुम्बरम् । अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडामक्ष्यामय मुदुम्बरात् । आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षोयमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥१४॥

अश्वत्थः—चलदलः, स च आदित्यदेवतः, तं पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत्; पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात् । प्लक्षः—पर्कटी, स च यमदेवतः, तं, दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत्; दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् ह्रसितायुष्कान् अल्पायुषः स्युस्तत्र वासिन इति ब्रूयात् । न्यग्रोधः—वटः, स च वृक्षः 'वारुणः' वरुणदेवतः, तम् अपराद्देशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत्; पश्चि-

मस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत् । उदुम्बरः-यज्ञवृक्षः, स च प्राजापत्यः प्रजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत्, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामय मक्षिरोगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

भाषा—पीपल के पेड़ की देवता सूर्य, मकान के पूर्व दिशा में पीपल वृक्ष न रक्खे, पूर्व भाग में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है। पाकड़ की देवता यम, मकान के दक्षिण भाग में पाकड़ का पेड़ रहने से आयु की हानि होती है। वट वृक्ष की देवता वरुण हैं, घरके पश्चिमभाग में बड़का पेड़ रहने से शस्त्राघात का सन्देह रहता है। गूलरवृक्ष की देवता 'प्रजापति' हैं अतएव मकान से उत्तर भाग में गूलर रहने से, नेत्र रोग होता है १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीतैताश्चैव देवता अभियजेत ॥१५॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिष्ववस्थितान्' अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेभ्य उत्थाप्यान्यत्राभिलपितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत'; अपि 'च' तत्तदुत्थानकाले 'एताः देवता' तत्तद्वृक्षदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्च्चयेत् ॥ १५ ॥

भाषा—अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर उपयुक्त स्थानमें रोप कर उस २ वृक्ष की उन २ देवता को होमादि से पूजा करे॥१५

मध्येऽग्नि मुपसमाधाय कृष्णया गवा यजेत।जेन वा श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा ॥१६॥१७॥१८॥१९॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रज्वाल्य 'कृष्णया गवा' कृष्णायाः गोः मांसादिना 'यजेत'-इति प्रथमः कल्पः । 'श्वेतेन अजेन वा' यजेतेति द्वितीयः । 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयो रन्यतरेण चेति तृतीयः । 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यधमः कल्पः ॥१६-१९

भाषा—वास्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के मांस आदि से याग करे, सफेद छाग के मांस द्वारा भी यह 'याग' हो सकता है, काली गौ का मांस या सफेद छाग के मांस के साथ यदि 'पायस' हो तो और भी उत्तम हो, न हो तो केवल पायस ही से याग करे ॥१६॥१७॥१८॥१९॥

वसा माज्यं माꣳसं पायस मिति संयूयाष्टगृहीतं गृहीत्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इतिप्रथमा वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजापतयइत्युत्तमा । २०-२१, २२, २३-२४ ॥

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्य मिश्रितं तत् 'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीत मिव गृहीत्वा 'जुहुयात्' । तत्र "वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवानः । यत्ते महे प्रतितन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे" ॥ (म० ब्रा० २, ६, १)—'इति मन्त्रेण 'प्रथमा' आहुतिः । ततो 'वामदेव्यर्च्चः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः । ततश्च 'महाव्याहृतयः प्रयोक्तव्याः । ततः 'प्रजापतये' एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति ॥ २०-२४ ॥

भाषा—वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार को एकत्र मिला कर (जिस प्रकार चार वार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिवार ८ ग्रहण करता हुआ होम करे । उन में से "वास्तोष्पते" मन्त्र से पहिली आहुति देवे, अनन्तर 'वामदेव्य' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उसके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे "प्रजापतये"—मन्त्र से शेष आहुति देवे ॥२०-२४॥

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशमवान्तरदेशेष्वानुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ॥ २५ ॥

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तर मेव 'प्रतिदिशं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोणेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'आनुपूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ॥ २५ ॥ बलीनां स्थानानि मन्त्रांश्चोपदिशति—

भाषा—वास्तु होम करके उसके पीछे प्रदक्षिणानुसार प्रति दिशा में और प्रति कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ॥ २५ ॥

इन्द्रायेति पुरस्तात् वायव इत्यवान्तरदेशेयमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महाराजायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे

वासुकय इत्यधस्तादूर्ध्वं नमो ब्रह्मण इतिदिवि ॥२६-३३॥

सुस्पष्टान्येतानि ॥ २६-३३ ॥

भाषा—रहने के मकान से पूर्व दिशा में, फिर अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, फिर नीचे ऊपर. इन दिशाओं में 'इन्द्राय' प्रभृति दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ॥ २६-३३ ॥

प्राच्यूदूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरेसंवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिन मेव बलिहरणं कर्त्तव्यम्; एवञ्चैषः 'नित्यप्रयोगः'—इति कस्यचिन्मतम् । स्वमते तु संवत्सरे सम्वत्सरे यदा यदा नवयज्ञौ व्रीहियज्ञो यवयज्ञश्च भवतः तदा तदैवासा मपि तिसृणां बलिहरण मिति शम् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ७ ॥

इतिगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥ ४।७॥

भाषा—इन्द्र देवता के लिये ऊपर को पूर्व दिशा में ब्रह्म देवता के लिये, एवं नीचे को वासुकि देवता के लिये, प्रतिदिन बलिकर्म करे, या प्रति वर्ष जिस समय नया अनाज हो और जिस समय यव आदि शस्य नूतन हों उस २ नवान्न समय में इनतोस बलि करने से भी हो सकता है ॥३४-३५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के सप्तमखण्डका अनुवादपूरा हुआ ॥४।७॥

श्रवणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्ट्वा प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्नि मुपसमाधाय हये राक इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ॥ १ ॥

पुरस्तादुक्ते 'श्रवणाग्रहायणी' कर्मणी । तयोः अक्षतबलयश्च विहिताः । तत्रसर्वैरेवाक्षतैर्बलिहरण मकृत्वा कतिचित् 'अक्षतान्' 'शिष्ट्वा' बलिशेषभूतान् रक्षित्वा तैरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना' "हये राके सिनीवालि सिनीवालि पृथुष्टुके । सुभद्रे पथ्ये रेवति यथा नो यश आवह (स्वाहा) ॥ २ ॥ ये यन्ति प्राञ्चः पन्थानो य उ वोत्तरत आयगुः । ये चेमे सर्वे पन्थान स्तेभिर्नो यश आवह (स्वाहा) ॥ ३ ॥

यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम्। एवं मा श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा)।४। यथा समुद्रं स्रवन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः एवं मा सखायो ब्रह्मचारिणः समवन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ५ (म०ब्रा० २ ६, २-५)'–'इति' सूक्तान्तर्गतानां चतसृणा मृचाम् 'एकैकया' 'जुहुयात्'। स च होमः, 'ग्रामात्-प्राङ्वा उदङ्वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथे अग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्त्तव्य इति ॥१॥

भाषा—इसके पहिले 'श्रवणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं। उन कर्मों में 'अक्षतवलि' भी कहा गया है। इस बलि के समय सब अक्षत आदि बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रक्खे। इसी को एक २ अञ्जलि कर 'हये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे। यह होम गांव से बाहर पूर्व, या उत्तर दिशा में चौराहे पर आग जला कर करे ॥ १ ॥

प्राङुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूर्द्ध्व मुदीक्षमाणो देवजनेभ्यस्तिर्यङितरजनेभ्योऽर्वाङवेक्षमाणोऽनपेक्षमाणःप्रत्येत्याक्षतान् प्राश्नीयादुपेतैरमात्यैः सह ॥ २–४ ॥

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं व्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भण मिति यावत्, तत् कृत्वा तत्र पथ्येव यत्र कुत्रचित् 'प्राङ्' प्राङ्मुखः, 'ऊर्द्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य "वसुवन एधि वसुवन एधि" वसुवनएधि ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)--'इति' मन्त्रं पठेत्। ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अर्वाङ्' अध.अवेक्षमाणः' इतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य त मेव मन्त्रं पठेत्। 'अनवेक्षमाणः' पश्चादवलोकन मकृत्वैव प्रत्येत्य' स्ववासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रो' पस्थितैः 'अमात्यैः' 'बन्धुवर्गैः' 'सह' 'अक्षतान्' होमावशिष्टान् 'प्राश्नी यात् भुञ्जीत ॥ २–४ ॥

भाषा—उसके बाद मकान में फिरने के लिये, चल कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुंह होकर, देवताओं के लिये 'वसुवन एधि' मन्त्र का पाठ करे। पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख। अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, उसी तिरछा होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे। अनन्तर पीछे न देख कर

अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हों, उन के साथ, होम से बची सामग्री भोजन करे ॥ २-४ ॥

स्वस्त्ययनम् ॥५॥ वशङ्गमौ शङ्खश्चेति पृथगाहुती व्रीहियवहोमौ प्रयुञ्जीत यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः ॥६,७॥

उक्तेन श्रवणाग्रहायणी शेषाक्षतबलिकर्मणा 'स्वस्त्यनं, फलं भवेत्' तथाच स्वस्त्ययनकाम एवास्याधिकारी ॥ ५ ॥ अथ प्रसादकामकर्म—'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्वे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः "वशङ्गमौ देवयानौ युवꣳस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति, एवं ममाऽसौ वशमेतु (स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ६, ६)—शङ्खश्च मन आयुश्च देवयानौ युवꣳस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति एवं ममाऽसौ वशमेतु (स्वाहा)" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ८)—'इति' आभ्यां मन्त्राभ्यां 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रव्यकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्त्या वशङ्गमाविति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शङ्खश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । नित्यप्रयोगः तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्त्तव्य इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषा—उक्त श्रवणा और आग्रहायणी दोनों कर्मों के अवशिष्ट अक्षतबलि कर्म का फल-स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, वेही इसे करें ॥५॥ मनुष्य प्रसन्नता चाहे वह 'वशङ्गमौ' मन्त्र से व्रीहि-होम और 'शङ्खश्च' मन्त्र से यव होम करे । जब तक उद्देश्य सिद्ध न हो, तब तक प्रतिदिन यही प्रयोग (अनुष्ठान) करे ॥ ६ ॥ ७ ॥

एकाक्षर्याया मर्द्धमासव्रते द्वे कर्मणी ॥८॥ पौर्णमास्याꣳरात्रौ खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान्वधकामः ॥९,१०॥

'एकाक्षर्यायाम्' "आकूतीं देवीं मनसा प्रपद्ये यज्ञस्य मातरꣳ सुहवा मे अस्तु । यस्यास्त एक मक्षरं परꣳ सहस्रा अयुतं च शाखास्तस्यै वाचे निहवे जुहोम्यस्या मा वरो गच्छतु श्रीर्यशश्च (स्वाहा) ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ९)" इत्यस्या मृचि 'द्वे कर्मणी' अनुपदवक्ष्यमाणे विधेते, ते च द्वे एव 'अर्द्धमासव्रते' वेदितव्ये ॥ ८ ॥ तत्र प्रथमं कर्म शङ्कुशतहवनं नाम, तच्च कामनाद्वयभेदात्

द्विविधम्, तद् द्विविधमेवोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयुष्कामः' पुरुषः 'खदिरशङ्कुशतं' खादिराणां शङ्कूनां कीलकानां शतं जुहुयात्, स्वस्य अपरास्य वा वधकामश्चेत् 'आयसान्' लोहविकृतान् शङ्कून् शतं जुहुयादिति । कदेत्युच्यते,--'पौर्णमास्यां रात्रौ' इति ॥ ९, १० ॥ अथ स्थण्डिलहोमः ।

भाषा—'आकूतिं देवी' इस मन्त्र को एकाक्षरी कहते हैं। इस एकाक्षरी मन्त्र विषयक जो दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों को 'अर्द्धमासव्रत' जानो ॥८॥ अपनी या दूसरे की आयु बढ़ाने की कामना हो तो खैर की १०० कील होम करे। और अपनी या दूसरे की आयु के हानि की इच्छा हो तो लोहे के १०० कीलकों का होम करे, ये कर्म पूर्णिमा की रात में एकाक्षरी मन्त्र से करे। इस को शङ्कुशत होम कहते हैं ॥ ८।९।१० ॥

अथापरम् ॥ ११ ॥ प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं मनसानुद्रुत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी'--इति, तत्र नवमदशमसूत्राभ्यां द्विविधं शङ्कुशतहवनमुक्तम्; 'अथ' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवन मिद मुपदिश्यते। अपिचात्रापि द्वैविध्यमस्ति ॥ ११ ॥ 'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्' पूर्वाभिमुखः, 'उदङ् वा' अथवा उत्तराभिमुखः 'निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतुष्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'आरण्यैः गोमयैः' 'स्थण्डिलं' लोहपात्रं 'प्रताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलपृष्ठान् 'अपोह्य' दूरीकृत्य; 'मन्त्रं' प्रकृत मेकाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्रुत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' स्वमुखेन 'सर्पिः' घृतं जुहुयात् ॥ १२ ॥

भाषा-पहिले ही (८ मं० सूत्र में) कहा गया है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र से दो कर्म सिद्ध होते हैं, उन में से इसके पूर्व दो प्रकार 'शङ्कुशत होम कर्म कहा गया है। अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है। यह दो प्रकार का है ॥ ११ ॥ गांवकी वस्ती से पूर्व, या उत्तर जाकर किसी एक चौगहे, या पहाड़ पर जङ्गली कण्डे से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी

प्रकार तपा कर, उस अङ्गार आदि को हटाकर, इस एकाक्षरी मन्त्र को मन ही मन शीघ्र पाठ कर, अपने मुंह में घी लेकर उस से होम करे ॥ १२ ॥

ज्वलन्त्यां द्वादशग्रामाः धूमे त्र्यवरार्द्ध्या अमोघं कर्मेत्याचक्षते ॥

तादृशे होमे हुते 'ज्वलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्रामाः' लभ्याः भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' सति 'त्र्यवरार्द्ध्याः' अवरार्द्ध्यशब्दोऽन्यूनवचनः अतो न्यूनतोऽपि त्रयो ग्रामाः भवेयुः, ज्वालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्यग्रामसङ्ख्यानामल्पत्वबहुत्वे । एवञ्चैतत् सर्वथाप्यनिष्फल मिति 'अमोघं कर्म' 'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः । तदेतत् 'स्थण्डिलहोम'-नाम एकाक्षर्यां द्वितीयं कर्म ॥१३-१५॥ स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलान्तरजन-कत्व मुच्यते ।

भा०-आहुति के देते ही यदि शीघ्र ज्वाला उठे तो अनुष्ठाताको १२ ग्राम लाभ होंगे और यदि ज्वाला न हो धूम दीख पड़े तो तीन गांव मिलेंगे । बूढ़े लोग इसे 'अमोघ कर्म' कहते हैं । यह भी 'अर्द्धमासव्रत है' ॥१३-१५॥

वृत्त्यविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् १६

यजमानः यदि 'वृत्त्यविच्छित्तिकामः' वृत्तिर्जीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवङ्कामः स्यात्, तर्हि तत्रैव आरण्यगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले सर्पिर्होमविनिमयतः 'हरितगोमयान्' सद्योविसृष्टगोमयान् तेनैव आस्येनैव 'सायं' 'प्रातः' 'जुहुयात्' इति समास मेकाक्षरीकृत्यम् ॥ १६ ॥ अथ पण्यहोमः ।

भाषा—जीविका का नाश न हो, ऐसी इच्छा वाला जङ्गली गोवर से तप्त कियी हुई वेदी पर घी होम न करके सायं और प्रातःकाल तात्कालिक गोवर को मुंह में रक्ख उससे होम करे ॥ १६ ॥

त्रिरात्रोपोषितः पण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माण मिति वाससस्तन्तून् गोर्वालानेव मितरेभ्यः पण्येभ्यः १७-२०

काम्येषु कर्मसु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र० ४ खं० ५ सू० ९) पण्यहोमोऽपि काम्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्त मिति विशेषं विधत्ते,-'त्रिरात्रोपोषितः' उपवासस्तु अल्पभोजनं न त्वभोजन मित्युक्तं पुरस्तात् (प्र० खं० ५ सू० १३-२६, प्र १

खं० ६ सू० १-८) 'पण्यहोमं' पण्यं विक्रय्यद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम् । "इदमह मिमं विश्वकर्माणॐ श्रीवत्स मभिजुहोमि (स्वाहा") ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ५, १०) 'इति मन्त्रेण 'जुहुयात्' । किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते,—'वाससः' वासः पण्यं चेत् तस्य 'तन्तून्' दशासूत्राणि जुहुयात् । गौः पण्यं चेत्, तस्य 'गोः' 'बालान्ः पुच्छलं.प नि जुहुयात् । 'इतरेभ्यः' अजाविकादिभ्यः पण्येभ्योऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिक मुद्धृत्य जुहुयादित्येव । ॥ १७-२० ॥ अथ यशस्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ ॥

भाषा—व्यवहार की उन्नति की इच्छा वाले-व्यापार के द्रव्य में का, एक २ अंश लेकर जैसे कपड़े के किनारे से सूत निकाल ले, गौ का हो तो उस की दुम में से थोड़ा बाल ले) "इदमह मिमं" मन्त्र से होम करे ।१७,२०।

पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः पूर्वाॐसहायकाम उत्तराम् ॥ २१, २२, ॥ ८ ॥

'पूर्णहोमः' "पूर्णहोमं यशसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वर मस्मै ददाति, वरं वृणे यशसा भामि लोके (स्वाहा)" ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ११)-इति होमः "इन्द्रामवदात् तमो वः परस्तात् । अहं वो ज्योतिर्मा मभ्येत सर्वे (स्वाहा)" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १२)"-'इति' मन्त्रेण 'च' होमः 'यजनीयप्रयोगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः । तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋचम् प्रयुञ्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋचम् प्रयुञ्जीतेति ॥ २१ । २२ ॥ ८ ॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थ प्रपाठकेऽष्टम खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ४ ॥ ८ ॥

भा०-"पूर्णा होमं यशसे जुहोमि" से होम करे और "इन्द्रामवदात्' से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीय प्रयोग हैं, यश की इच्छा से प्रथम मन्त्रका और सहायताकी इच्छा होतो शेषमन्त्रका व्यवहार करे ॥ २१ ॥ २२ ॥ ८ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चौथे अध्यायके अष्टम खण्डका अनुवाद पूरा हुआ ॥४,८॥

पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्र मभुक्त्वौदुम्बरान्त्स्रुचमसेध्मानुपकल्पयित्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतु-

उपथेऽग्नि मुपसमाधायाज्य मादित्य मभिमुखो जुहुयादन्नं वा एकच्छन्दस्यꣳश्रीर्वा एषेति च ॥ १, २ ॥

पुरुषाणां सैनिकानां साधारणानां वानेकेषाम् आधिपत्यं यदि कामयेत, तर्हि तेन अष्टरात्र मभोजनं कर्त्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे, औदुम्बरान्' स्रुवादीन् प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्रुवादीन् गृहीत्वा 'प्राङ् उदङ् वा ग्रामात् निष्क्रम्य' यं कञ्चिदपि चतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं पुरस्थम् 'अभिमुखः' "सन् अन्नं वा एकच्छन्दस्य मन्नꣳह्येकं भूतेभ्यच्छदयति (स्वाहा)" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्' । ततः "श्रीर्वा एषा यत्सत्वानो, विरोचनो मयि सत्त्व मवदधातु (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'च' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ॥ १, २ ॥

भाषा—बड़े पद के चाहने वाले व्यक्ति आठ रात भोजन न करे, इसी बीच में गूलर की लकड़ी का स्रुवा चमस और ईध्म संग्रह कर सब को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्नि स्थापन कर "अन्नं वा" मन्त्र से घी की आहुति देवे एवं उसी के बाद लगातार "श्रीर्वाएष" मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥ १, २ ॥

अन्नस्य घृत मेवेति ग्रामे तृतीयां गोष्ठे पशुकामो विदूयमाने चीवरम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेवरसस्तेजःसम्पत्कामोजुहोमि (स्वाहा)" १५ (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात् आज्यस्यैव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे होतव्यां ता माहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात् । तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्य मिति ॥ ३-५ ॥

भाषा-ग्राम में वापस आकर "अन्नस्य घृत मेव" मन्त्र से तृतीय आहुति देवे । यदि पूर्वोक्त व्यक्ति यह भी इच्छा करे कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे । और यदि वह गोशाला गीली हो, तो वहां घी की तीसरी आहुति न करके, लोह चूर्ण का होम करे ॥ ३, ४, ५ ॥

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् बध्नीतोपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम्॥६,७॥

'अध्वनि' मार्गे 'प्रतिभये' भयहेतौ उपस्थिते 'वसनवतः' सहचारिणो पान्थजनान् 'उपेत्य' तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (म० ब्रा० २०६-१३-१५) इत्यादिभिस्तिसृभिः ऋग्भिः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'बध्नीत'। एतेन कर्मणा 'सहायानां' सहचारिणामपि पथिकानां 'स्वस्त्ययनं' भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यैकस्य तस्येति ॥ ६, ७ ॥ अथ आचितसहस्त्रकामकर्म–

भाषा–यदि रास्ते में एकाएक भय आपड़े तो झट सहगामी के पास हो कर पूर्वोक्त "अन्नं वा" इन तीन मन्त्रों से स्वाहाकारान्त जप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बांधे। इस से उक्त व्यक्ति का भय तो दूर हो ही गा, किन्तु उसके साथी पथिक को भी मङ्गल होगा ॥ ६, ७ ॥

आचितसहस्त्रकामोऽक्षतसक्त्वाहुतिसहस्त्रं जुहुयात् ॥८॥

ताभिस्तिसृभिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्होतव्येति च ॥८॥

भाषा–जो कोई सहस्त्र आचित (२५ मन अर्थात् एक गाड़ी का बोझ) की कामना करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत-सत्तू की १००० आहुति देवे ॥८॥

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्त्रं जुहुयात् ॥९॥

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः 'वत्समिथुनयोःपुरीषाहुतिसहस्त्रं जुहुयात्' स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्तिसृभिरेवर्ग्भिरिति ॥९॥ अथक्षुद्रपशुकामकर्म—

भाषा—यदि कोई चाहे कि मुझे गौ आदि बड़े २ पशु हों, तो वह दो बछड़ेके सूखे गोबरसे उक्त तीन मन्त्र से १००० आहुति देवे ॥ ९ ॥

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ॥ १० ॥

अविमिथुनयोः शुष्कः पुरीषैरिति, ताभिस्तिसृभिः स्वाहाकारान्ताभिरिति च ॥ १० ॥ अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म—

भाषा—यदि कोई चाहे कि मुझे भेड़ आदि छोटे २ पशु हों तो वह दो भेड़के सूखेगोबरसे उक्त तीन मन्त्रों से १००० आहुति देवे ॥ १० ॥

वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे क्षुत्पिपासाभ्याᳫं स्वाहेति ॥ ११ ॥

'कम्बूकान्' तुषान्; फलीकरणकणवशानिति टीकान्तरम्। अन्यद्व्याख्यातमिवैव ॥ ११ ॥ अथ विषदोषनाशकामकर्म—

भाषा—यदि कोई चाहे कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे, वह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल "क्षुधेस्वाहा" से तुष की आहुति देवे। ॥ ११ ॥

मा भैषीर्न मरिष्यसीति विषवता दष्टं मद्भिरभ्युक्षन्जपेत्॥१२

'विषवता' सर्पेण, वृश्चिकादिना वा 'दष्टं' स्थानम् 'अद्भिः अभ्युक्षन्' "मा भैषीर्न मरिष्यसि जरदष्टि र्भविष्यसि। रसं विषस्य नाविद मुग्रं फेन मिवास्यम्" ॥१८॥ (म० ब्रा० २,६,१८) इति मन्त्रं जपेत् ॥१२॥ अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्म—

भाषा—विषधर सांप आदिके डसनेपर, काटे हुए स्थानको धोकर "माभैषीर्न" मन्त्र का जप करे। इस से सब प्रकार के विष दूर होंगे ॥ १२ ॥

तुरगोपायेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्ड मुपनिदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ॥ १३ ॥

'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनो द्वितीयाश्रमाय उद्युक्तः 'संवेशनवेलायां' शयनसमये 'स्वस्त्ययनार्थम्' "तुरगोपाय मा नाथ गोपाय मा। अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः स्वस्त्ययन मसि ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १९)"—'इति' मन्त्रेण 'वैणवं दण्डं' वंशयष्टिम् 'उप' समीपे स्वस्यैव 'निदधीत' स्थापयीत ॥ १३ ॥ अथ क्रिमिनाशकामकर्म—

भाषा—तीनों प्रकार के स्नातक अपने २ कल्याणार्थ, शयन काल में "तुरगोपाय" मन्त्र से बांसकी एक छड़ी वा लाठी पास रक्खे ॥ १३ ॥

हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देशे मद्भिरभ्युक्षन्जपेत्

'क्रिमिमन्तं देशम्' व्रणादिक मथउदरादिकञ्च 'अद्भिः अभ्युक्षन्'* "हतस्ते

* अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले क्रमिनाशक औषधि आविष्कार किया था, पीछे यमदग्नि, फिर गोतम ऋषि ने ।

अत्रिणा क्रिमि हतस्ते जमदग्निना । गोतमेन तिनीकृतो ऽत्रैव त्वा क्रिमे ब्रह्मव-घमवद्य ॥ १ ॥ भरद्वाजस्य मन्त्रेण* सन्तिनोमि क्रिमे त्वा । क्रिमिꣳह वल्क्र-तोदिनं, क्रिमिमान्त्रानुचारिणम् क्रिमि द्विशीर्षं मर्जुनं द्विशीर्षꣳह चतुर्हनुम् ॥ २ ॥ हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता । अथैषां भिन्नकः कुम्भो य एषां विषधानकः ॥ ३ ॥ *** क्रिमि मिन्द्रस्य बाहुभ्यां सवाञ्च पातयामसि । हताः क्रिमयः साशातिकाः सनीलमक्षिकाः ॥ ४ ॥ ७ ॥ (म०ब्रा० २,७, १-४)"— 'इति' चतुर्ऋचं सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १४ ॥

भाषा-घाव, आदिमें कीड़े पड़े हों तो उस स्थानको जलसे धोकर "हतस्ते" आदि चार मन्त्रों को पढ़े इसी से सब स्थानों के कीड़े नष्ट हो जावेंगे ॥१४॥

पशूनाश्चेच्चिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ट माहृत्य वैहायसीं निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पांꣳशुभिः परिकिरन् जपेत् ॥१५॥६॥

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां गवादीनां 'चिकीर्षेत् चेत्' तर्हि 'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्टं' लाङ्गलोत्थं लोष्टम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशां 'निदध्यात्' अनावृते ऊर्ध्वे स्थापयेदिति यावत् । ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे' एव काले 'तस्य' लोष्टस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिमन्तं प्रदेशम् 'परिकिरन्' त मेव सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १५ ॥ ९ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ॥ ४ ॥ ९ ॥

भाषा--पशु आदि के कीड़ों को नाशके लिये दिनको दो पहर बाद हल जोतने से जो डेला निकला हो, उसे लेकर मैदान में ऊपर को भूला रक्खे, दूसरे दिन उस डेले को फोड़ कर उसकी धूलि, जहां कीड़े पड़े हों, उस पर छीट २ कर ४ मन्त्रोंको पढ़े । इससे सब कीड़े नष्ट हो जावेंगे ॥ १५ ॥ ६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चौथे प्रपाठकके नवम खण्डका अनुवाद समाप्त हुआ ।४।९

** भारद्वाज ऋषि के मन्त्र से आविष्कृत औषधि की सहायता से तीन प्रकार के क्रमियों को नाश करता हूं ॥ *** इन्द्रयव से 'त्रिवृत नाम औषधि से ।

उत्तरतो गां बद्ध्वोपतिष्ठेरन्नर्हणा पुत्रवाससेति ॥ १ ॥

इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठामीति प्रतितिष्ठमानो जपेद्यत्रैन मर्हयिष्यन्तः स्युर्यदा वार्हयेयुः ॥ २ ॥

आचार्यादीनां षण्णा मन्यतमस्य अर्हणीयस्य 'उत्तरतः' 'गां बद्ध्वा' "अर्हणा पुत्रवासस। धेनु रभवधमे । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरा(ं)समाम् ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १)"—'इति' मन्त्रं पठन्, तमर्हणीयम् 'उपतिष्ठेरन्' ॥ १ ॥ 'यत्र' स्थाने 'एनम्' अर्हणीयम् 'अर्हयिष्यन्तः'; शिष्यादयः 'स्युः' 'यदा वा' यस्मिंश्च काले ते 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः, तत्रैव स्थाने, तदैव काले, सः अर्हणीयः आचार्यादीना मन्यतमः 'प्रतितिष्ठमानः' दण्डायमानः "इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठासि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० २, ८, २)"--'इति' मन्त्रं 'जपेत्' ॥ २ ॥ विष्टरादीनां पञ्चानां त्रिस्त्रिर्वेदनीयता माह, ।

भाषा—आचार्य्य प्रभृति अर्हणीय व्यक्तिके उत्तर भागमें गौ बन्धकर रक्खे और "अर्हणा पुत्र वाससा" मन्त्रसे उन अर्हणीय व्यक्तिके आने पर अनुमोदन करे ॥१॥ जिस स्थान में इन "अर्हणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये शिष्य आदि की इच्छा हो, एवं जिस समय अर्च्चना करनी सम्भव हो, वहीं अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर "इद मह मिमां" मन्त्र पढ़े ॥ २ ॥

विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रिस्त्रिर्वेदयेरन् ॥ ३ ॥

विष्टरादीन् पञ्च 'एकैकशः' प्रत्येकं 'त्रिः त्रिः' उच्चार्य 'वेदयेरन्' निवेदयेरन्, अर्हयितार इति शेषः ॥ ३ ॥ विष्टरग्रहणविधिः ।

भाषा—विष्टर, पाद्य अर्घ्य, आचमनीय और मधुपर्क खाने की वस्तु ये पांच वस्तु लावे इनमें से एक २ करके तीन २ वार निवेदन करे ॥ ३ ॥

या ओषधीरित्युदश्चं विष्टर मास्तीर्याध्युपविशेत् ॥ ४ ॥

द्वौ चेत् पृथगृग्भ्याम् ॥ ५ ॥

'अर्हणीयो जनः विष्टरं प्राप्य "या ओषधीः सोमराज्ञी र्वह्वीः शतविचक्षणाः । ता मह्य मस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्म्म यच्छत ॥ ३ ॥" "या ओषधीः

सोमराज्ञी र्विष्ठिताः पृथिवीमनु। ता मह्य मस्मिन् पादयो रच्छिद्राः शर्म्म यच्छत ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ८, ३, ४)"—'इति' ऋचं सूक्तं पठन् वं विष्टरम् 'उद-ग्रम्' 'उत्तराग्रम्' कृत्वा आसने 'आस्तीर्य' पातयित्वा; 'अधि' तदुपरि 'उपविशेत्' (आसने इति तु मन्त्रलिङ्गाद्द ज्ञायते,) ॥४॥ 'द्वौ' विष्टरौ प्राप्तौ चेत् द्वावेव तौ 'पृथग्ऋग्भ्यां' पूर्वसूत्रोक्ते या ओषधीरिति सूक्ते श्रुताभ्यां विभिन्नाभ्यां व्यवहार्यौ॥५॥

भाषा—अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर "या ओषधीः" इन दो मन्त्रों का पाठकर उत्तराग्र आसन पर बैठे ॥ ४ ॥ यदि पूजा करने वाला दो विष्टर देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक २ को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ॥५॥

पादयोरन्यम् ॥६॥ यतो देवीरित्यपःप्रेक्षेत ॥७॥ सव्यं पाद मवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

तत्र एकं विष्टरम् आसनोपरि आस्तीर्याध्युपविशेदित्युक्तम् अन्यम् द्वीतीयं (म० ब्रा० २,८, ५)"–तु 'पादयोः' अधस्तात् आस्तीर्याध्युपविशेदित्येव॥ ६ ॥ पाद्यग्रहणविधिः ॥ अर्हयित्रा पाद्याय दत्ताः 'अपः' "यतो देवीः प्रतिपश्याम्याप-स्ततो मा राद्धिरागच्छतु (म० ब्रा० २।८५) ॥ ५ ॥ इति' मन्त्रं पठन् 'प्रेक्षेत' अर्हणीयो जन इति (पाद्यादिलक्षणंत्वस्या एव टीकायाः परिशिष्टे)।७। "सव्यं पाद मवनेनिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ८,६) 'इति' पठन् अर्हणीयः सः 'सव्यं' वामं 'पादं' प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

भाषा—-एक विष्टर आसन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रक्खे ॥ ६ ॥ पूजा करने वाले से, जल पैर धोने के दिये जाने पर उस जल को "यतो देवी" मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षण करे ॥७॥ अनन्तर वह मान्य व्यक्ति थोड़ा जल लेकर "सव्यं पाद मवनेनिजे" मन्त्र से वायां पैर धोवे ८

दक्षिणं पाद मवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ९ ॥ पूर्व मन्य मपर मन्य मित्युभौ शेषेण ॥ १० ॥

ततः "दक्षिणं पाद मवनेजिजे ऽस्मिन् राष्ट्रे श्रिय मावेशयामि" ७ (म०ब्रा० २,८, ७)–'इति' मन्त्रं पठन् स अर्हणीयः 'दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत्।९। 'शेषेण'

अवशिष्टेन पाद्योदकेन 'उभौ' पादौ सव्यदक्षिणौ एकत्रीकृत्य प्रक्षालयेत्, तत्र च "पूर्वं मन्य मपर मन्य मुभौ पादाववनेनिजे। राष्ट्रस्य ऋद्ध्यै अभयस्यावरुद्ध्यै" ८ (म० ब्रा० २, ८, ८)-इति मन्त्रः प्रयोक्तव्यः । १० । अर्घ्यग्रहणविधिः ।

भाषा-उस के बाद "दक्षिणपाद मवनेनिजे" मन्त्र से दहिना पैर धोवे ॥९॥ बाकी जल से "पूर्व्व मन्य" मंत्र से दोनों पैर एकत्र धोवे ॥१०॥

अन्नस्य राष्ट्रिरसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ यशोऽसीत्याचमनीय माचामेत् ॥१२॥ यशसो यशोऽसीति मधुपर्कं प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

"अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्" ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८)--'इति' मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः, अर्हयित्रा दत्तम् 'अर्घ्यम्' प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ आचमनीयग्रहणविधिः । "यशोऽसि यशो मयि धेहि" ॥१०॥ (म० ब्रा० २, ८ १०)-'इति' मन्त्रं पठन्, स अर्हणीयः अर्हयित्रा दत्तम् 'आचमनीयम्' आचमनार्थ मुदकं गृहीत्वा 'आचामेत्' आचमनविधिना आचमनं कुर्यादिति । मधुपर्कग्रहणविधिः । ततोऽर्हयित्रा दत्तं 'मधुपर्कं' "यशसो यशोऽसि" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ८, ११)-'इति' मन्त्र पठन् अर्हयिता प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

भाषा-"अन्नस्य राष्ट्रिरसि" मन्त्र से मान्य व्यक्ति अर्हयिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ॥ ११ ॥ अनन्तर पूजक से आचमनीय जल पाने पर उस जल से "यसोऽसि" मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि अनुसार, आचमन करे ॥१२॥ तब अर्हयिता से 'मधुपर्क' दिये जाने पर मान्य व्यक्ति "यशसो" यह मन्त्र पढ़ कर उसे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यशसो भक्षोऽसि महसोभक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहीति त्रिः पिबेत्तूष्णीं चतुर्थम् ॥ १४॥१५ ॥

गृहीतञ्च तं मधुपर्कं "यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहि ॥१२॥ (म० ब्रा० २,८,१२,)"-'इति' मन्त्रेण 'त्रिः' त्रिवारं 'पिबेत्' 'तूष्णीम्' अमन्त्रक मेव 'चतुर्थं' पान मिति ॥ १४, १५ ॥

भाषा-लिये हुये उस मधुपर्क को "यशसो" मन्त्र को तीन वार पढ़ कर एवं चौथी वार विना मन्त्र पढ़े पान करे ॥ १४, १५ ॥

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १६ ॥

मधुपर्काधिक्यञ्चेत् 'भूयः' पुनरपि पञ्चमवार मपि अमन्त्रक मेव 'अभिपाय' 'शेषं' पानावशिष्टं 'ब्राह्मणाय' श्रद्धावते यस्मै कस्मै चित् 'दद्यात्' ॥१६॥ बद्ध-गोमुक्तिप्रकारः।

भाषा—यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, (जो चार वार पीने पर भी न निघटे) तो पञ्चम वार भी विना मंत्र उसे पीवे, ॥ १६ ॥

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिर्ब्रूयात् ॥ १७ ॥

ततश्च 'आचान्तोदकाय' स्वस्थचित्ताय अर्हणीयाय 'नापितः' गवादेर्विशसिता 'गौः'-इति पदं 'त्रिः' त्रिवारं 'ब्रूयात्'। वारत्रयगोपदोच्चारणमात्रेङ्गितेन बद्धा गौरिदानी मालब्धव्या न वा ?' इति अर्हणीय मुद्दिश्य विशसिता नापितः पृच्छेदिति ॥ १७ ॥ ततस्तं नापितं किं प्रतिब्रूयादित्याह |

भाषा—पीछे जब वह मान्य व्यक्ति मुंह आदि धो कर स्वस्थ चित्त होवे, तब शस्त्र हाथ में लेकर नापित आकर उसे तीनवार जतलावे, "गौ !" (इसी समय क्या गौ काटनी पड़ेगी ?) ॥ १७ ॥

मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्यमुष्य चोभयोरुत्सृज गा मत्तु तृणानि पिबतूदकमिति ब्रूयात् १८

"मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मे ऽभिधेहि ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १३)"-'इति' मन्त्रं "तं जह्यमुष्य, चोभयो ३ रुत्सृज, गा मत्तु तृणानि, पिबतूदकम् ॥१४॥ (म० ब्रा० १, ८, १४)"—'इति' मन्त्रं च तं नापितं ब्रूयात्-इमौ मन्त्रौ पठन्नर्हणीयो गोमोचनायादेशं कुर्यादिति ॥ १८ ॥

भाषा—अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति "मुञ्चगां" मन्त्र एवं "तंजह्यमुष्य" मन्त्रों को पढ़ कर गो छोड़ने की आज्ञा देवे ॥ १८ ॥

माता रुद्राणा मित्यनुमन्त्रयेत ॥१९॥ अन्यत्र यज्ञात् ॥२०॥

तादृशादेशेन मुक्तायां गवि ता मेव गा मवलोकयन्नर्हणीय एव "माता रुद्राणांदुहिता वसूना ँ स्वसादित्याना ममृतस्यनाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गा मनागा मदितिं वधिष्ट" ॥१५॥८॥२ (२,८,१५)–'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रणं कुर्वीतेति ।१९। गवालम्भनानालम्भनयोर्व्यवस्थामाह–'यज्ञात्, यज्ञः श्रौत सूत्राद्यनुसारतोऽनुष्ठेयो ज्योतिष्टोमादिः, तस्मात् 'अन्यत्र' गृह्यसूत्रोक्तविवाहादौ पूर्वोक्तो गोमोचन-विधिः विद्यादिति ॥२०॥

भाषा—मान्य व्यक्ति की आज्ञा सुन, गौ को नापित छोड़ दे, मान्य व्यक्ति, "माता रुद्राणां" मन्त्र से उस गौ को अनुमन्त्रण करे ॥१९॥ श्रौत-सूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होते, उस से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्य सूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में उक्त गौ मोचन व्यवस्था समझे।२०।

कुरुतेत्यधियज्ञम्॥२१॥षडर्घ्यार्हा भवन्ति ॥२२॥ आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति ।।२३॥

'अधियज्ञम्' यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु 'कुरुत' बद्धायाः तस्याः गाः आलभनम् 'इति' एव । २१ । अर्हणीयपरिगणनम्—अर्घ्यार्हाः अर्घ्यप्राप्तियोग्याः 'षट्' एव भवन्ति।२२।के तेऽइत्याह,–'आचार्यः' कल्पादिसहितसमग्रवेदाध्यापकः. 'ऋत्विक् होत्रादीना मन्यतमः, स्नातकः' कृतसमावर्त्तनाङ्गस्नानः, 'राजा' अभिषिक्तो राज्ये, 'विवाह्यः' विवाहं कर्त्तु मागतः, 'प्रियोऽतिथिः;' विद्यादिगुणवानभ्यागतः :-इति षट् ।२३। अर्हणकालनिर्णयं करोत्याचार्यः।

भाषा—यज्ञ के खूंटे में इस प्रकार बंधे हुए गौ को मोचनार्थ पूंछने पर "करो" अर्थात् उस "गौ को बध करो" यही आदेश करे ॥ २१ ॥ छः व्यक्ति अर्हणीय होते हैं ॥ २२ ॥ आचार्य, ऋत्विग्, स्नातक, राजा, वर और गुणवान् अतिथि, ॥ २३ ॥

परिसंवत्सरानर्हयेयुः ॥ २४ ॥ पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्यज्ञविवाहयोश्च ॥ २५ ॥ १० ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत् । तथाच प्रति-तृतीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनर्हणीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय इति ।२४। संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्सरत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येव । द्विर्वचन मध्यायसमाप्तिसूचकमिति शम् । २५ ॥१०॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशम खण्डस्य श्रामश्रमिकृतं व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ४ ॥ १० ॥ चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ४ ॥

भाषा—अन्यून प्रति-तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ॥ २४ ॥ यज्ञ और विवाह के अवसर पर मान्य लोग (उक्त ६) तीन वर्ष के बीच में भी यदि आवें तौ उन का यथावत् सत्कार करे ॥ २५ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चौथे प्रपाठक के दशम खण्ड का अनुवाद समाप्त हुआ । चौथा प्रपाठक भी समाप्त हुआ और गोभिलगृह्यसूत्र भी समाप्त हुआ।

टीकापरिशिष्टम् ।

इह गृह्यसूत्रे यानि कानिचित् दुर्बोधपदादीनि विद्यन्ते तेषां अर्थादिबोधनायेदम् ।

गृह्याकर्माणि ॥ १ ॥ प्र० १ खं १ ।

"पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च अनिष्याश्चपरे सुताः । गृह्या इति समाख्याता यजमानस्य दायकाः ॥३५॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्मक्रियासु च । आचार्यविहितः कल्पस्तस्माद् गृह्य इति स्थितिः" ॥३६॥ इति गृह्यासङ्ग्रहः ॥१॥

एवञ्च गोभिलाचार्यप्रणीता इयं स्मृतिः 'गृह्या'—इत्युच्यते, तस्यां यानि कर्माणि वक्ष्यमाणानि, तान्येव गृह्याकर्माणि । इत्येकोऽर्थः । अपरार्थस्तु मूलेन साकमेव मुद्रितः । केचित्तु 'गृह्य'—इति कर्माणीत्यस्य विशेषणं, पृथक् पदं, सुपांसुलुगित्यात्त्वेच रूप मिति मन्यन्ते, तथाच 'गृह्येऽग्नौ अनुष्ठेयानि कर्माणि' इति तृतीयोऽर्थः सम्पद्यते ।

अन्वाहार्यवन्ति ॥ ५ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"यत्र श्राद्धं कर्मणा मादौ या चान्ते दक्षिणा भवेत् । अमावास्यां द्वितीयं यत् अन्वाहार्यं तदुच्यते ॥" क० प्र० ३ । अन्वाहार्यं विद्यते येषां कर्मणां तानीमानि अन्वाहार्यवन्ती--त्यर्थः । तत्रापि विशेषोऽस्ति, तथाह्युक्तं कर्मप्रदीपे—"नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्ध मिष्यते । न सोष्यन्ती--जातकर्म--प्रोषिता गत-कर्मसु ॥"—इत्यादि ।

अभिरूपभोजनम् ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"यत्र विद्या च वित्तं च सत्यं धर्मः शमो दमः । अभिरूपः स विज्ञेयः स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः ॥" गृ० सं० २।१२

अन्त्यां समिधम् ॥ ७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्याग्नौ विधिर्यथा । प्रणीतेऽग्नौ समिद्दद्यादन्त्या सा ब्रह्मचारिणाम् ॥" गृ० २ । १८ "नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित् स्थूलतया क्वचित् । न वियुक्तत्वचा चैव न सकीटा न पाटिता । प्रादेशान्नाधिका नोना न तथा स्याद्विशाखिका । न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता क० प्र० १ ।

अभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम् । न्यञ्चताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चावोक्षणं मतम् ॥" गृ० १ । १०३ भा०

लक्षणावृत् ॥ १० ॥ प्र० १ खं० १ ।

अवाहरणाद्यभ्युक्षणान्तं लक्षण मुच्यते, तस्य आवृत् रीति रिति । गृह्यासंग्रहे तु--"लक्षणं तत् प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतञ्च यत्॥४७॥ × × × × तस्मात् फलेन पुष्पेण पर्णेनाथ कुशेन वा । प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥४८॥ सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद् दक्षिणेन तु । तावन्नोत्थापयेत् पाणिं यावदग्निं निधापयेत् ॥४९॥ प्रागग्रता पार्थिवी ज्ञेया आग्नेयी चाप्युदग्गता । प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कृता स्मृता ॥ ५० ॥ उत्करं गृह्य रेखाभ्योऽरत्निमात्रे निधापयेत् । द्वारमेकन्तु द्रव्याणां प्रागुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५१॥ पार्थिवी चैव

सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले। एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये उभे स्मृते ॥५२॥ षडङ्गुलान्तराः कार्या आग्नेयी संहितास्तु ताः। पार्थिवायास्तु रेखायास्तिस्रस्ता उत्तरोत्तराः ॥ ५३ ॥ शुक्लवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत्। प्राजापत्या भवेत् कृष्णा नीलामैन्द्रीं। विनिर्द्दिशेत् ॥ ५४ ॥ पीतवर्णेन सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम्। एष लेखविधिः प्रोक्तो गृह्यकर्मसु सर्वसु ॥ ५५ ॥ सूक्ष्मास्ता ऋजवः कार्या लेखास्ताः सुसमाहिताः ॥" ५६ ॥ १ ॥

अग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"कपालैर्भिन्नपात्रैर्वा न त्वामैर्गोमयेन वा। अग्निप्रणयनं कार्यं यजमानभयावहम् ॥ ६४ ॥ अल्पः प्रणीतो विच्छिन्नोऽसमिद्धश्चापरिश्रुतः। त्वरया पुनरानीतो यजमानभयावहः ॥ ६५ ॥ तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु। अग्निप्रणयनं कुर्यात् यजमान-सुखावहम् ॥६६॥ शुभं पात्रन्तु कांस्यं स्यात् तेनाग्निं प्रणयेद् बुधः। तस्याभावे शरावेण नवेनाभिमुखञ्च तम् ॥"६७। गृ०सं०१॥

अग्निसमाधानम् ॥ १४ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक्। (१) अन्त्या समिद्, (२) विवाहश्च, (३) विभागः, (४) परमेष्ठिनः ॥" गृ० सं० १। ७६ गोभिलीयानान्तु त्रयएव कालाः विभागकालस्तु गौतमीयानाम्।

मथित्वा ॥ १७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

अरणिद्वयमिति शेषः। अरणिद्वयलक्षणं त्वेवम्,—"अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः। तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीची चोर्ध्वगापि वा। अरणिस्तन्मयी प्रोक्ता, तन्मय्येवोत्तरारणिः" ॥ इत्यादि क०' प्र० १ "देवयोनिः स विज्ञेयस्तत्र मथ्यो हुताशनः।" गृ० सं० १।८०

उदिते, अनुदिते ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० १ ।

"रेखामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितम्। उदयं तं विजानीयात् होमं कुर्याद् विचक्षणः ॥" गृ० सं० १। ७५ "रात्रेः षोड़शमे भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते। अनुदयं विजानीयाद्धोमं तत्र प्रकल्पयेत् ॥" गृ० सं० १। ७३ समयाध्युषित-

कालेऽपि होमो मन्वादिभिरुपदिष्टः, परं न तत्कौथुमानाम्, गोभिलानुक्तेः । तत्काल-लक्षणं त्वेवम्,—"ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविबिम्बं न दृश्येत्त सम-याध्युषितं स्मृतम् ॥" गृ० सं० १ । ७४

यज्ञोपवीतम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० २ ।

'त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रय मधोवृतम् । त्रिवृतञ्चोपवीतं स्यात् तस्यैका ग्रन्थिरिष्यते ॥' क० प्र० १ "यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् ❀ ❀ ❀ ❀ । द्विगुणं त्रिगुणं वापि एकग्रन्थिकृतं विदुः ॥"गृ० सं० ११४८—५१ ॥

जुहुयात्, कृतस्य, अकृतस्य ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

"होमपात्र मनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः । पाणिरेवेतरस्मिंस्तु स्रुचा चात्र न हूयते ॥" क० प्र० १ "यवव्रीह्यकृतं ज्ञेयं तण्डुलादि कृताकृतम् । ओदनं तु कृतं विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥" गृ० सं० ११९३ ॥

चरुस्थाल्या, स्रुवेण ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० २ ।

"तिर्यगूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढ़ा नातिबृहन्मुखी । मृन्मय्यौदुम्बरी वापि चरु-स्थाली प्रशस्यते ॥" क० प्र० २ "खादिरो वाथ पार्णो वा द्विवितस्तिः स्रुवः स्मृतः । स्रुक् बाहुमात्रा विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः । स्रुवाग्रे घ्राणवत् खातं द्व्यङ्गुष्ठपरिमण्डलम् । जुह्वाः शराववत् खातं, स्रुचश्चार्द्धं षडङ्गुलम् ॥" क. प्र. १

अपराजितायां ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० २ ।

प्रक्रमणे तथोद्वाहे होमेष्विष्टकृते तथा । यस्यां दिशि विधिं प्राहुस्तामाहुरप-राजिताम् ॥" गृ० सं० २।७८ ॥

उपांशु ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

"शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयन् । किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्याद् पांशुश्चैव जपः स्मृतः ॥" म०

अतिथिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मा-दतिथिरुच्यते ॥" मनुः ३।१०२ ॥

फलीकरणानाम्, आचामस्य ॥ ३१ ॥ प्र० १ खं ४ ।

"कम्बुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणककुंशाः ॥" गृ० भा० "ओदनाग्रद्रवं प्राहुराचामं हि मनीषिणः ॥" गृ० भा० ॥

सन्ध्यां उपवसन् ॥ ३ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

"अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥" उपवासदिनकर्त्तव्यताकर्त्तव्यते स्वयमेवोक्ते "उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम् ॥" इति च स्मृत्यन्तरम् ।

पूर्णः ॥ १०, ११ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

"राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते" ।

स्थण्डिलं, इध्मान्, मेक्षणम्; औपवसथिकम् १३-१६ प्र० १ खं० ५

"वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थण्डिलचत्वरे ।" इत्यमरः । "प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम् ।" क० प्र० २ ॥

"इध्मः सन्नहनादानं चरुश्रपण मेव च । तूष्णी मेतानि कुर्वीत समस्तञ्चेध्म माददेत् ॥" गृ० सं० १ । १०२ "इध्मजातीय मिध्मार्द्धप्रमाणं मेक्षणं भवेत् । वृत्तञ्चाङ्गुष्ठपृथ्वग्र मवदानक्रियाक्षमम् ॥ एषैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्त महं ब्रुवे । दर्वी द्व्यङ्गुलपृथ्वग्रा तुरीयोनन्तु मेक्षणम्"—इति क० प्र० २ ॥

औपवसथिकं नाश्नाति—इत्यादि ॥१—९॥ प्र० १ । खं० ६ ।

उपवासदिननियमितखाद्यमौपवसथिकमित्यर्थः । तच्चोक्तं,—"लवणं मधुमांसञ्च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत नोरुरात्रौ कथञ्चन ॥" क० प्र० ३ अतएवाह स्मृतिः,—"गृह्यस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्नंस्तपश्चरेत् । प्राणाग्निहोत्र लोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः ॥"—इति, "अनड्वान् ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च ते त्रयः । अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥"—इति च ।

दर्भवटुम् ॥ २१ ॥ प्र० १ खं ६ ।

"ऊर्द्ध्वकेशोभवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः । दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा वामा-

वर्त्तस्तु विष्टरः ॥ कतिभिश्च कुशैर्ब्रह्मा ? कतिभि र्विष्टरः स्मृतः ! पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन च विष्टरः ॥" गृ० १ । ८८, ८९ "द्विरावृत्याथ मध्ये वै अर्द्धं वृत्त्यान्त देशतः । ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तः स ब्रह्मग्रन्थिसंज्ञकः ॥"–इति पु० "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्यांश्च स्तम्बे दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणोष्वपि ॥"–इति च क० प्र० ॥

उलूखलमुसले, शूर्पम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० ७

"मुसलोलूखले वार्क्षे स्वायते सुदृढे तथा । इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैणवमेव च ॥"–इति क० प्र० २

हविर्निर्वपति ॥ २ । ३ ॥ प्र० १ खं० ७

"चूडाकर्मणि सीमन्ते यश्च पाकः सदा गृहे । विवाहे चैव लाजानां नोक्तो निर्वपणे विधिः ॥" गृ० स० २ । ३९

अभिघार्योद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० ७

"पवित्रान्तर्हितं कृत्वा चरुं प्राज्ञोऽभिघारयेत् । उद्वास्य चैवं विधिना एवं तन्त्रं न लुप्यते । चतुर्मुष्टिश्चरूः कार्यश्चतुर्णामुत्तरोऽपि वा ॥" गृ० स० २।६९

परिधीन् ॥ १६ ॥ प्र० १ खं० ७

"बाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्वचोऽव्रणाः । त्रयो भवन्त्यशीर्णाग्रा एकेषस्तु चतुर्दिशम् । प्रागग्रावभितः पश्चादुदगग्र मथापरम् । न्यसेत् परिधि मन्यश्च उदगग्रः स पूर्वतः ॥" क० प्र० २

प्रणीता ॥ १७ । १८ ॥ प्र० १ खं० ७

"विहितप्रतिषिद्धाश्च प्रणीतां नोपकल्पयेत् ॥" गृ० स० १ । ९६

आज्यं, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥१९।२०प्र०१ खं०७

"अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरेव यत् पूतं तदा मितरद्घृतम् ॥ १०६ ॥ घृतं वा यदि वा तैलं, पयो वा यदि यावकम् । आज्यस्थाने नियुक्तानामाज्यशब्दो विधीयते ॥ १०७ ॥ आज्यानां सर्पिरादीनां संस्कारे विधिचोदिते । अनधिश्रयणं दध्नः शेषाणां श्रयणं स्मृतम् ॥ १०८ ॥ यथा सीमन्तिका

नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एव माज्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिनोदिते॥" १०९॥ इति गृ० स० १ ॥

पवित्रे ॥ २१-२३ ॥ प्र० १खं० ७

"अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदल मेव च । प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥" क० प्र० १

सम्पूय, उत्पुनाति ॥ २४ ॥ प्र० १ खं० ७

"पवित्र मन्तरे कृत्वा स्थाल्या माज्यं समावपेत् । एतत् सम्पूयनं नाम पश्चादुत्पवनं स्मृतम् ॥" गृ० सं० १ । १०६

आज्यम् ॥ २६ ॥ प्र० १ खं० ७

आज्यसहित माज्यपात्र माज्यस्थाली मिति यावत् । "आज्यस्थाली च कर्त्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा । महीमयी वा कर्त्तव्या सर्वास्वाज्यहुतीषु च ॥ आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकामं तु कारयेत् । सुदृढ़ा मत्रणां भद्रा माज्यस्थाली प्रचक्षते ॥" क० प्र० २

उपघातम् ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

"पाणिना मेक्षणेनाथ स्रुचेणैव तु यद्धविः । हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते ।" इति गृ० स० १ । १११

महाव्याहृतिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

"भूराद्यास्तिस्त्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः" । इति क० प्र० व्रीहयः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः । यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः ॥"—इति क० प्र० २।० ।

सुरोत्तमेन ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १

सुरा'—इति निघण्टौ उदकनामसु (१ अ० १२ खं०) पाठभेदेन पञ्चविंशतितमं पद मस्ति, तदेवात्र ग्राह्य मित्याधुनिकानाम् । परं तत्र तथा निगमनात् उदकार्थस्य सुराशब्दस्याभाव एवानेकेषा मतएवात्रः,—

"स्ववर्णाभिरनिन्द्याभिरद्भिरक्षतमिश्रितैः । स्नानं चतुर्भिः कलशैः स्त्रीभिः

स्त्रीं यत्र प्लावनम् ॥ १५ ॥ गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेयास्त्रिविधाः सुराः । पाणिकर्मणि गौडी स्यात् सत्या माध्व्यधमा सुराः ॥" १६ ॥ इति गृ० स० २ ।

प्राजनेन, ध्रुवणा सपां, लाजाम् ॥ १३-१६ ॥ प्र० २ खं० १

"अवसिक्तन्तु विधिना पाणिग्राहन्तु प्राजनं । रक्षणार्थं मनुगच्छेत् सप्ताहं द्वय मेव वा ॥" गृ०स०२।३५ "महानदीषु या आपः कौप्यान्याश्च ह्रदेषु च । सर्व वर्णरसैर्युक्ता ध्रुवास्ता इति निश्चयः ॥" गृ० स० २। २५ "अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते । भृष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटाः खाण्डिक उच्यते ॥" क०प्र०३

प्रपदेन ॥ ६ ॥ प्र० २ खं० २

"पादाग्रं प्रपदम्"—इत्यमरः २ । ६ । ७१ ॥

प्रदक्षिणमग्निं परिणयति ॥ ४-१२ ॥ प्र० २ खं० २

"लाजानाज्यं स्रुवं कुम्भं प्राजनाश्मान मेव च । प्रदक्षिणानि कुर्वीत दम्पती तु विना ग्रही ॥" गृ० स० २ । २९ 'ग्रही'—इति उदकग्राहप्राजनग्राहञ्च विनेत्यर्थः ।

अनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥ प्र० २ खं० ३

"स्पृशन्ननामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि । अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सर्वदैवानुमन्त्रयेत् —" इति क० प्र० ।

अर्घ्यम् ॥ २४ ॥ प्र० २ खं० ३

"षडर्घ्यार्हा भवन्ति"—इत्यादि वक्ष्यत्याचार्यः स्वय मेव (४।१०।२२)

हविष्यम् ॥ १७ ॥ १ प्र० २ खं० ३

"अयुक्त मम्ललवणैरपर्युषित मेव च । हविष्य मेतद्भ्राद्य मसुरैरप्यसंयुतम् ॥" -गृ० स० २ । ७६

नदीः ॥ २ ॥ प्र० २ खं० ४

"मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥ धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते । नैताद्नदी शब्दवहा गर्त्तास्ते परिकीर्तिताः ॥" क० प्र० १

स्रुवसम्पातम्, ह्रासयित्वा ॥ २-६ ॥ प्र० २ खं० ५

"हुत्वाज्यं परिशेषेण यद् द्रव्य मुपकल्पितम् । स्रुवेणैव तु तत् स्पृष्टं सम्पातं चैव तं विदुः ॥" गृ० स० १ । ११४ "उद्वर्तनं नखच्छेदो रोमच्छेदन मेव च । स्रंसनं मेखलायाश्च ह्रासनानि विदुर्बुधाः ॥" गृ० स० २ । ३८

न्यग्रोधशुङ्गा, व्रतवती, ब्रह्मबन्धूः ॥६-१२॥ प्र० २ खं० ६

"लताग्रपल्लवो बुध्नः शुङ्गेति परिकीर्त्यते । पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथा-श्रुतः ॥" क० प्र० ३

सलाटुग्रन्थम् ॥४॥ प्र० २ खं० ७

"शलाटु नील मित्युक्तं ग्रन्थः स्तवक उच्यते ।" क० प्र० ३ "आमे फले शलाटुः स्यात्"—इत्यमरः २ । ४ । ३५

दर्भपिञ्जूलीभिः, ॥५॥ प्र० २ खं० ७

"एतत्प्रमाणा मेवैके कौशी मेवार्द्रमञ्जरीम् । शुष्कां वा शीर्ण कुसुमां पिञ्जूलीं परिचक्षते ।"—क० प्र० १ 'एतत्प्रमाणां' प्रादेशप्रमाणा मिति यावत् ।

वीरतरेण, शलल्या ॥६,८॥ प्र० २ खं० ७

"त्रिभिःश्वेतैश्च शलली, प्रोक्तो वीरतरः शरः ।" गृ० स० १ । ९५ "श्वाविच्छलाका शलली तथा वीरतरः स्मृतः ।" क० प्र० ३

कृसरः ॥६॥ प्र० २ खं० ७

"तिलतण्डुलसम्पक्वः कृसरः सोऽभिधीयते ।" क० प्र० ३

कपुष्णिकां, कपुच्छलम् ॥१८, १९॥ प्र० २ खं० ९

"कपुष्णिकाभितः केशा मूर्द्ध्नि पश्चात् कपुच्छलम् ।" इति क० प्र० ३

यथागोत्रकुलकल्पम् ॥ २५ ॥ प्र० २ खं० ९

"दक्षिणकपर्दाः शिष्टा आत्रेयाश्चिकपर्दिनः । आङ्गिरसः पञ्चचूडा मुण्डा भृगोः शिखिनोऽन्ये ॥ गृ० सं० २ । ४०

उपनयेत् ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १०

"गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः । बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः ॥"-इति स्मृ०

ऐणेयरौरवाजानि॥९॥ मुञ्जकाशताम्बल्यः ॥१०॥प्र०२खं०१०

'अनूचो माणवको ज्ञेयः एणः कृष्णमृगः स्मृतः। रुरुर्गौरमृगः प्रोक्तः, ताम्बलः शण उच्यते ।" क० प्र० ३

स्नानम् ॥२०॥ प्र० ३ खं० १

जलक्रीडादिपूर्वकं मज्जनमेव स्नानमिहेष्यते । "न गात्रोत्सादनं कुर्यादनापदि कथञ्चन । जलक्रिया मलङ्कारं व्रती दण्ड इवाप्लवेत् ॥" क० प्र० ३

वरः ॥ ४५ ॥ प्र० ३ खं० २

"गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते । न ततोऽन्यद् वरं यस्माद् तस्माद् गौर्वर उच्यते ॥" इति क० प्र० ३

अक्षतधानाः ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ३

"अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ताः भृष्टा धाना भवन्ति ते ।" क० प्र०

पक्षिणीम् ॥ ११ ॥ प्र० ३ खं० ३

"द्वावन्हावेकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते ।" इति शु०

निर्घाते ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ३

"यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुताहतः । पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसम्भवः ॥" इति ज्यो०

शिष्टाचारः ॥ २९ ॥ प्र० ३ खं० ३

"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥" स्मृ०

अद्भुते ॥ ३० ॥ प्र० ३ खं० ३

"प्रकृतिविरुद्ध मद्भुत मापदः प्राक् प्रबोधाय देवाः सृजन्ति" इत्याथर्वणम्

अनाग्नका ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

"नग्निकां तु वदेत् कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत्। ऋतुमती त्वनग्निका, तां प्रयच्छेत्त्वनग्निकाम्। १७ अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी। अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका। १८ व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम्। पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्त्तितः। १९ तस्माद्व्यञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा। अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते॥" २० इति गृ० सं० २। मनुरपि—"देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः।"—९, ९५

विलयनम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६

"दध्यर्द्धमथितं सर्वं तद्धि विलयनं स्मृतम्।" इति गृ० भा० सप्तमखण्डे—

प्रक्रमे ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ७

"संसक्तपदविन्यासस्त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः। स्मार्त्ते कर्मणि सर्वत्र यागे त्वध्वर्युचोदितः॥" इति गृ० भा०

कपालम् ॥ ७ ॥ प्र० ३ खं० ७

"कपालं मृण्मयं पात्रं चक्रघटित मुच्यते। आसुरं चक्रघटितं दैवे पैत्रे च वर्जयेत्॥" इति गृ० सं० २। ७८ भा०

न्यञ्चौ पाणी ॥ १७ ॥ प्र० ३ खं० ७

"दक्षिणं वामतो बाह्य मात्माभिमुख मेव च। करं करस्य कुर्वीत करणे न्यञ्चकर्मणः॥" कं० प्र० २

स्थालीपाकवृतान्यत् ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ७

"स्थालीपाकावृतान्यत्तु यत्र संज्ञा निपात्यते। तत्राज्यभागौ हुत्वैनत मास्तोर्यावद्यति॥" गृ० सं० १। ११५

पृषातके पायसश्चरुः ॥ १ ॥ प्र० ३ खं० ८

"पयो यदाज्यसंयुक्तं तत् पृषातक मुच्यते। दध्येके। तदुपासाद्य कर्त्तव्यः पायसश्चरुः॥ क० प्र० ३

गोनामभिः ॥ ३ ॥ प्र० ३ खं० ८।

"काम्या प्रिया च हव्या च इडा रन्ता सरस्वती । मही विश्रुता चाघ्नया च गोनामानि विदुर्बुधाः ॥" इति गृ० स० २ । ६०

नवयज्ञे ॥ ८ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

"शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते । धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः ॥ आश्वयुज्यां तथा कृष्ट्यां वास्तुकर्मणि याज्ञिकाः । यज्ञार्थतत्त्ववेत्तारो होम मेवं प्रचक्षते ॥" क० प्र० ३

फलवतीम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६ ।

"सफला बदरीशाखा फलवत्यभिधीयते ।" क० प्र०

जातशिलासु ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ६ ।

"घना विकसिताशङ्काः स्मृता जातशिलास्तु ताः ।" क० प्र० ३

स्वस्तरम् ॥ १२ ॥ प्र० ३ खं० ६ ।

"स्वस्तरे सर्वं मासाद्य यथा यदुपयुज्यते । दैवपूर्वं ततः श्राद्धं सत्वरः शुचिरारभेत् ॥" क०प्र० २ "पारिभाषिक एव स्यात् कालो गोवाजियज्ञयोः । अन्यथा नुपदेशात्तु स्वस्तरारोहणस्य च गृ० स०

अपूपाम्, त्रैयम्बकप्रमाणान् ॥८, १०॥ प्र० ३ खं० १० ।

"त्रैयम्बकं करतल मपूपा मण्डकाः स्मृताः ॥" क० प्र० ३

उल्मुकेन ॥ १८ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

"अङ्गारोऽलात मुल्मुकम्"—इत्यमरः २, ९, ३० ।

स्रोतांꣳसि ॥ २५ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

"सप्त तावन्मूर्द्धन्यानि तथा स्तनचतुष्टयम् । नाभिः श्रोणिरपानञ्च गोः स्रोतांसि चतुर्द्दश ॥" क० प्र० ३

—o—

सर्वाङ्गेभ्यः ॥ १ ॥ प्र० ४ खं० १ ।

"हृज्जिह्वाक्रोडसक्थीनि यकृद्वृक्कौ गुदं स्तनाः । श्रोणिः स्कन्धसटा श्चेत्र पश्वङ्गानि प्रचक्षते ॥

एकादशाना मङ्गाना मवदानानि सङ्ख्यया । पार्श्वस्य वृक्कसक्थ्नोश्च द्वित्त्वादाहुश्चतुर्दश ॥' क० प्र० ३

वृषीम् ॥ १५ ॥ प्र० खं० २ ।

"वृषीं कुर्यादुदङ्मुखीम्" गृ० सं १ । ३८ काष्ठासनमित्यर्थः । शङ्कुश्चैवोपवेशश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते" गृ० स० १ । ८४ । 'वृष्यपरपर्याय उपवेशः इति नारायणोपाध्यायः ।

स्थगरम् ॥ १७–२० ॥ प्र० ४ खं० २ ।

"स्थगरं सुरभि ज्ञेयं चन्दनादि विलेपनम् ।" क० प्र० २ ।

पूर्वस्यां कर्ष्वाम् ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"पुरतो यात्मनः कर्षूः सा पूर्वा परिकीर्त्त्यते । मध्यमा दक्षिणेनास्यास्तद्दक्षिणात उत्तमा ॥ क० प्र० २ ।

एवमेवेतरयोः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"पितु रुत्तरकर्ष्वन्ते मध्यमे मध्यमस्य तु । दक्षिणे तत्पितुश्चैव पिण्डान् पर्वणि निर्वपेत् ॥' क० प्र० २ ।

पिण्डम् ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

पिण्डप्रमाणं त्वाह "पिण्डान् दत्वा विल्वप्रमाणकान् ।" क० प्र० १

वृद्धिपूर्त्तेषु । ३४ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

"वृद्धिः पुरुषसंस्कारः"—इत्येव भट्टभाष्यम् । "वापीकूपतडागादि देवतायातनानि च, अन्नप्रदान मारामाः पूर्त्त मित्यभिधीयते ॥" जातूकर्णः ।

गोलकानां ॥ २५ प्र० ४ खं० ४ ।

"पालाशा गोलकाश्चैव" क० प्र० ३ ।

परिसमूहेत् ॥ ५ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"कृत्वाग्न्यभिमुखौ पाणी स्वस्थानस्थौ सुसंयतौ । प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात परिसमूहनम्" क० प्र० २ ।

वैरूपाक्षः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"विरूपाक्षोऽसि–इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

प्रपदः ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"तपश्च तेजश्च"–इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

अविदासिनि ॥ २६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"मध्ये स्थण्डिल मन्ते च वारिणा परिसंवृतम् । अविदासिनं ह्रदं विद्यात्ता-दृशं कर्मणो विदुः ॥" इति गृ० स २–१२

उपतिष्ठेत ॥ २८ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"तदसंसक्तपार्ष्णिर्वा एकपादर्द्धपादपि । कुर्यात् कृताञ्जलिर्वापि ऊर्द्ध्वबाहु-रथापि वा ॥" भ० भा० ।

परिविष्यमाणे ॥ २९ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

"वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभाः व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु स स्मृतः ॥–इति भरत–धृत–साहसाङ्कः ।

आचितशतकामः ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे कुरुविस्तस्तु तत्पले । तुला स्त्रियां पलशतं भारः स्याद्व विंशतिस्तुलाः । आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः ॥" इति अमरकोशे २, ९, ८७ ॥

व्रीहिकांसौदनं, कणान् ॥ १२ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"द्रोणः स्यात् कांसमानकः" व्रीहीणां कासं व्रीहिकासम्, तस्य ओदनं भक्तं व्रीहिकांसौदनम् , तम् । "कन्तुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकक्कुशाः ।"गृ०भा०॥

अनुषरम्, अमरुपरिहितम् , अक्लिनम् ॥८॥प्र०४खं०७।

"उर्वरा सर्वसस्याढ्या स्यादूषः क्षारमृत्तिका । ऊपवानूपरो द्वावप्यन्यलिङ्गौ स्थलं स्थली॥"अ०को०२,१,५,"क्लिनं सजलं प्रोक्तं दूरखातोदको मरुः।" क०प्र०३

दर्भसम्मितम् ॥९॥ प्र० ४ खं० ७ ।

दर्भैः सम्मित माच्छन्नम् । अतएव गृह्यान्तरे,–"यस्मिन् कुशवीरणप्रभूतम्"

शादासम्मितं, मण्डलद्वीपसम्मितम्, सर्वतः ॥१०॥ प्र० ४ खं० ७ ।

"शादा चैवेष्टका स्मृता" (क०प्र०३) । तथा सम्मितं तुल्यं चतुरस्र मिति यावत् । मण्डलं वर्त्तुलम् । "द्वीप मुन्नत माख्यातम्" (क०प्र० ३) । तत्सम्मितं तत्तुल्य मिति । "दिशाञ्च विदिशाञ्चैव यत्र नोक्ता विचारणा । सर्वतस्तत्र शब्दोऽयं विधियोगे निपात्यते ॥" गृ० स० १।९६ ॥

इन्द्राय, पितृभ्यः ॥ २६–३३ ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

"अमुष्मै नम इत्येवं वलिदानं विधीयते । वलिदानप्रदानार्थं नमस्कारः कृतो यतः ॥"–इति, "स्वधाकारेण निनयेत् पित्र्यं बलि मतः सदा ।"—इति विशेषोपदेशात् "इन्द्राय नमः"–इत्यादि "पितृभ्यः स्वधा" इति च बोध्यम् ।

एकाक्षर्याम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ खं० ८ ।

'आकूतिं देवो मनसा प्रपद्ये (म० ब्रा० २,६,९)'– इत्येतस्मिन् मन्त्रे "एक मक्षरम्"—इति दर्शनादय मेव मन्त्र एकाक्षरीति भ्यपदिश्यतेऽत्र ।

खदिरशङ्कुशतम् ॥९॥ प्र० खं० ८ ।

"सत्वचः शङ्कवः कार्यास्तीक्ष्णाग्रा वीतकण्टकाः । समिल्लक्षणसंयुक्ताः सूचीतुल्यास्तथायताः॥" क० प्र० २ "शंकुश्चैवोपवेपश्चद्वादशाङ्गुल इष्यते" । गृ० सं १ । ८४

पूर्णहोमः ॥ २१ ॥ प्र० ४ खं० ८ ।

पूर्णहोमं यशसे जुहोमि (म० ब्रा० २,६,११ "–इति पूर्णशब्दान्वितमन्त्रेण होमः ।

चीवरम् प्र० ४ खं० ९ ।

"लौहचूर्णन्तु चीवरम्" क० प्र० ३

कम्बूकान् ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ९ ।

"फलीकरणकक्कुशान्"–इति भट्टभाष्यम् । कणान्–इत्येव तन्निष्कर्षार्थ इति मत्सुहृदः । तुषानित्येनास्मद्गुरुवचनम् । तदत्रार्थनिर्णये भूमिदेवाः प्रमाणम् ।

संवेशनवेलायाम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

"स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि ।" अ० को० १, ७, ३६

विष्टरम् ॥ ४ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"ब्रह्माविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते । ऊर्ध्वकेशो भवेद्ब्रह्मा लम्ब केशस्तु विष्टरः ॥ ८८ ॥ कतिभिस्तु भवेद्ब्रह्मा ? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ! पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः ॥" इति गृ० स० १ । ८९ ॥ 'यज्ञवास्तुनि मुष्टयाञ्च स्तम्बे दर्भवटौ तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ।" क० प्र० १

अपः=पाद्यम् ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

"पादार्थमुदकं पाद्यं केवलं जल मेव तत् । तत्तैजसेन पात्रेण शङ्खेनापि निवेदयेत् गृह्यान्तरम् ।

अर्घ्यम् ॥ ११ ॥ प्र० खं० १० ।

"दध्यक्षतसुमनस आपश्चेति चतुष्टयम् । अर्घ्य एप प्रदातव्यो गृह्ये ये अर्घ्यार्हाः स्मृताः ॥" गृ० २ । ६२ अष्टाङ्गमर्घ्यलक्षणञ्चैवम्,—"दध्यक्षतसुमनसो घटं सिद्धार्थका यवाः । पानीयञ्चैव दर्भाश्च अष्टाङ्गो ह्यर्घ्य उच्यते ॥" गृ० स० "कांस्येनैवार्हणीयस्य निनयेदर्घ्यं मञ्जलौ ।" क० प्र० ३

मधुपर्कम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ खं० १० ॥

"सर्पिषा मधुना दध्ना अर्चयेदर्हयन् सदा । ऋषिप्रोक्तेन विधिना मधुपर्केण याज्ञिकः ॥६४॥ कंसे त्रितय मासिच्य कंसेव परिसंवृतम् । परिश्रितेषु देयः स्यान् मधुपर्क इति ध्रुवम् ॥" ॥५॥ इति गृ०स०२। "साक्षतं सुमनोयुक्त मुदकं दधिसंयुतम् । अर्घ्यं दधिमधुभ्याञ्च मधुपर्को विधीयते । कांस्यापिधानं कांस्यस्थं मधुपर्कं समर्पयेत् । क० प्र० ३ "दधनि पयसि वाथवा कृतान्ने मधुदधान्मधुपर्कमेतदाहुः । दधिमधुसलिलेषु सक्तवः पृथगेते विहितास्त्रयस्तु मन्थाः' इतिगृ० स० २।६८

शेषम् ॥ १६ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

पीतावशिष्टम् । नास्योच्छिष्टता, तथाहि—"मधुपर्के तथा सोमे अप्सु प्राणा

हुतीषु च । अनुच्छिष्टो भवेद्व विप्रो यथा वेदविदो विदुः ॥ ६६ ॥ प्राणाहुतिषु सोमेषु मधुपर्के तथैव च । आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥ ६७ ॥—इति गृ० स० २।

आचार्यः, ऋत्विक् ॥ २३ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

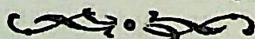
"उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद्व द्विजः । सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥" स० म० २ । १४० "अग्न्याधानं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् । यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥" म० स० २ । १४३

अग्निनामानि (गृ० सं० १ प्र०)

"लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्त्तितः । अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ॥ २ ॥ पुंसवने चान्द्रमसः शुङ्गाकर्म्मणि शोभनः । सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रागल्भो जातकर्म्मणि ॥ ३ ॥ नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा । सभ्यनामाऽथ चूडे तु व्रतादेशे समुद्भवः ॥ ४ ॥ गोदाने सूर्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते । वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः ॥ ५ ॥ चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे । आवसथ्ये भवो ज्ञेयो अग्निहोत्रे तु पावकः ॥ ६ ॥ ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा । विष्णु गार्हवनीये तु अग्निहोत्रे त्रयोऽग्नयः ॥७॥ लक्षहोमे तु वन्हिः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः । प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥ ८ ॥ देवानां हव्यवाहस्तु पितॄणां कव्यवाहनः । पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥९॥ पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधोऽग्निश्चाभिचारके । वश्यार्थे कामदो नाम वनदाहे तु दूतकः ॥ १० ॥ कोष्टे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे । समुद्रे वाडवो ज्ञेयः क्षये संवर्त्तको भवेत् ॥११॥ एतेऽग्नयः समाख्याताः श्रावयेद्व ब्राह्मणः सदा । सप्तत्रिंशतिविख्याता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु ॥

इति टीकापरिशिष्टम् समाप्तम् ॥

श्रीसामगाचार्यसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्यविरचितया । 'व्याख्यान'—नामकया तत्परिशिष्टेन च समन्वितं ठाकुरोपनामक उदयनारायणसिंह कृत भाषानुवादेन च मण्डितं । गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥







वैदिक - संहिता

१. **ऋग्वेद संहिता** । मूलमात्र (गुटका) ....
२. **ऋग्वेद संहिता** । मूलमात्र । सजिल्द ३००-०० । पत्राकार (पोथी) ..
३. **ऋग्वेद संहिता** । भाषामात्र । रामगोविन्द त्रिवेदी ....
४. **ऋग्वेद संहिता** । सायणाचार्य कृत भाष्य एव हिन्दी व्याख्या सहित । १-८ भाग सर्म्पूण ....
५. **ऋग्वेद संहिता** । (प्रथम अध्याय, सूक्त १-१९) हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद । सम्पादक-प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ....
६. **शुक्लयजुर्वेद संहिता** । मूलमात्र (गुटका) ....
७. **शुक्लयजुर्वेद संहिता** । सम्पा० श्री [illegible] गौड़ ....
८. **शुक्लयजुर्वेद संहिता** । मूलमात्र । ([illegible]सागर संस्करण) पत्राकार १५०-०० सजिल्द ....
९. **शुक्लयजुर्वेद संहिता** । पदपाठ- उव्वट- महीधरभाष्य संवलित 'तत्त्वबोधिनी' हिन्दी व्याख्या सहित । डॉ० रामकृष्ण शास्त्री ....
१०. **सामवेद संहिता** । मूलमात्र (गुटका) ....
११. **सामवेद संहिता** । सायणभाष्य तथा पं० रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित । ....
१२. **अथर्ववेद संहिता** । मूलमात्र (गुटका) ....
१३. **अथर्ववेद संहिता** । सायणभाष्य तथा पं० रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित । १-८ भाग ....